प्रकाशक
विनोद पुस्तक मन्दिर
[illegible]
[illegible]



प्रथम संस्करण १९७४
मूल्य : ४·५०

कम्पोजिंग : शर्मा कम्पोजिंग हाउस, आगरा
मुद्रण : कैलाश प्रिंटिंग प्रेस, आगरा
[१५/१/७४]

समर्पण

संस्कृत एवं हिन्दी के मर्मज्ञ

पूज्य गुरुवर

प्रोफेसर बाबूराम जी गुप्त

के

कर-कमलों

में

## अपनी बात

वेद अनन्त ज्ञान राशि के अक्षय भण्डार हैं। वैदिक ज्ञान ज्योति से आज विश्व का मानव मात्र ज्योतिष्मान हो रहा है। इस वैदिक साहित्य का अपना अभूतपूर्व गौरव है, अपनी पृथक् परम्परायें एव मान्यतायें हैं, जो कि आज भी भारतीय संस्कृति को अनुप्राणित कर रही है। इस वैदिक साहित्य ने ऐहिकामुष्मिक सभी प्रकार के विकास मे अपना योगदान देकर अपनी गौरव गरिमा से भारतीयों को सदा ही अभिभूत किया है। परिणामस्वरूप शिक्षा-शास्त्रियो ने विभिन्न विश्वविद्यालयो मे वैदिक साहित्य को अध्ययनाध्यापन के लिए नियत किया है। आज विभिन्न विश्वविद्यालयो मे उसका अध्ययनाध्यापन हो रहा है। किन्तु एक ओर जहाँ वैदिक साहित्य एव संस्कृति का अध्ययनाध्यापन एव उससे परिचय प्राप्त करना आवश्यक है, वहाँ इस विस्तृत साहित्य का सक्षेप मे परिचयात्मक स्वरूप प्रस्तुत करने वाली पुस्तक का अभाव है। जो ग्रन्थ रत्न हैं, वे या तो अग्रेजी भाषा मे हैं अथवा संस्कृत भाषा मे हैं। हिन्दी मे भी प्राप्त वैदिक साहित्य के इतिहास अपना साहित्यिक महत्त्व रखते हैं। अभी तक विद्यार्थी समाज मे एक ऐसी पुस्तक का अभाव था जो कि परीक्षार्थियो को परीक्षा वैतरणी से समय एव श्रम को बचाते हुए पार करा सके। इस अभाव का अनुभव मैं कई वर्षों से कर रहा था, फलत प्रस्तुत पुस्तक उसी अभाव की पूर्ति का प्रयास है।

इस स्वल्पाकार वैदिक साहित्य के इतिहास को लिखते समय आद्यन्त लेखक का यही प्रयास रहा है कि मौलिकता के न होते हुए भी यह पुस्तक विद्यार्थी समाज के लिए उपादेय सिद्ध हो। इसलिए विभिन्न स्थलो से सामग्री चुन-चुन कर आगरा विश्वविद्यालय की एम० ए० संस्कृत परीक्षा मे आये हुए प्रश्नो के उत्तर के रूप मे प्रस्तुत विद्यार्थियों के हाथो मे दी जा रही है। साथ ही अन्तिम अध्याय मे संस्कृति-सम्बन्धी, शिक्षा-विषयक प्रश्नो को संयुक्त कर पुस्तक को अधिक उपयोगी बनाने का प्रयास किया गया है।

## अपनी बात

वेद अनन्त ज्ञान राशि के अक्षय भण्डार हैं। वैदिक ज्ञान ज्योति से आज विश्व का मानव मात्र ज्योतिष्मान हो रहा है। इस वैदिक साहित्य का अपना अभूतपूर्व गौरव है, अपनी पृथक् परम्परायें एवं मान्यतायें हैं, जो कि आज भी भारतीय संस्कृति को अनुप्राणित कर रही है। इस वैदिक साहित्य ने ऐहिकामुष्मिक सभी प्रकार के विकास में अपना योगदान देकर अपनी गौरव गरिमा से भारतीयों को सदा ही अभिभूत किया है। परिणामस्वरूप शिक्षा-शास्त्रियों ने विभिन्न विश्वविद्यालयों में वैदिक साहित्य को अध्ययनाध्यापन के लिए नियत किया है। आज विभिन्न विश्वविद्यालयों में उसका अध्ययनाध्यापन हो रहा है। किन्तु एक ओर जहाँ वैदिक साहित्य एवं संस्कृति का अध्ययनाध्यापन एवं उससे परिचय प्राप्त करना आवश्यक है, वहाँ इस विस्तृत साहित्य का संक्षेप में परिचयात्मक स्वरूप प्रस्तुत करने वाली पुस्तक का अभाव है। जो ग्रन्थ रत्न हैं, वे या तो अंग्रेजी भाषा में हैं अथवा संस्कृत भाषा में हैं। हिन्दी में भी प्राप्त वैदिक साहित्य के इतिहास अपना साहित्यिक महत्त्व रखते हैं। अभी तक विद्यार्थी समाज में एक ऐसी पुस्तक का अभाव था जो कि परीक्षार्थियों को परीक्षा वैतरणी से समय एवं श्रम को बचाते हुए पार करा सके। इस अभाव का अनुभव मैं कई वर्षों से कर रहा था; फलतः प्रस्तुत पुस्तक उसी अभाव की पूर्ति का प्रयास है।

दशम अध्याय

## वैदिक संस्कृति, सभ्यता एवं समाज

३३—वैदिक संस्कृति के मूलतत्त्वों की समीक्षा कीजिए।

३४—ऋग्वेद कालीन भारत की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक ए धार्मिक स्थिति तथा नैतिक आदर्शों का स्पष्ट विवेचन कीजिए

३५—वैदिक संस्कृति में नैतिक मूल्यों पर अपने विचार व्यक्त कीजिए

३६—वैदिक समाज में नारी का स्वरूप, स्थान एवं महत्त्व स्पष्ट कीजिए।

३७—वैदिक संस्कृति के शिक्षा के आदर्श पर विचार लिखिए।

३८—वैदिक शिक्षा पद्धति के गुण-दोषों का विवेचन कीजिए।

९—वेदों के रचनाकाल के निश्चित करने मे विभिन्न विद्वानों ने जो प्रयास किया है, उसका विवेचन लिखिए। साथ ही अपना भी अभिमत लिखिये।

१०—ऋग्वेद के काव्यसौन्दर्य का सक्षेप मे निरूपण कीजिए।

११—ऋग्वेद दार्शनिक भावना का निरूपण करते हुए अन्य वेदों मे प्राप्त दार्शनिक तत्त्वों का संकेत कीजिए।

तृतीय अध्याय

## यजुर्वेद

१२—यजुर्वेद की विभिन्न सहिताओं का निर्देश करते हुए उनके वर्ण्य-विषय की सर्वांगीण समीक्षा कीजिए।

१३—शुक्ल एवं कृष्ण यजुर्वेद के पारस्परिक अन्तर को स्पष्ट कीजिए।

१४—वैदिक कर्म-काण्डीय सहिता की विषय-सामग्री का निरूपण कीजिए।

चतुर्थ अध्याय

## अथर्ववेद

१५—अथर्ववेद के रचना-क्रम एवं वर्ण्य-विषय का सर्वांगीण विवेचन कीजिए।

१६—अथर्ववेद का रचना-काल बतलाइये।

१७—अथर्ववेद के वर्ण्य-विषय का उल्लेख करते हुए उसकी ऋग्वेद से तुलना कीजिए।

पंचम अध्याय

## सामवेद

१८—सामवेद के वर्ण्य-विषय एवं रचना-क्रम का पूर्ण विवेचन कीजिए।

षष्ठ अध्याय

## सामान्य प्रश्न

१९—वैदिक एवं लौकिक संस्कृत साहित्य का तुलनात्मक कीजिए।

२०—वैदिक सम्कृति एव लौकिक संस्कृति के अन्तर को स्पष्ट कीजिए। १४६
२१—वैदिक साहित्य मे प्राप्त शाखा शब्द का अर्थ स्पष्ट कीजिए तथा प्राप्त विभिन्न वेदो की शाखाओ का निरूपण कीजिए। १५०
२२—निम्नलिखित वेद भाष्यकारो के कार्य का मूल्याकन कीजिए—यास्क, सायण, दयानन्द और रॉथ। १५६

सप्तम अध्याय

## ब्राह्मण-साहित्य

२३—ब्राह्मण साहित्य मे ब्राह्मण ग्रन्थो का स्थान, महत्त्व तथा उनका रचना-काल बतलाइए। १६५
२४—वैदिक साहित्य मे शतपथ ब्राह्मण का क्या महत्त्व है? स्पष्ट कीजिए। १७३
२५—सक्षेप मे ब्राह्मण साहित्य मे प्राप्त प्रमुख उपाख्यानो की विशेषताओ का विवेचन कीजिए। १७६
२६—सहिता एव ब्राह्मणो के विषय पार्थक्य को स्पष्ट कीजिए। १८१

अष्टम अध्याय

## आरण्यक एवं उपनिषद्

२७—आरण्यक साहित्य का सामान्य परिचय दीजिए। १८४
२८—उपनिषद् शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए उपनिषद साहित्य के मौलिक सिद्धान्तो का उल्लेख कीजिए। १८६
२९—उपनिषद् साहित्य की विषय-सामग्री का निरूपण कीजिए। २०१
३०—उपनिषद् साहित्य के उद्भव एवं विकास का परिचय दीजिए। २०१

नवम अध्याय

## सूत्रकाल

मे प्राप्त समग्र सूत्र साहित्य का परिचय प्रस्तुत
कि वैदिक साहित्य के अध्ययन में
२१३
२२०

### दशम अध्याय

## वैदिक संस्कृति, सभ्यता एवं समाज

३३—वैदिक संस्कृति के मूलतत्त्वों की समीक्षा कीजिए।

३४—ऋग्वेद कालीन भारत की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं धार्मिक स्थिति तथा नैतिक आदर्शों का स्पष्ट विवेचन कीजिए।

३५—वैदिक संस्कृति में नैतिक मूल्यों पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

३६—वैदिक समाज में नारी का स्वरूप, स्थान एवं महत्त्व स्पष्ट कीजिए।

३७—वैदिक संस्कृति के शिक्षा के आदर्श पर विचार लिखिए।

३८—वैदिक शिक्षा पद्धति के गुण-दोषों का विवेचन कीजिए।

## प्रथम अध्याय

# वैदिक साहित्य का परिचय

**प्रश्न—वैदिक साहित्य का संक्षिप्त किन्तु सर्वाङ्गपूर्ण वर्णन कीजिए।**

**Make a brief but comprehensive survey of the Vedic Literature, i. e the Samhitas, Brahmans, Aranyokas, Upanisadas, Kalpasutras and Miscellaneous works covered under different schools of the vedas.** —आ० वि० वि० ५३, ६२

**Or**

**What is the meaning of the term Veda ? Give a brief idea of the literature covered by that term.** —आ० वि० वि० ५८

**Or**

**Describe the extent of the literature covered by the term Veda.** —आ० वि० वि० ५६

**Or**

**Describe briefly the main divisions of Vedic Literature.**

—आ० वि० वि० ६५

उत्तर—प्राचीनतम भारोपीय साहित्य का एक अंश संगीतमय कविता के रमणीय कलेवर में भावपूर्ण अर्थसौष्ठव, परिष्कृत भाषा तथा छन्द की श्रुति-मधुर ध्वनि से विश्व को गौरव-गरिमा प्रदान कर आध्यात्मिक ज्ञान की सुधा-धारा प्रवाहित कर रहा है। भारतीय आध्यात्मिक जीवन एवं उसके सांस्कृतिक समुत्कर्ष के अध्ययन के लिए भी वैदिक साहित्य कोश-ग्रन्थ

प्रमाणित हो चुका है। भारतीयों के अन्तरतम का परिपूर्ण ज्ञान करने के लिए सहस्राब्दियों से प्रचलित इस साहित्य का जब तक रसास्वादन नही कर लिया जाता, तब तक वह ज्ञान अपूर्ण ही रहता है। वेद भारतीय परम्परा मे प्राचीनतम और सर्वाधिक पवित्र माने जाने वाले ग्रन्थ है। मनुस्मृतिकार ने तो बहुत ही स्पष्ट शब्दो मे कह दिया है कि—

"धर्मं जिज्ञास्यमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः।"

धर्म-विषयक जिज्ञासा के समाधान के लिए श्रुति ही प्रमाण है।

"वेदोऽखिलो धर्म मूलम्" "सर्वज्ञानमयो हि सः"

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वाराश्चाश्रमाः पृथक्।

भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिद्धयति॥

वेद धर्म का मूल है और समस्त ज्ञान से युक्त है। चारों वर्ण, तीनों लोक, चारों आश्रम, भूत, वर्तमान और भविष्य इन सबका परिज्ञान वेद से होता है। ऊपर के उद्धरणों से भारतीय जीवन मे वेदो की महनीय महत्ता का स्वत. आभास मिल जाता है।

वेद शब्द 'विद्' धातु से बना है, लैटिन भाषा मे विद् धातु को Videre धातु कहा जाता है। इसी लैटिन धातु से अंग्रेजी का Idea शब्द निकला है। वैसे वेद शब्द के अर्थ बोध के लिए अंग्रेजी का Vision शब्द अधिक समीचीन है जिसका अर्थ है 'दर्शन'। क्योंकि भारतीय परम्परा उन ऋषियो, महर्षियो को मन्त्रद्रष्टा ऋषि कहती हैं, जिन्होने वेद मन्त्रों का मनन किया है। ऋग्वेद के एक मन्त्र[1] मे ऐसा भाव मिलता भी है "ऋषियो ने अपने अन्त.करण मे जो वाक् (वेदवाणी) प्राप्त की, उसे उन्होंने समस्त मानवो को पढ़ाया।" यास्क ने भी निरुक्त मे लिखा है "मन्त्रा मननात्, छन्दां सि छादनात् तथा ऋषि दर्शनात् स्तोमान ददर्श' अर्थात् ऋषियों ने मन्त्रो को देखा किन्तु आज प्रचार-लब्ध वेद शब्द का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ 'ज्ञान' है। विन्टरनिट्ज ने भी अपना आशय इसी अर्थ मे व्यक्त किया है जहाँ वे The Knowledge Par excellence" तथा "The sacred the religious knowledge लिखते हैं।"

यदि हम वेद तथा वैदिक साहित्य शब्द का सूक्ष्म विवेचनात्मक अध्ययन करें, उस स्थिति में जब हम वेद शब्द का अर्थ ज्ञान करते है जैसा कि आज

1. ऋग्वेद १०।७१।३

सर्वसम्मत विचार है कि वेद और विद्या दोनों ही समान धातु से निष्पन्न शब्द प्रतीत होते हैं इसलिए स्पष्ट विद्या और वेद शब्द समानार्थक[1] ही हैं। इस दृष्टि से वेद शब्द का समानार्थक प्रयोग आयुर्वेद धनुर्वेद आदि शब्दों में प्राचीन काल से चला आ रहा है। इस प्रकार आश्वलायन श्रौतसूत्र में अनेक विद्याओं के साथ वेद शब्द का प्रयोग किया गया है और जब वेद शब्द का प्रयोग विशिष्ट पारिभाषिक अर्थ में होता है—

"मन्त्र ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् ।"

परिभाषा के अनुसार मन्त्र भाग और ब्राह्मण भाग दोनों के लिए वेद शब्द चिरकाल से प्रयोग होता चला आ रहा है और यदि हम संकुचित दृष्टि से इस शब्द पर विचार करें तो वेद के मन्त्र भाग या संहिता भाग को ही वेद कह सकते हैं जो कि मौलिक दृष्टि से अधिक संगत है। किन्तु श्री क्षेत्रेशचन्द्र जी लिखते हैं—

हमारे प्राचीन आचार्य 'वेद' पद से मन्त्र और ब्राह्मण को लेते हैं, आपस्तम्बयज्ञ परिभाषा सूत्र— "मन्त्र ब्राह्मणयोर्नामधेयम्" महामुनि जैमिनी का भी यही मत है—'तच्चोदकेषुमन्त्राख्या' इस सूत्र में पूर्व मीमांसा सूत्र २।१।३२ मन्त्र का लक्षण देकर आपने लिखा है कि वेद का अवशिष्ट अंश ब्राह्मण है— "शेषे ब्राह्मण शब्दः"। ब्राह्मण प्रधानतया मन्त्रों का व्याख्यान है। ब्राह्मण वैसा ही वेद है जैसा कि मन्त्र। वेद की कुछ शाखाओं में मन्त्रांश और ब्राह्मणांश भिन्न ग्रन्थों में पाये जाते हैं, यथा-शुक्ल यजुर्वेद के मन्त्र हैं—वाजसनेयी संहिता में और उनके मन्त्रों के ब्राह्मण हैं शतपथ-ब्राह्मण में। परन्तु कृष्ण यजुर्वेद में मन्त्र और ब्राह्मण एक ही साथ पाये जाते हैं, यथा—काठक-संहिता, मैत्रायणी संहिता, तैत्तिरीय संहिता, ब्राह्मणों में और दो प्रकार के ग्रन्थ पाए जाते हैं—आरण्यक और उपनिषद्। श्रुति या वेद की अवधि उपनिषद् तक है।

जहाँ तक हमारा अपना विचार है, हम यही लिखेंगे कि वस्तुत वेद शब्द का वास्तविक अभिप्राय मात्र संहिता भाग से है क्योंकि ब्राह्मण आरण्यक उपनिषद् भाग उसकी व्याख्या व भाष्य ही है। इस परवर्ती साहित्य को हम सम्पूर्ण वैदिक साहित्य इस शब्द के अन्तर्गत तो अवश्य ही समाहित कर

---

मंगलदेव : भारतीय संस्कृति का विकास।

सकते हैं किन्तु वेद शब्द से इस सम्पूर्ण वाङ्मय को ग्रहण करना समीचीन नहीं है।

समस्त वैदिक साहित्य को विन्टरनिटज ने तीन भागों में विभक्त किया है—

(१) संहिता—जो कि मन्त्र, प्रार्थना, स्तवन, आशीर्वाद, यज्ञ विषयक मन्त्रों के संग्रहात्मक सूक्त। दूसरे शब्दों में, मन्त्रों के समुदाय का नाम ही संहिता है।

(२) ब्राह्मण—Theological matters यज्ञ सम्बन्धी विधान रीतियाँ एवं यज्ञोत्सव विषयक समस्त वैदिक ज्ञान के संग्रहात्मक ग्रन्थ ब्राह्मण हैं। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि ब्राह्मण-ग्रन्थों में एक प्रकार से संहिताओं के संगृहीत मन्त्रों की विस्तृत व्याख्या की गई है, किन्तु प्राधान्येय ब्राह्मण-ग्रन्थों का लक्ष्य यज्ञ का विस्तारपूर्वक वर्णन करना ही है।

(३) आरण्यक (Forest Text) तथा उपनिषद् (Sacred Doctrines)—आरण्यक तथा उपनिषद् दोनों ही ब्राह्मण-ग्रन्थों के निकटवर्ती हैं तथा इन्हें भी हम संहिताओं की व्याख्या के रूप में स्वीकार कर सकते हैं किन्तु इस साहित्य का ब्राह्मण साहित्य के साथ मौलिक अन्तर भी है। आरण्यक साहित्य में यज्ञों के आध्यात्मिक रूप का वर्णन है तो उपनिषद् प्राचीनतम दार्शनिक विवेचन। आरण्यक साहित्य जन-समाज से दूर वनों में पढ़े जाने के कारण ही आरण्यक कहलाते हैं और ब्राह्मण साहित्य यज्ञकर्त्ता गृहस्थों के लिए है तथा आरण्यक वानप्रस्थियों के लिए।

श्री क्षेत्रेशचन्द्र जी ने वेद का एक विभाजन और किया है। वे लिखते हैं कि दूसरी दृष्टि से वेद के दो विभाग हैं—कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। ज्ञान-काण्ड से प्रधानतया उपनिषदों को और कर्मकाण्ड से वेद का अवशिष्ट अंश समझना चाहिए। उपनिषदों का एक और नाम है, वेदान्त अर्थात् चरम ज्ञान। कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड में यद्यपि उद्देश्य का भेद है, तथापि परामर्श में भेद नहीं है।

श्रवण कर गुरु परम्परा से अधीन होने के कारण मन्त्र ही श्रुति है। इन्हीं को मन्त्र भी कहते हैं। मन्त्रों का समुच्चय ही सूक्त है तथा सूक्तों का समुच्चय संहिता है। संहिताएँ चार हैं—

सम्बन्ध है—As a matter of fact they originated in certain Vedic schools which set themselves the task of the study of a certain Veda.[१] परन्तु ये सूत्र ग्रन्थ मनुष्यकृत हैं। वस्तुत. ये वेदाङ्गो से सम्बन्धित हैं।

भारतीय सस्कृति के विकास मे अपनी प्राचीनता तथा व्यापक प्रभाव के कारण वैदिक साहित्यक का निर्विवाद रूप से अत्यधिक महत्व है, न केवल अपने सुसगठित, सुरक्षित, विस्तृत वाङ्मय की प्राचीनता के कारण, न केवल अपने वाङ्मय के अत्यन्त व्यापक प्रभाव के कारण अपितु भारत के, भारत के ही नही, वैदिक भारत के धार्मिक, सामाजिक तथा सास्कृतिक जीवन मे अपने शाश्वतिक प्रभाव के कारण भी भारतीय साहित्य मे वैदिक साहित्य का अपना प्रमुख स्थान है। वैदिक साहित्य की महत्ता के सम्बन्ध मे विन्टरनिट्ज के निम्न उद्गार महत्त्वपूर्ण एव यथार्थ हैं—

"जो मनुष्य वैदिक साहित्य के समझने मे असमर्थ रहता है, वह भारतीय सस्कृति को नही जान सकता। इतना ही नही, वैदिक साहित्य से अनभिज्ञ व्यक्ति बौद्ध साहित्य के रहस्य को भी समझने मे असमर्थ रहता है क्योंकि बौद्ध साहित्य वैदिक साहित्य का ही नवीन विकास या नव्य रूप है।" आगे वह फिर लिखता है—"यदि हम अपनी ही सस्कृति के प्रारम्भिक दिनो की अवस्था को जानने के इच्छुक हैं, यदि हम सबसे पुरानी भारोपीय सस्कृति को समझना चाहते हैं तो हमे भारत की शरण लेनी होगी जहाँ एक भारोपीय जाति का सबसे पुराना साहित्य सुरक्षित है—If we wish to learn, to understand the beginings of our own culture, if we wish to undersrand. The Oldest Indo-European Culture, we must go to India, where the oldest literature of an Indo-European people is preserved."

विषय-वस्तु के विभाजन के आधार पर वेद चार हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, और अथर्ववेद। इन चारों ही वेदों में ऋत्विजो के आधार पर मन्त्रों का संकलन किया गया है। यज्ञ कार्य के सम्पादन के लिये ऋत्विजों की आवश्यकता होती है। ऋत्विज् चार होते हैं—(१) होता, (२) अध्वर्यु, (३) उद्गाता, (४) ब्रह्मा। यज्ञ के अवसर पर देवता-विशेष की प्रशंसा में मन्त्रों का स्तुति उच्चारण करते हुए देवता का आह्वान करने वाला होता नामक

१. विन्टरनिट्ज।

ऋत्विज् होता है। होता के कार्य के लिए अभीष्ट मन्त्रों का सकलन ऋग्वेद है। प्राचीनतम ऋचाओं के इस वेद के दस मण्डलों में १०२८ सूक्त एवं लगभग १०४७२ ऋचायें सगृहीत हैं। इस ऋग्वेद की पाठ-भेद के आधार पर अनेक शाखाओं का उल्लेख मिलता है किन्तु प्रधानतः पाँच शाखाओं का निर्देश मिलता है। आजकल जो ऋग्वेद सहिता प्रचलित है, उसका सम्बन्ध शाकल शाखा से है। अन्य शाखाओं में वाष्कल, आश्वलायन, शाङ्खायन और माण्डूकायन हैं। सिद्धान्ततः यह माना जाता है कि जिस वेद की जितनी शाखाएँ होंगी, उसके उतने ही ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् भी होंगे, किन्तु आजकल ऋग्वेद सहिता के केवल दो ब्राह्मण, दो आरण्यक तथा दो उपनिषद् ही मिलते हैं, जो इस प्रकार हैं—

१—ऐतरेय ब्राह्मण तथा कौषीतकी ब्राह्मण,

२—ऐतरेय आरण्यक तथा कौषीतकी आरण्यक,

३—ऐतरेय उपनिषद् तथा कौषीतकी उपनिषद्।

इनके अतिरिक्त ऋग्वेद से सम्बद्ध एक आश्वलायन श्रौत सूत्र भी मिलता है।

यजुर्वेद सहिता उन गद्य वाक्यों का समूह है जो अध्वर्यु नामक ऋत्विज् के उपयोग में आते हैं, अध्वर्यु का कार्य है, यज्ञों का विधिवत् सम्पादन करना। अतः यह यजुर्वेद मुख्यतः यज्ञानुष्ठानों से ही सम्बन्धित है। कभी-कभी इस वेद को, कर्मकाण्डीय वेद भी इसीलिए कह दिया जाता है। इस वेद के दो भेद मिलते हैं जो कृष्ण यजुर्वेद तथा शुक्ल यजुर्वेद कहलाते हैं। इस वेद के सम्बन्ध के अनेक मत हैं जिनका उल्लेख हम यथावसर करेंगे। शुक्ल यजुर्वेद की दो शाखायें मिलती हैं—(१) माध्यन्दिन तथा (२) काण्व। माध्यन्दिन शाखा का उत्तरी भारत में अधिक प्रचार है तथा काण्व शाखा का दक्षिण में। इस सहिता से सम्बद्ध एक ब्राह्मण ग्रन्थ शतपथब्राह्मण है तथा सम्बद्ध आरण्यक का नाम बृहदारण्यक है तथा उपनिषदों के नाम ईशोपनिषद् तथा बृहदारण्यकोपनिषद् हैं। कृष्ण यजुर्वेद की चार सहितायें या शाखायें उपलब्ध हैं जिनके नाम क्रमशः (१) तैत्तिरीय, (२) मैत्रायणी, (३) काठक, तथा (४) कठ कपिष्ठल हैं। कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध ब्राह्मण का नाम तैत्तिरीय ब्राह्मण तथा आरण्यक का नाम तैत्तिरीय आरण्यक है। कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध तीन उप- [illegible] त्तरीयोपनिषद्, मैत्रायणी, उपनिषद् तथा कठोपनिषद्। इस सहिता [illegible] भी मिलते हैं, जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—

(१) आपस्तम्ब कल्पसूत्र, (२) बौधायन श्रौतसूत्र, (३) हिरण्यकेशी कल्पसूत्र, (४) भारद्वाज श्रौतसूत्र, (५) मानव श्रौतसूत्र, (६) मानव गृह्यसूत्र, (७) वाराह गृह्यसूत्र, (८) काठक गृह्यसूत्र।

सामवेद संहिता का संकलन उद्गाता नामक ऋत्विज् के लिए हुआ है। उद्गाता का कार्य है कि वह यज्ञो मे आवश्यक मन्त्रो को स्वर सहित उच्च गति से गान करें। उद्गाता शब्द का अर्थ ही है उच्च स्वर से अथवा तार स्वर से गाने वाला व्यक्ति। इस वेद में ऋचाओ का ही संकलन है और उन्ही ऋचाओ का जो कि गेय हैं। इस वेद की ऋचाओ की संख्या १,८७५ है और अधिकाश ऋग्वेद से उद्धृत की गई है। इस वेद की बहुत थोड़ी ऋचायें हैं जो मौलिक अथवा स्वयं अपने मे स्वतन्त्र हैं। सामवेद का विभाजन दो रूपों मे हुआ है (१) पूर्वाचिक और (२) उत्तराचिक। पूर्वाचिक को अग्नि, इन्द्र, सोम तथा अरण्य सम्बन्धी विषयवस्तु के आधार पर चार पर्वों मे विभक्त किया गया है जिनके नाम क्रमश: आग्नेय पर्व, ऐन्द्र पर्व, पवमान पर्व तथा आरण्यक पर्व हैं। उत्तराचिक मे दशरात्र, संवत्सर, सत्र, प्रायश्चित्त आदि यज्ञानुष्ठानों का विधान है। सामवेद की सहस्रो शाखाओ का उल्लेख होने पर भी आज केवल तीन शाखायें ही उपलब्ध हैं—(१) कौथुम, (२) राणायनीय, तथा (३) जैमिनीय। इन तीनों शाखाओ का प्रचार क्रमशः गुजराती ब्राह्मणो मे, महाराष्ट्रीय ब्राह्मणों मे तथा कर्नाटक प्रदेश मे है। सामवेद सम्बद्ध चार ब्राह्मण ग्रन्थ हैं— (१) जैमिनीय ब्राह्मण, (२) षड्विंश ब्राह्मण, (३) सामविधान ब्राह्मण, तथा (४) जैमिनीय ब्राह्मण। साथ ही इस वेद के दो आरण्यक तथा तीन उपनिषद् भी मिलते है—छान्दोग्य आरण्यक, जैमिनीय आरण्यक, छान्दोग्योपनिषद्, केनोपनिषद् तथा जैमिनीय उपनिषद्। साथ ही इस वेद से सम्बद्ध सात सूत्र-ग्रन्थ भी मिलते हैं जो कि संहिताओ से सम्बद्ध इस प्रकार हैं—

१—कौथुम संहिता—

(१) मशक कल्पसूत्र,
(२) लाट्यायन श्रौतसूत्र,
(२) गोभिल गृह्यसूत्र।

२—राणायनीय संहिता—

(४) द्राह्यायण श्रौतसूत्र
(५) खदिर गृह्यसूत्र,

३—जैमिनीय संहिता

(६) जैमिनीय श्रौतसूत्र,
(७) जैमिनीय गृह्यसूत्र।

## अथर्ववेद संहिता

अनुश्रुतियों के आधार पर अथर्ववेद की गणना पहले वेदों में नहीं की जाती थी। वेदत्रयी शब्द में समाहित होने वाले वेदों ऋक, यजु तथा साम की गणना होती थी। पुरुष सूक्त में भी ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद का उल्लेख मिलता है, किन्तु अथर्ववेद का नहीं। लेकिन परवर्ती साहित्य में अन्य तीन वेदों के साथ अथर्ववेद भी चतुर्थ वेद माना गया। अथर्ववेद में संगृहीत मन्त्र आयु वृद्धि, प्रायश्चित्त और पारिवारिक एकता के लिए हैं तथा दुष्ट प्रेतात्माओं-राक्षसों के निवारण तथा शाप के लिए हैं, कुछ मन्त्रों में मारण-मोहन उच्चाटन की क्रियाएँ भी निहित है। साथ ही कुछ मन्त्र आध्यात्मिक भावों से आपूर्ण हैं। ऋग्वेद के मन्त्रों की पुनरावृत्ति भी है। अथर्व की रचना यज्ञ विधान के लिए न होकर यज्ञ में उत्पन्न होने वाले विघ्नों के निवारण के लिए हुई है। इस वेद के मन्त्र यज्ञ संरक्षण ब्रह्मा नामक ऋत्विज् के लिए हैं। ब्रह्मा नामक ऋत्विज् का कार्य यज्ञ का निरीक्षण है। यज्ञानुष्ठान में होने वाली त्रुटि का वह समाधान करता है। त्रुटि होने पर तुरन्त मंगलकारी मन्त्रों का उच्चारण करके ब्रह्मा उस विघ्न का निवारण कर देता है। इस प्रकार के समस्त मन्त्रों का संग्रह स्वरूप यह अथर्ववेद है। इस वेद में २० काण्ड हैं जो ३४ प्रपाठक, १११ अनुवाक, ७३१ सूक्तों में विभक्त है। इस वेद में कुल मिलाकर ५,८४६ मन्त्र हैं। अथर्ववेद की ९ शाखाओं का उल्लेख मिलता है; किन्तु आजकल केवल दो शाखाएँ ही प्राप्त हैं जिनके नाम क्रमशः पिप्पलाद तथा शौनक हैं। पिप्पलाद शाखा के अधिकांश ग्रन्थ लुप्तप्राय हैं, केवल प्रश्नोपनिषद् ही उपलब्ध है। अथर्ववेद की द्वितीय शाखा शौनक अधिक प्रसिद्ध है। इस वेद के गोपथ ब्राह्मण तथा मुण्डक, माण्डूक्य नामक दो उपनिषद् तथा दो सूत्र ग्रन्थ वैतान श्रौतसूत्र तथा कौशिक गृह्यसूत्र भी आज प्राप्त हैं।

रचना-विधान एवं समय के आधार पर वेदों की रचना प्राचीनतम है। [illegible] वेदों के मन्त्रों के विस्तृत व्याख्यान की आवश्यकता अनुभव हुई तब [illegible] का प्रणयन हुआ। इन ग्रन्थों में मूलतः यज्ञ एवं ब्राह्मण

यज्ञों का ही वर्णन किया गया है। वैसे ब्राह्मणों, यजमानों के कर्तव्यों का भी निर्देश हुआ है। सृष्टि-उत्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्त, शब्द-व्युत्पत्ति एवं शब्दों का व्याख्यात्मक इतिहास तथा अन्यान्य जनकथाओं का भी उल्लेख इनमें मिलता है जिनसे तत्कालीन सामाजिक जीवन के चित्र देखने को मिलते हैं। ब्राह्मणों के अन्तिम अंश आरण्यक कहलाते हैं। इन आरण्यकों के पाठ रहस्यपूर्ण हैं। इन ग्रन्थों में वेदों के आध्यात्मिक-पक्ष का विवेचन है। यज्ञों की क्रिया और अनुष्ठानों के साथ ही साथ यज्ञ-रहस्य और पौरोहित्य का भी विवेचन है। अरण्य में पढ़े जाने के कारण इन ग्रन्थों का नाम आरण्यक है। आरण्यक साहित्य की विषय-वस्तु का विस्तार उपनिषदों में है। उपनिषदों की वैसे तो संख्या २५० तक पहुँच चुकी है; किन्तु विद्वानों ने एकादशोपनिषदों—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, मांडूक्य, तैत्तरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यकोपनिषद् और श्वेताश्वतरोपनिषद् को प्रधानतः स्वीकार किया है। उपर्युक्त उपनिषदों में से कुछ गद्यात्मक हैं, कुछ पद्यात्मक और कतिपय गद्य-पद्यात्मक उभयरूप। प्राचीनता एवं महत्त्व की दृष्टि से इन उपनिषदों में छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक का विशिष्ट स्थान है। उपनिषदों में प्राधान्येन दार्शनिक तत्व का निरूपण हुआ है। ज्ञानकाण्ड के अन्यतम ग्रन्थों में से ये उपनिषद् हैं। श्लेगेल ने लिखा है कि उपनिषदों के सामने यूरोपीय तत्वज्ञान प्रचण्ड मार्तण्ड के सामने टिमटिमाता दीपक है। वैदिक साहित्य की अन्तिम कड़ी के रूप में उपनिषद् साहित्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

वैदिक साहित्य अध्ययनाध्यापन की सुव्यवस्था के लिए जिस साहित्य का निर्माण हुआ है, उस साहित्य को हम सूत्रसाहित्य कहते हैं। इस सूत्रसाहित्य को वेदाङ्ग की संज्ञा से भी अभिहित किया जाता है। ये वेदाङ्ग संख्या की दृष्टि से छह हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष। इस वेदाङ्ग साहित्य को वेदों के साथ सम्बद्ध करने के लिए व्याकरण को वेद का मुख कहा जाता है, ज्योतिष को नेत्र, निरुक्त को श्रोत्र, कल्प को हाथ, शिक्षा को नासिका और छन्द को पाद कहा गया है।

शिक्षा का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है वह विद्या जो स्वर, वर्ण आदि उच्चारण के प्रकार का उपदेश दे—"स्वरवर्णाद्युच्चारण प्रकारोयत्र शिक्ष्यते सा शिक्षा।" वेद पाठ में स्वरों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। स्वर की अशुद्धि से महान् अनर्थ की सम्भावना रहती है। पाणिनीय ने शिक्षा में लिखा है कि

या वर्ण से हीन होता है, वह मिथ्या प्रयुक्त होने के कारण अभीष्ट अर्थ का प्रतिपादन नहीं करता है। वह तो वाग्वज्र बनकर यजमान का ही नाश कर देता है। जैसे कि स्वर के अपराध से 'इन्द्र शत्रु' शब्द यजमान का ही विनाशक सिद्ध हुआ—

> मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा।
> मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह॥
> स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति।
> यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥
>
> —पा० शि० श्लोक ५२

शिक्षाग्रन्थों में प्रातिशाख्य प्रमुख है। ऋग्वेद प्रातिशाख्य, अथर्ववेद प्रातिशाख्य, वाजसनेयी प्रातिशाख्य, तैत्तिरीय प्रातिशाख्य तथा सामवेद के भी दो मुख्य प्रातिशाख्य हैं—एक, पुष्प सूत्र, दूसरा, ऋक् तन्त्र। इसके अतिरिक्त कतिपय अन्य शिक्षाग्रन्थ भी हैं—पाणिनीय शिक्षा, याज्ञवल्क्य शिक्षा, वाशिष्ठी शिक्षा, कात्यायनी शिक्षा, पाराशरी शिक्षा, माडव्य शिक्षा, अमोघानन्दिनी शिक्षा, वर्णरत्न प्रदीपिका केशवीय शिक्षा, मल्लशर्म शिक्षा, स्वराङ्कुश शिक्षा, षोडश-श्लोकीय शिक्षा, अवसाननिर्णय शिक्षा, स्वरभक्तिलक्षण शिक्षा, नारदीय शिक्षा, माण्डूकी शिक्षा। इस प्रकार सम्पूर्ण शिक्षा साहित्य इस बात का प्रमाण है कि प्राचीन भारत में भाषाशास्त्र का कितना गम्भीर विवेचनात्मक सूक्ष्म रूप में अध्ययन किया गया था।

कल्प—कल्प का अर्थ है वेद में निहित कर्मों का क्रमपूर्वक व्यवस्थित कल्पना करने वाला शास्त्र "कल्पो वेदविहितानां कर्मणामानुपूर्व्येण कल्पना शास्त्रम्" ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञयागादि का विधान इतना प्रौढ़ तथा विस्तार को प्राप्त हो गया था कि उसकी सहज जानकारी के लिए उनको क्रमबद्ध रूप से प्रस्तुत करने का कार्य नितान्त आवश्यक प्रतीत हुआ। युगानुरूप इन ग्रन्थों का निर्माण सूत्र शैली में हुआ था। कल्प-सूत्रों को विद्वानों ने चार भागों में विभक्त किया है—(१) श्रौतसूत्र, (२) गृह्यसूत्र, (३) धर्मसूत्र, (४) शुल्वसूत्र। श्रौतसूत्रों में ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित श्रौत अग्नि दक्षिण, आहवनीय और गार्हपत्य इन तीन अग्नियों में सम्पाद्यमान यज्ञयागादिक अनुष्ठानों का वर्णन है। गृह्यसूत्रों में गृह्याग्नि में होने वाले यागों तथा विभिन्न संस्कारों का सर्वाङ्गीण वर्णन है। साथ ही समाज में प्रचलित प्रथाओं का भी वर्णन है। धर्मसूत्रों में

चातुर्वर्ण्य एवं चारों आश्रमों के कर्त्तव्यों, विशेषतः राजा के कर्त्तव्यों का विशिष्ट प्रतिपादन है। इन धर्मसूत्रों में रीति-नीति, धर्म एवं प्रथाओं आदि का भी संकेत मिलता है। शुल्व सूत्रों में यज्ञवेदी के निर्माण से सम्बद्ध रीति का विशिष्ट प्रतिपादन है।

ऋग्वेद—के दो श्रौतसूत्र हैं (१) आश्वलायन तथा (२) शाङ्खायन, और दो गृह्यसूत्र हैं (१) आश्वलायन गृह्यसूत्र तथा (२) शाङ्खायन गृह्यसूत्र। यजुर्वेदीय कल्पसूत्रों में शुक्ल यजुर्वेद का एकमात्र श्रौतसूत्र कात्यायन श्रौतसूत्र है तथा गृह्यसूत्र भी एकमात्र पारस्कर गृह्यसूत्र है। कृष्ण यजुर्वेद से सम्बन्ध इन श्रौत सूत्रों की उपलब्धि होती है—

(१) बोधायन श्रौतसूत्र, (२) आपस्तम्ब, (३) हिरण्यकेशीया सत्याषाढ, (४) वैखानस, (५) भारद्वाज तथा (६) मानव श्रौतसूत्र तथा गृह्यसूत्रों में (१) आपस्तम्ब, (२) हिरण्यकेशी, (३) बोधायन, (४) मानव काठक, (५) भारद्वाज, (६) वैखानस गृह्यसूत्र। सामवेदीय कल्पसूत्रों में प्राचीनतम आर्षेय कल्पसूत्र है जो अपने रचयिता के नाम पर मशक कल्पसूत्र के नाम से भी अभिहित किया जाता है। वैसे सामवेद की तीनों शाखाओं के अपने-अपने श्रौतसूत्र तथा अपने-अपने गृह्यसूत्र हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) कौथुमशाखा—लाट्यायन श्रौतसूत्र, गोभिलगृह्यसूत्र, (२) राणायनीय शाखा—द्राह्यायण श्रौतसूत्र, खदिरगृह्यसूत्र, (३) जैमिनीय शाखा—जैमिनीय श्रौतसूत्र, जैमिनीय गृह्यसूत्र, अथर्ववेद का कल्पसूत्र विभिन्न ऋषियों द्वारा प्रणीत है। इस वेद के श्रौतसूत्र का नाम है वैतान श्रौतसूत्र तथा गृह्यसूत्र का नाम है कौशिक जो कि अथर्ववेद का एकमात्र गृह्यसूत्र है।

धर्मसूत्र कल्प के अविभाज्य अङ्ग हैं। नियमत. प्रत्येक शाखा का एक-एक अपना विशिष्ट धर्मसूत्र होना चाहिए किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। आश्वलायन, शाखायन तथा मानव शाखा के श्रौतसूत्र एवं गृह्यसूत्र दोनों ही प्राप्य है किन्तु उनका धर्मसूत्रात्मक अंश प्राप्त नहीं है। केवल बोधायन, आपस्तम्ब तथा हिरण्यकेशी के धर्मसूत्र पूर्णत मिल जाते हैं। धर्मसूत्रों में प्राप्त प्राचीनतम ग्रंथ गौतम धर्मसूत्र माना जाता है जिसका सम्बन्ध सामवेद से है। इसके अतिरिक्त हारीत का धर्मसूत्र तथा शङ्खलिखित धर्मसूत्र भी मिलता है।

व्याकरण—व्याकरण शब्द ... त है—व्याक्रियन्ते शब्दा अनेन इति

व्याकरणम् अर्थात् जिसके द्वारा सुबन्त तिङन्त आदि पदों की व्याख्या की है वह व्याकरण है। व्याकरण वेद पुरुष का मुख है "मुखं व्याकरणं स्मृतम्" इस वेदांग का एकमात्र उद्देश्य वेदों के अर्थ को समझाना और वेदार्थ की रक्षा करना है। आजकल व्याकरण के प्राप्त ग्रन्थों में प्राचीनतम ग्रन्थ पाणिनीकृत अष्टाध्यायी है; किन्तु पाणिनी मुनि ने पूर्वकालीन आचार्यों में गार्ग्य, स्फोटायन, शाकटायन, भरद्वाज आदि अनेक आचार्यों का उल्लेख विभिन्न व्याकरण के ग्रन्थों में मिलता है। वैसे तो इस अष्टाध्यायी से भी पूर्व व्याकरण के ग्रन्थों में प्रातिशाख्य भी स्वीकार किए जा सकते हैं। वैसे व्याकरण के पाणिनी के परवर्ती प्रमुख आचार्यों में महाभाष्यकार पतञ्जलि तथा वार्तिककार कात्यायन का नाम सम्मानपूर्वक लिया जाता है। इन तीनों व्याकरण-आचार्यों के उपरान्त इस सम्प्रदाय में आचार्यों की एक लम्बी सूची है जो कि उपर्युक्त तीन आचार्यों की कृतियों पर ही अपने विचार लिखते-लिखाते रहे हैं।

संस्कृत के इन व्याकरण के आचार्यों के कार्य एवं महत्त्व का मूल्यांकन करते हुए प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् मेकडानल ने लिखा है—

"भारतीय वैयाकरणों ने ही विश्व में सर्वप्रथम शब्दों का विवेचन किया है। प्रकृति और प्रत्यय का अंग पहचाना है, प्रत्ययों के कार्य का निर्धारण किया है। सब प्रकार से परिपूर्ण और अति विशुद्ध व्याकरण पद्धति को जन्म दिया है जिसकी तुलना विश्व के किसी देश में प्राप्य नहीं है।"

**निरुक्त**—निरुक्त निघण्टु नामक वैदिक शब्दकोश की टीका है। सर्वप्रथम निरुक्त में ही वेदों के कठिन शब्दों की व्याख्या की गई है। प्राप्त निरुक्तों में सर्वाधिक प्राचीन यास्क कृत निरुक्त ही है। यास्क ने अपने से पूर्ववर्ती १३ निरुक्ताचार्यों का उल्लेख किया है। निघण्टु के रचयिता महाभारत के उद्धरण के अनुसार प्रजापति कश्यप हैं। निरुक्त पद की व्याख्या सायणाचार्य के अनुसार इस प्रकार है—

"अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्र उक्त तत् निरुक्तम्" अर्थात् अर्थ की जानकारी के लिए स्वतन्त्र रूप से जो पदों का संग्रह है वही निरुक्त है। टीकाकार दुर्गाचार्य के कथानुसार अर्थ का परिज्ञान कराने के कारण यह अंग इतर वेदांगों तथा शास्त्रों में प्रधान है क्योंकि अर्थ प्रधान होता है और शब्द गौण। इस प्रकार महत्त्व की दृष्टि से निरुक्त भी वेदांगों में प्रमुख स्थान का अधिकारी है।

छन्द वेद शरीर के छन्द पाद हैं। वेद के मन्त्रों के यथार्थ उच्चारण के निमित्त छन्दो का ज्ञान नितात आवश्यक है। छन्दों के परिज्ञान के बिना मन्त्रों का उच्चारण तथा पाठ समुचित रूप से कदापि नही हो सकता। कात्यायन ने स्पष्ट ही लिखा है कि जो व्यक्ति छन्द, ऋषि तथा देवता के ज्ञान से हीन होकर मन्त्र का अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन करता है, उसका वह कार्य सदा ही निष्फल होता है। वेद के मन्त्र तो सर्वथा छन्दोबद्ध हैं, अत छन्दो का ज्ञान प्राप्त किए बिना वेद मन्त्रो का यथार्थ उच्चारण कैसे सम्भव है। इस-लिए वैदिक ऋषियो के छन्दो के परिज्ञान के लिए स्वय पृथक् ग्रन्थों की रचना की है। इनमे ऋग्वेद का प्रातिशाख्य सूत्र, सामवेद का निदान सूत्र, पिंगल का छन्द सूत्र तथा शाखायन के श्रौतसूत्रो का एक भाग प्रमुख है। इन सभी ग्रन्थों मे वैसे वैदिक छन्दों का ही विशेष विवेचन है, किन्तु पिंगलाचार्य द्वारा रचित छन्द इस वेदाग का प्रतिनिधि ग्रन्थ है।

ज्योतिष—वेदागो के अन्तर्गत ज्योतिष अन्तिम वेदाग है। वेद की प्रवृत्ति यज्ञ सम्पादन के लिए तथा यज्ञ समय-विशेष की अपेक्षा रखते हैं। इसी समय विशेष के निर्देश के लिए ज्योतिष की आवश्यकता है। नक्षत्र तिथि, पक्ष, मास ऋतु तथा सवत्सर-काल के समस्त खण्डो के साथ यज्ञों का निर्देश वेदो में उप-लब्ध है। वेदाग ज्योतिष के प्रतिनिधि ग्रन्थ दो वेदो से सम्बन्ध रखने वाले उपलब्ध होते हैं एक तो याजुष ज्योतिष जिसका यजुर्वेद से सम्बन्ध है एवं दूसरा आर्च ज्योतिष जिसका सम्बन्ध ऋग्वेद से है। इन दोनो ही ग्रन्थो मे वैदिक कालीन ज्योतिष का वर्णन उपलब्ध होता है। वेदाग ज्योतिष के कर्ता का नाम लगध था—

> प्रणम्य शिरसा कालमभिवाद्य सरस्वतीम्
> कालज्ञान प्रवक्ष्यामि लगधस्य महात्मनः ॥
>
> —आर्च ज्योतिष श्लोक २१

कुल मिलाकर हम यह कह सकते हैं कि यज्ञ भाग के विभिन्न विधानों के यथार्थ निर्वाह के लिए ज्योतिषशास्त्र का ज्ञान नितात अपरिहार्य है। इसलिए वेदाग ज्योतिष का यह आग्रह है कि जो व्यक्ति ज्योतिष को अच्छी प्रकार से जानता है वही यज्ञ का यथार्थ ज्ञाता है। यज्ञ ज्ञान के लिए ज्योतिष के महत्त्व को परवर्ती ज्योतिषाचार्य भास्कराचार्य ने भी स्वीकार किया है।

छन्द वेद शरीर के छन्द पाद हैं। वेद के मन्त्रों के यथार्थ उच्चारण के निमित्त छन्दों का ज्ञान नितान्त आवश्यक है। छन्दों के परिज्ञान के बिना मन्त्रों का उच्चारण तथा पाठ समुचित रूप से कदापि नहीं हो सकता। कात्यायन ने स्पष्ट ही लिखा है कि जो व्यक्ति छन्द, ऋषि तथा देवता के ज्ञान से हीन होकर मन्त्र का अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन करता है, उसका वह कार्य सदा ही निष्फल होता है। वेद के मन्त्र तो सर्वथा छन्दोबद्ध हैं, अतः छन्दों का ज्ञान प्राप्त किए बिना वेद मन्त्रों का यथार्थ उच्चारण कैसे सम्भव है। इसलिए वैदिक ऋषियों के छन्दों के परिज्ञान के लिए स्वयं पृथक् ग्रन्थों की रचना की है। इनमें ऋग्वेद का प्रातिशाख्य सूत्र, सामवेद का निदान सूत्र, पिंगल का छन्द सूत्र तथा शांखायन के श्रौतसूत्रों का एक भाग प्रमुख है। इन सभी ग्रन्थों में वैसे वैदिक छन्दों का ही विशेष विवेचन है, किन्तु पिंगलाचार्य द्वारा रचित छन्द इस वेदांग का प्रतिनिधि ग्रन्थ है।

ज्योतिष—वेदांगों के अन्तर्गत ज्योतिष अन्तिम वेदांग है। वेद की प्रवृत्ति यज्ञ सम्पादन के लिए तथा यज्ञ समय-विशेष की अपेक्षा रखते हैं। इसी समय विशेष के निर्देश के लिए ज्योतिष की आवश्यकता है। नक्षत्र तिथि, पक्ष, मास ऋतु तथा संवत्सर-काल के समस्त खण्डों के साथ यज्ञों का निर्देश वेदों में उपलब्ध है। वेदांग ज्योतिष के प्रतिनिधि ग्रन्थ दो वेदों से सम्बन्ध रखने वाले उपलब्ध होते हैं एक तो याजुष ज्योतिष जिसका यजुर्वेद से सम्बन्ध है एवं दूसरा आर्च ज्योतिष जिसका सम्बन्ध ऋग्वेद से है। इन दोनों ही ग्रन्थों में वैदिक कालीन ज्योतिष का वर्णन उपलब्ध होता है। वेदांग ज्योतिष का नाम लगध था—

प्रणम्य शिरसा कालमभिवाद्य
कालज्ञान प्रवक्ष्यामि लगधस्य मह

कुल मिलाकर हम यह कह सकते हैं कि यज्ञ यथार्थ निर्वाह के लिए ज्योतिषशास्त्र का ज्ञान नितान्त वेदांग ज्योतिष का यह आग्रह है कि जो व्यक्ति जानता है वही यज्ञ का यथार्थ ज्ञाता है। यज्ञ ज्ञान को परवर्ती ज्योतिषाचार्य भास्कराचार्य ने भी स्वीका

इानों के साथ संचय हुआ है। वस्तुतः मेरे विचार से तो वैदिक तत्वों का उपनिषद् साहित्य अमूल्य कोष है। इनमे अनेक शतकों की तत्वचिन्ता समाहित है।

सूत्र-साहित्य वैदिक साहित्य के विशाल एवं जटिल होने पर सम्बद्ध सिद्धान्तों को एक नवीन रूप दिया गया। कम से कम शब्द से अधिक अर्थ का प्रतिपादन करने वाले छोटे-छोटे वाक्यों में सब विधि-विधान प्रकट किए जाने लगे। इन सारगर्भित वाक्यों को सूत्र कह जाता है। यह साहित्य वैदिक कर्मकाण्ड, यज्ञ-यागादि पर प्रकाश निक्षेप करता है। इनके मूल वेद ही हैं। इस सम्पूर्ण सूत्र-साहित्य पर भी वेदों के कर्मकाण्डीय मन्त्रों की छाप है।

वैदिक साहित्य के जटिलतम होने के कारण अगले समय में वेद के अर्थों तथा विषयों को स्पष्ट करने के लिए वेदांग साहित्य का विकास हुआ, जिसमे शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष नामक षड् वेदांग प्रसिद्ध हैं। यह समस्त साहित्य वेदों की व्याख्या ही है। फलतः कोई-कोई व्याकरण को वेद का मुख, ज्योतिष को नेत्र, निरुक्त को श्रोत्र, कल्प को हाथ, शिक्षा को नासिका, छन्द को पाद (पैर) भी कहते हैं। जब उपर्युक्त साहित्य वेदों की व्याख्या ही करता है तब उसके ऊपर वैदिक साहित्य का कितना प्रभाव और दाय है, यह बतलाने का प्रश्न ही नहीं उठता है। वह तो वस्तुतः वेदमय ही है। डा० मंगलदेव जी ने 'भारतीय संस्कृति का विकास' नामक ग्रन्थ में उपर्युक्त समस्त भाव को इन शब्दों में व्यक्त किया है—

"परन्तु वैदिक धारा की साहित्यिक देन और प्रभाव का क्षेत्र उसके अपने वाङ्मय में ही परिमित नहीं है। वैदिक वाङ्मय के अतिरिक्त भी संस्कृत साहित्य का जो महान् विस्तार हुआ है, उस पर भी साक्षात् अथवा असाक्षात् रूप से वेदों का तथा वैदिक धारा का महान् प्रभाव पड़ा है; उदाहरणार्थ—आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थशास्त्र—ये चार उपवेद माने जाते हैं। उपवेद शब्द में ही इनका वैदिक आधार या सम्बन्ध स्पष्ट है। प्राचीन परम्परा के अनुसार भी इनका क्रम से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद से सम्बन्ध माना जाता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र का अग्रलिखित श्लोक द्रष्टव्य है—

व्यवस्थितार्यमर्यादः कृतवर्णाश्रमस्थितिः ।
त्रय्याहि रक्षितो लोकः प्रसीदति न सीदति ॥
(अर्थशास्त्र विनयाधि

अर्थात् आर्य मर्यादाएँ जिसमें व्यवस्थित हैं वर्ण—धर्म और आश्रम—[illegible] जिसमें पाले जाते हैं, जो वेदों से रक्षित हैं, ऐसा लोक प्रसन्न ही रहता है, [illegible] को नहीं पाता । उपनिषदों के अगन् प्रसिद्ध महान् साहित्य का वैदिक [illegible] घनिष्ठ सम्बन्ध है । प्राचीन परम्परा तो उनको वेदों में ही [illegible] मानती है ।

परवर्ती साहित्य में स्मृतियाँ भी वैदिक धारणाओं को ही [illegible] विन करती हैं, इस साहित्य में उन नियमों, कर्तव्यों एवं अधिकारों को [illegible] विमल कर वैदिक राजधर्म, अभिषेक, समावर्तन, गृहस्थ धर्म, [illegible] व्यवस्था, नैतिकता आदि के सिद्धान्तों का वर्गीकरण कर मानवों के [illegible] यह साहित्य प्रस्तुत हुआ है । स्मृतियों में यत्र-तत्र स्पष्ट शब्दों में घोषित [illegible] गया है कि—

रामायण-महाभारत के बाद का समग्र साहित्य अधिकांश मे महाभारत से कथानको को लेकर ही पल्लवित हुआ है और आज विराम धारा सतत् प्रवाहित है। पुराणो के आविष्कर्ता व्याम नामक ले . की परम्परा धर्मों का ही प्रतिपादन करती है तथा इस प्रतिपादित तत्व का स्रोत वेद ही हैं, पुराणों के लक्षण—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणिच ।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥

मे यह आशय सहज ही निकाला जा सकता है कि वैदिक सृष्टि विकास की विचारधारा का पल्लवन इन पुराणों मे भी है। डा० मगलदेव जी ने बहुत ही स्पष्ट शब्दो मे इस परवर्ती साहित्य पर वैदिक साहित्य के प्रभाव को स्वीकार किया हैं। वे लिखते हैं—

"पुराण और धर्मशास्त्र का विस्तृत साहित्य भी, चाहे उसका प्रतिपाद्य कुछ भी हो, बराबर वेदों की महिमा के गीत गाता है। यही बात रामायण और महाभारत के सम्बन्ध मे भी कही जा सकती है। भागवत का निर्माण वेदो और उपनिषदो के सार से हुआ है।"

लौकिक साहित्य की कथाओ के मूल स्रोत वैदिक आख्यान ही हैं। उर्वशी पुरुरवा की कथा, विष्णु वामन की कथा विभिन्न रूपो मे विभिन्न साहित्यो में विस्तार के साथ अकित है। भास के अधिकाश नाटक महाभारत के प्रभाव से प्रभावित हैं, महाभारत का उपजीव्य वेद है ही। रघुवश का मन्वन्तर निरूपण मेघदूत मे निरूपित प्रवृत्तियाँ, आचार-विचार रामायण पर आधारित हैं और रामायण का नैतिक आदर्श वैदिक साहित्य से जीवनीय तत्व गृहीत करता है। यह ठीक है कि पैशाचिक भाषा की वृहत्कथा के अनेक अशो से स्वतन्त्र रचनाएँ की गई हैं किन्तु सदाचार की पद्धति वही प्राचीन है। धर्मयज्ञ के प्रति आस्थानिरूपण चातुर्वर्ण्य की पुनरावृत्ति आदि से वेद का प्रभाव वहाँ भी बना हुआ है।

बौद्ध साहित्य मे भी सदाचार पूर्ण ब्राह्मण की पूजा का निर्देश है। 'अक्रोध' से क्रोध को जीते' सत्य, अहिंसा, प्रियवचन, सदाचार आदि की शिक्षाएँ वैदिक ही हैं। यज्ञ की अति का निषेध करने के लिए भक्ति की परम्परा का ग्रहण उपनिषद् साहित्य से किया गया है। उपनिषद् भी प्रतीकात्मक रूप मे यज्ञो का वर्णन करती हैं। बौद्धधर्म मे भी वर्ण-व्यवस्था या यज्ञ का विरोध नहीं

है, अपितु यज्ञों को निमित्त बनाकर की जाने वाली हिंसा का विरोध है। बौद्ध-धर्म के त्रिपिटक-साहित्य में ऐसे अनेक उद्धरण प्राप्त हैं। डेविड नामक विचारक का कहना है कि—बौद्ध-धर्म वैदिक-धर्म का विरोधी नहीं है अपितु वह सुधार चाहता है।" आप्त वचन की प्रामाणिकता वैदिक पद्धति पर ही जैन व बौद्ध मानते हैं। गुरु का महत्व, ज्ञान की पवित्रता आदि मान्यतायें वैदिक ही हैं। जहाँ ब्राह्मण ग्रन्थों में दुःखनाश अभीप्सित है वहीं जैन व बौद्ध भी चाहते हैं, तृष्णा का क्षय औपनिषदिक तत्व है। इसी तृष्णा क्षय के लिए बुद्ध का अत्यधिक आग्रह है। इस प्रकार अनेक वैदिक सिद्धान्तों को जैन व बौद्ध स्वीकार करते हैं।

षट् दर्शनों में वेदान्त व मीमांसा तो खुले आम वेद एवं उपनिषद् की विचारधारा का प्रतिपादन करते हैं, वैशेषिक व न्याय वेदों को ईश्वरकृत मान कर शब्द प्रमाण की प्रामाणिकता स्थापित करते हैं। सांख्य भी आनुश्रविक यज्ञों को स्वीकार करता है; किन्तु अनित्य सुख की अपेक्षा वह उपनिषदों के नित्य सुख को चाहता है "येनाहं नामृता स्याम तेन किं कुर्याम्" याज्ञवल्क्य की पत्नी की यह महत्त्वकांक्षा दर्शनों के लक्ष्यरूप में सर्वत्र दिखाई देती है। योग भी वेद के महत्त्व को स्वीकार करता है। 'दार्शनिक साहित्य में आस्तिक कहे जाने वाले दर्शनों को वैदिक साहित्य से सम्बन्ध इसी से स्पष्ट है कि ये प्रायः वैदिक परम्परा को पुष्ट करने के लिए ही बने हुए हैं या कम से कम वेदों का प्रामाण्य मानकर चले हैं।

नाट्यशास्त्र की जीवन कहानी में भरतमुनि का यह श्लोक ही उनके नाट्य शास्त्र पर वैदिक प्रभाव के प्रतिपादन के लिए पर्याप्त है। वैसे आपाततः नाट्यशास्त्र और वेदों का कोई सम्बन्ध नहीं दीखता फिर भी नाट्याचार्य का कथन अधिक प्रामाणिक मानकर—नाट्यवेद ततश्चक्रे चतुर्वेदाग सम्भवम् जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च यजुर्वेदादभिनयान्रसानाथर्वणादपि ॥ अर्थात् पाठ्य विषय-वस्तु ऋग्वेद से, गीत सामवेद से, अभिनय यजुर्वेद से और रसों को अथर्ववेद से लेकर निर्माण हुआ है। आशय यह है कि नाट्य और काव्य आदि समग्र भारतीय साहित्य वेदों से प्रभावित हैं।

आज के हिन्दी और संस्कृत आलोचक समस्त 'साहित्यिक विधाओं का उद्गम वेदों में खोजने का प्रयास करते हैं और अधिकांश विधाओं का उद्गम स्थल वेदों को स्वीकार भी कर चुके हैं।

भारतीय जीवन मे तपोवनो का महत्त्व कितना है, यह किसी से छिपा नहीं है। अनेक गुरुकुलों एव विद्यापीठो की स्थापना इन्हीं तपोवनो में हुआ करती थी और पुराणो का क्षेत्र माहात्म्य इसी का परिणाम है। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि सन्त तुलसीदास ने भी अपनी रामायण में वैदिक साहित्य के महत्त्व को स्वीकार किया है। उनका कहना है कि मैंने "नानापुराणनिगमागम सम्मत" ही अपने काव्य का निर्माण किया है। ज्यामिति का विकास यज्ञमण्डप मे नापी जाने वाली भूमि के आधार पर हुआ होगा, यह सहज कल्पना की जा सकती है। इसी प्रकार तन्त्र शास्त्र का बहुत कुछ आधार अथर्ववेद मे है, ऐसा कहा जाता है। साम्प्रदायिक साहित्यो पर भी वैदिक साहित्य की छाया अवश्य पडी होगी। डा॰ मगलदेव जी ने एक स्थान पर लिखा है कि "भारत की विभिन्न प्रान्तीय भाषाओ मे जो धार्मिक, साम्प्रदायिक या दार्शनिक साहित्य लिखा गया है, उसका भी इसी प्रकार वैदिक धारा मे किसी न किसी प्रकार सम्बन्ध दिखलाया जा सकता है।"

*वस्तुस्थिति तो यह है कि* भारतीय जन-जीवन के दैनन्दिन कार्य-कलाप तक मे जब वैदिक साहित्य समाया हुआ है तो उस समाज से निर्मित साहित्य अपने पूर्ववर्ती अमर साहित्य के प्रभाव से कैसे बच सकता है ? एक भारतीय आर्य का जीवन गर्भाधान-सस्कार से आरम्भ होकर अन्त्येष्टि-सस्कार पर्यन्त अतीत युग की वैदिक सहिताओं की प्रतिध्वनि नही तो क्या है ?

इसी प्रकार आज के विश्वविद्यालयों मे 'असतो मा सद्गमय', 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' तथा 'यत्र भवत्येक नीडम्' आदि प्रेरक Motto तथा दीक्षात अवसर ' आदि उपदेशो को वैदिक साहित्य के आधार

उत्तर—वैदिक साहित्य का विश्व के साहित्यिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह कहना समीचीन ही होगा कि वेद भारतीय ही नहीं, विश्व के मनीषियों के लिए ज्ञान के स्रोत रहे हैं। वैसे तो भारतीय संस्कृति के विकास में अपनी प्राचीनता और अपने बहुमुखी व्यापक प्रभाव के कारण वैदिक धारा का निर्विवाद रूप से अत्यधिक महत्त्व है। न केवल अपने सुग्रथित, सुरक्षित और विस्तृत वाङ्मय की अति प्राचीन परम्परा के कारण ही, न केवल अपनी भाषा और वाङ्मय के अत्यन्त व्यापक प्रभाव के कारण ही, अपितु भारत के धार्मिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन में अपने शाश्वतिक प्रभाव के कारण भी भारतीय संस्कृति में वैदिक धारा का सदा से अत्यधिक महत्त्व रहा है और बराबर रहेगा। उपर्युक्त विचार डा० मङ्गलदेव जी ने भारतीय संस्कृति का विकास नामक ग्रन्थ में व्यक्त किए हैं; किन्तु प्रस्तुत विचार एक भारतीय विद्वान् के हैं, अतः इनमें स्वदेश-प्रेम, स्वदेशी साहित्य प्रेम का मोह एक बार को स्वीकार किया जा सकता है; किन्तु पाश्चात्य विद्वान् विन्टरनिट्ज के इन विचारों पर भी दृष्टि निक्षेप कर लेना चाहिए। उनका मत तो यहाँ तक है कि वैदिक साहित्य का साधक ही भारतीय संस्कृति का हृदयङ्गम कर सकता है, अन्य नहीं। साथ ही भारोपीय परिवारों के विद्वा- को वह चेतावनी देता हुआ लिखता है कि—

*If we wish to learn, to understand the beginnings of ou own culture, if we wish to understand the oldest Indo-Eurc pean culture, we must go to India, where the oldest literatur of an Indo-European people is preserved.*

इस प्रकार एक विन्टरनिट्ज ही नहीं, न जाने कितने पाश्चात्य विद्वानों ने भारतीय साहित्य की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। ओल्डनबर्ग वेदों को Oldes Document of Indian Literature and Religion मानता है। इन्हीं कुछ आकर्षक विशेषताओं ने पाश्चात्य विद्वानों को भारतीय साहित्य के मंथन के लिए आमन्त्रित किया। उस समग्र कहानी को हम विन्टरनिट्ज के आधार पर नीचे दे रहे हैं।

सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी में कुछ पाश्चात्य यात्रियों एवं मिशनरियों ने भारतीय साहित्य से परिचय प्राप्त किया। १६५१ ई० में इब्राहम अब्राहम रोगर ने जो ।

doar to the Hidden Heathardom इस व्यक्ति ने भर्तृहरि के श्न को कुछ सूक्तियो का पुर्तगाली भाषा मे अनुवाद प्रकाशित किया था। सन् १६६६ मे Jesuit Father Johann Ernest Hanzieden भारत मे आए। इन्होंने तीस वर्ष तक यहाँ मिशन मे कार्य करते हुए भारतीय भाषाओ का अध्ययन किया, केवल अध्ययन एव परिचय ही प्राप्त नही किया, अपितु सस्कृत व्याकरण पर Grammatica Granthamia Sen Samserdumica नामक एक पुस्तक भी लिखी, जो कि किसी विदेशी द्वारा लिखित प्रथम व्याकरण की पुस्तक थी, किन्तु दुर्भाग्य बेचारे लेखक का रहा कि वह इसे प्रकाशित न कर सका। इसका उपयोग Fra Paolinodest Barthomeo ने किया और व्याकरण पर दो पुस्तक तथा कुछ अन्य पुस्तक भी लिखी। यदि इस व्यक्ति के साहित्य का अध्ययन करें तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इन्होंने ब्राह्मण साहित्य, भारतीय भाषाओ और धार्मिक विचारो का गम्भीर अध्ययन किया था।

भारत मे अग्रेजो द्वारा भारतीय साहित्य के अध्ययन का द्वितीय चरण भारत मे English राज्य के वास्तविक सस्थापक वारेन हेस्टिंग्ज के समय से प्रारम्भ होता है। भारतीयो के अग्रेजी ज्ञान के द्वारा भारतीय कानून पर इसी काल मे अध्ययन हुआ, जिसका मुख्य उद्देश्य अग्रेज न्यायाधीशो की सहायता करना ही था। हेस्टिंग्ज ने ब्राह्मणो से एक पुस्तक "विवादार्णव सेतु" को लिखवाया जिसमे पारिवारिक कानून एव Indian Law Inheritance का वर्णन है। इसका सस्कृत से फारसी मे तथा फारसी से अग्रेजी मे भी अनुवाद हुआ।

चार्ल्स विल्किस ने सर्वप्रथम सस्कृत सीखी। इन्होने १७८५ मे गीता का अग्रेजी मे अनुवाद किया, यही नहीं, इसके दो वर्ष बाद हितोपदेश तथा १७६५ मे शकुन्तला का अनुवाद किया,। १८०८ मे व्याकरण की पुस्तक लिखी। विलियम जोन्स (१७४६-१७६४) जैसे न्यायाधीश ने भी एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना कर अनेक सस्कृत ग्रन्थो का प्रकाशन किया। विलियम जोन्स ने १७८६ मे शकुन्तला का अनुवाद प्रकाशित [illegible] तथा सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य जो इन्होंने किया, [illegible] मनुस्मृति (१७६४) का अनुवाद। जोन्स के शाकुन्तल के अनुवाद [illegible] जर्मन मे अनुवाद होने पर Herder तथा Goethe आदि को सस्कृत पढ़ने की प्रेरणा मिली। जोन्स ने भाषा-

ग्था का लैटिन अनुवाद किया। Wilhelm Von Hemboldt
की तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के क्षेत्र मे सदैव अविस्मरणीय रहेगा।
ही, इस व्यक्ति ने गीता का भी सुन्दरतम अनुवाद किया। इसी प्रकार
विद्वान Ruckert ने अनुवाद के क्षेत्र मे अनुपम कार्य किया है। इस
तक जो भारतीय वाङ्मय का पाश्चात्य विद्वानों ने अध्ययन एवं
न किया, उनमे शकुन्तला, मनुस्मृति, गीता, रामायण, महाभारत, हितो-
ग अनुवाद एन एतद्विषयक अनुसन्धान ही थे। वैदिक साहित्य अभी तक
ज्ञात था, बौद्ध साहित्य भी पूर्णतया परिचित नहीं था, उपनिषदो की
ी स्थिति थी। वैसे १७वीं शताब्दी मे उपनिषदो का फारसी मे अनुवाद
ाकोह ने अवश्य ही किया था; किन्तु पश्चिम के देश अपरिचित ही थे।
मे Friedrick Rosen ने ऋग्वेद के ⅛ अश का एक सस्करण प्रका-
ग्या, किन्तु इस व्यक्ति की अकाल मृत्यु से यह कार्य पूर्ण न हो सका।
द्वान् Eugene Burnouf ने अपने कुछ शिष्यो को एकत्र करके वेदो का
ा केन्द्र स्थापित किया। इन शिष्यो मे Rudolf Roth और F. Max-
र का नाम मुख्य है—Roth ने ऋग्वेद पर अग्रेजी टीका की। इनकी
On the Literature and History of Veda १८५६ मे प्रकाशित
Maxmuller ने सायण की टीका सहित एक सस्करण ऋग्वेद का प्रकाशन
किन्तु इसके भी पूर्व Thomas Aufrecht सम्पूर्ण मूल ऋग्वेद का
कर चुका था।

रा शिकोह के उपनिषदो के अनुवाद को पढ़कर १९वी शताब्दी मे
विद्वान् Anquetildu Perrum ने लैटिन मे अनुवाद किया। यद्यपि
वाद अपूर्ण एव अशुद्ध भी था, तथापि श्लेगल एव शापेनहावर जैसे
के लिए प्रेरणा स्रोत बना, शापेनहावर सस्कृत के अध्ययन के लिए
ुआ। उपनिषदो के लिए शापेनहावर ने लिखा है—The production
highest human wisdom

gene Burnouf ने सर्वप्रथम पालि साहित्य पर अनुसन्धानात्मक कार्य
ौर १८२६ मे Lassen के साथ मिलकर Essai Surle Pali नामक
प्रकाशित की और भविष्य के लिए बौद्ध साहित्य के अध्ययन एव
न के लिए पथ प्रशस्त किया।

सस्कृत के अध्ययन कार्य मे बीदाना के प्रो० बूह्लर के योगदान को

विज्ञान की दृष्टि सबसे पहले ग्रीक, लैटिन, जर्मन, केल्टिक और फारसी भाषाओं का संस्कृत से साम्य दिखाया। जोन्स के भारत में ग्यारह वर्ष रहने का ही यह समस्त परिणाम था।

हेनरी टॉमस कोलब्रुक (१७६५-१८३७) ने जोन्स के अनुवाद कार्य को बढ़ाने के साथ ही भारतीय भाषा-विज्ञान एवं पुरातत्व के अध्ययन को आरम्भ किया। यह व्यक्ति १७ वर्ष की आयु में १७८२ में कलकत्ता आया था तथा इसने जोन्स के पथ-प्रदर्शनानुसार संस्कृत ग्रन्थों का अंग्रेजी में अनुवाद प्रारम्भ किया। कानूनी पुस्तकों का अनुवाद भी किया, वैज्ञानिक पुस्तकों की ओर भी हाथ बढ़ाया। दर्शन, धर्म, व्याकरण, ज्योतिष, अङ्कगणित-विषयक अनेक निबन्ध भी लिखे। १८०५ में On the Vedas नामक प्रसिद्ध लेख लिखा। अमरकोश आदि कोश-ग्रन्थों का भी सम्पादन किया। एक और भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया। वह था अनेक भारतीय ग्रन्थों की पाण्डुलिपियों का एकत्र करना।

टॉमस के अनन्तर महत्त्वपूर्ण व्यक्ति अलैक्जेण्डर हैमिल्टन (Alexander *Hamilton*—१७६५-१८२४) हैं—नैपोलियन द्वारा फ्रांस में बन्दी बनाए जाने वाले व्यक्तियों में से हैमिल्टन महोदय भी एक हैं। बन्दी बनाए जाने वाले समय में इनसे अनेक फ्रांसीसी विद्वानों ने संस्कृत का अध्ययन किया। इन संस्कृत सीखने वाले व्यक्तियों में फ्रेडरिक श्लेगेन (Fredrick Schlegle) का नाम महत्त्वपूर्ण है। श्लेगेन रोमान्टिक स्कूल के व्यक्तियों में से हैं। इन्होंने १८०८ से On the Language and Wisdom of the Indians नामक पुस्तक लिखकर जर्मन में संस्कृत पढ़ने के लिए न जाने कितने व्यक्तियों को आकृष्ट किया। इसी काल में श्लेगेन ने जर्मनी में भारतीय भाषा-विज्ञान का भी शिलारोपण किया। श्लेगेन ने रामायण, महाभारत, गीता, मनुस्मृति तथा महाभारतीय शाकुन्तल कथा के आंशिक अनुवाद प्रस्तुत किए। वास्तव में इसी व्यक्ति ने सर्वप्रथम संस्कृत से जर्मन भाषा में इन ग्रन्थों के अनुवाद किए। फ्रेडरिक श्लेगेल के भाई A. W. Von Schlegel ने १८१४ में फ्रेंच प्रोफेसर Chezy से संस्कृत सीखी जो कि स्वयं प्रथम फ्रेंच विद्वान् था जिसने संस्कृत पढ़ी और दूसरों को पढ़ाई भी। बोन श्लेगेल विश्वविद्यालय में संस्कृत का प्राध्यापक बना और उसने गीता का अनुवाद रामायण का सम्पादन तथा भाषा-विज्ञान विषयक कार्य भी किया। *Fraz Bopp* (फ्रेंज बॉप) ने तुलनात्मक ... भारत के अनुवाद, नल-दम-

भी भारत मे ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासकों ने चिरस्थायी शासन करने की कामना से यहाँ की भाषा, साहित्य, धर्म एवं संस्कृति आदि के परिचय की आवश्यकता का अनुभव किया, इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए भारतीय साहित्य के प्रति अनेक पाश्चात्य विद्वानों का आकर्षण बढ़ा। इसी परम्परा में संस्कृत-साहित्य का अध्ययनाध्यापन पर्याप्त होने लगा। वेदों की ओर भी इन विद्वानों की दृष्टि गई—सन् १७८४ मे सर विलियम जोन्स ने कलकत्ता मे बंगाल एशियाटिक सोसाइटी नामक शोध संस्था की स्थापना की। यह वह प्रयास एवं काल है जब से पाश्चात्य विद्वानों ने लगन के साथ वैदिक ज्ञानराशि को विश्व के मानस-पटल पर रखने का स्तुत्य संकल्प किया, मात्र संकल्प ही नहीं किया, कार्य रूप में परिणत भी किया।

१८०५ ई० मे कोलब्रुक महोदय ने 'एशियाटिक रिसर्चेज' नामक पत्र मे वेदों से सम्बन्धित एक विवेचनात्मक खोजपूर्ण निबन्ध लिखा। इस लेख मे फ्रेन्च वाल्टेयर द्वारा प्रसारित वैदिक साहित्य से सम्बद्ध समस्त भ्रान्त धारणाओं का निराकरण किया गया है और भारतीय साहित्य के विषय में मूल्यवान विचार व्यक्त किए हैं। इसके लगभग पच्चीस वर्ष उपरान्त रोजेन नामक जर्मन विद्वान् ने लगन एवं उत्साह के साथ ऋग्वेद का सम्पादन करना प्रारम्भ किया था, किन्तु इनकी असामयिक मृत्यु से केवल प्रथम अष्टक मात्र ही प्रकाशित हो सका।

१८४६ ई० मे वैदिक साहित्य के विषय में रुडाल्फराथ नामक जर्मन विद्वान् ने 'वेद का साहित्य तथा इतिहास' नामक स्वल्पाकार किन्तु अत्यधिक महत्वपूर्ण परिचयात्मक पुस्तक लिखी, जो कि यूरोप मे वैदिक साहित्य के अनुशीलन के लिए एक प्रेरणा पुस्तक है।

कैसे भुलाया जा सकता है ? बूह्लर ने अनेक देशों के विद्या-विशारदों के सहयोग से विशाल वैदिक और लौकिक संस्कृत साहित्य के एक विश्वकोश को प्रकाशित करने का बीड़ा उठाया था, उनके स्वर्गवास के पश्चात् कीलहार्न ने इस ग्रन्थ को पूर्ण करने का प्रयत्न किया। संस्कृत साहित्य का सर्वप्रथम इतिहास ग्रन्थ लिखने वाले Abrecht Weber १८५२ को संस्कृत के जिज्ञासुओं की दृष्टि से कदापि पृथक् नहीं किया जा सकता। इस प्रकार ४० वर्षों के कठोर श्रम करने के उपरान्त Therdor Aufrecht के Catalogus Catalogurum की भी उपेक्षा कैसे की जा सकती है ? अन्य बहुत से पाश्चात्य विद्वान् जिन्होंने भारतीय संस्कृति एवं साहित्य का अनुसन्धानात्मक कार्य किया, वे हैं—मैकडानल हॉपकिन्स, ह्विट्ज, विन्टरनित्ज पार्जिटर, ओल्डनबर्ग, पीटर्सन, हर्टल, ऐगलिंग, रिज्ली, बोप आदि। यह इतनी सी ही संक्षिप्त कहानी संस्कृत साहित्य के पाश्चात्य देशों के परिचय की है जो कि पाश्चात्य विद्वान् मनीषियों के अध्यवसाय एवं जिज्ञासु प्रवृत्ति की सूचक है। आज तो संस्कृत का न जाने किन-किन देशों में अध्ययन हो रहा है। वस्तुतः यह भारतीय विश्वकोश के लिए सदा पठनीय बना रहेगा।

प्रश्न—वेदाध्ययन करने वाले प्रमुख पाश्चात्य विद्वानों के कार्य की समीक्षा कीजिए। —आ० वि० वि० ६०

**Assess the value of the contribution to the Vedic studies made by prominent Western Scholars.**

उत्तर—प्राचीन मध्यकाल मे योरोपीय देशों में भारतीय साहित्य की ख्याति पचतन्त्र, हितोपदेश आदि की कथाओं के माध्यम से पहुंच चुकी थी, इतना सब होते हुए भी यूरोपवासी भारतीय सस्कृति एव वैदिक साहित्य से सर्वथा अपरिचित ही थे। सत्रहवी सदी मे कुछ यूरोपीय धर्म-प्रचारकों ने सस्कृत का ज्ञान प्राप्त किया, इसी मध्य एक यहूदी प्रचारक ने यजुर्वेद की नकली प्रति का प्रचुर प्रचार किया और इस पुस्तक का उनके देश मे अत्यधिक आदर हुआ, यद्यपि वाल्टेयर जैसे व्यक्तियो ने इसको महत्त्व दिया था, किन्तु वास्तव मे इसी पुस्तक के कारण ही पाश्चात्य देशो मे सस्कृत साहित्य एवं भाषा के सम्बन्ध मे कुछ भ्रमों की उद्भावना भी हुई, जिसके परिणामस्वरूप सस्कृत साहित्य एक भ्रमपूर्ण निरर्थक ब्राह्मणो का वाग्जाल भी सिद्ध किया गया। इतना होने पर

शाखा की सामसंहिता का १८४२ में इंगलिश अनुवाद सहित, बेनफेसाहब का कौथुमीय शाखीय सामसंहिता का, १८४८ में जर्मन अनुवाद तथा रॉथ और ह्विटनी द्वारा १८५६ में अथर्ववेद का संस्करण, कश्मीर में प्राप्त अथर्ववेदीय जीर्ण-शीर्ण पिप्पलाद-संहिता का प्रो० ब्लूमफील्ड तथा गार्वे द्वारा 'सचित्र' तीन संस्करणों में प्रकाशन पश्चिमी विद्वानों का वेद विषयक प्रेम तथा अध्यवसाय एवं उनकी साहित्यिक जिज्ञासु प्रवृत्ति का परिचायक है।

प्रो० हाग का भूमिका सहित ऐतरेय ब्राह्मण का अनुवाद डा० आउफ्रेक्ट द्वारा इसी ऐतरेय ब्राह्मण का रोमन अक्षरों में एक संस्करण, प्रो० लिण्डन कृत कौषीतकी ब्राह्मण का संस्करण, माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण का बर्लिन से प्रकाशित वेबर महोदय का संस्करण आदि ब्राह्मण ग्रन्थ भी पाश्चात्य विद्वानों द्वारा पूर्ण सजधज के साथ प्रकाशित हुए हैं। डा० बर्नेल ने अनेक सामवेदी ब्राह्मणों का प्रकाशन कराया है, इसी प्रकार जैमिनीय ब्राह्मण का कुछ महत्त्व-पूर्ण अंश सटिप्पणी अंग्रेजी अनुवाद सहित डा० एर्टल ने प्रकाशित कराया है। इसी का जर्मन अनुवाद डा० कैलेन्ड ने प्रकाशित कराया है। प्रो० गास्ट्रा द्वारा प्रकाशित गोपथ ब्राह्मण का नागर अक्षरों में प्रकाशित संस्करण भी इस दिशा में स्तुत्य प्रयास है।

पाश्चात्य विद्वानों ने अनेक श्रौत सूत्रों का भी प्रकाशन किया है। आश्व-लायन तथा पारस्कर गृह्यसूत्र के सम्पादक स्टेन्सर, शाखायन श्रौतसूत्र के सम्पादक हिलेब्राण्ट, बोधायन श्रौतसूत्र के सम्पादक कैलेन्ड, आपस्तम्ब श्रौत-सूत्र के सम्पादक गार्वे, मानव श्रौतसूत्र के सम्पादक क्नाउएर (Kanuer) कात्यायन श्रौतसूत्र के सम्पादक वेबर तथा कौशिक श्रौतसूत्र के सम्पादक ब्लूमफील्ड के नाम भी उल्लेखनीय हैं, सम्पादित संस्करण इनके परिश्रम एवं साधना के परिचायक हैं।

## अनुवाद

यूरोपीय विद्वानों ने जहाँ प्राचीन ग्रन्थों के संस्करण निकाले वहाँ अनुवाद कार्य भी किया है। सबसे पहले सन् १८५० डा० विलसन ने सम्पूर्ण ऋग्वेद का सायणभाष्य सहित अनुवाद प्रकाशित किया। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद का एक अनुवाद ग्रासमन महोदय ने जर्मन पद्य में किया, तो दूसरा रॉथ महोदय की इस शैली का अनुकरण करते हुए लुडविग ने जर्मन गद्यानुवाद किया। इसके कुछ समय बाद ही ग्रीफिथ महोदय ने ऋग्वेद का अंग्रेजी

पश्चिमी विद्वानों द्वारा किए गए वैदिक साहित्य विषयक कार्य को भी बलदेव उपाध्याय ने तीन भागों मे विभक्त किया है, वह इस प्रकार है—

(१) वैदिक ग्रन्थो का वैज्ञानिक शुद्ध संस्करण

(२) वैदिक ग्रन्थों का अनुवाद

(३) वेदार्थ के अनुशीलन विषयक ग्रन्थ तथा वैदिक संस्कृति के रूप प्रकाशक व्याख्या ग्रन्थ।

## ग्रन्थों के संस्करण

वैदिक साहित्य के अध्ययनकर्त्ताओं में सर्वाधिक उदारचेता विद्वान् मैक्समूलर महोदय हैं, आपने वैदिक साहित्य का अत्यधिक प्रचार किया है। आपकी प्रतिभा भारतीय धर्म, दर्शन एव संस्कृति का सहानुभूतिपूर्वक अध्ययन कर उसके मूल में पहुँचने मे प्रवीण है। आपने ऋग्वेद के सायण-भाष्य का सर्वप्रथम विवेचनापूर्ण सम्पादन किया है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन के उपरान्त पाश्चात्य विद्वानो ने पर्याप्त लगन से यहाँ के ग्रन्थों का सम्पादन, अनुवाद आदि कार्य प्रारम्भ कर दिया। इस विशाल ग्रन्थ का सम्पादन, विस्तृत भूमिका तथा विद्वान् लेखक की टिप्पणियाँ अपने मे बेजोड हैं। इस ग्रन्थ का प्रकाशन १८४६ ई० मे प्रारम्भ हुआ था तथा १८७५ मे वह पूर्णतः प्रकाशित हुआ। मैक्समूलर महोदय की द्वितीय कृति 'वैदिक सस्कृत साहित्य' है जिसमे उन्होंने वैदिक साहित्य के विषय मे पर्याप्त विचार-विमर्श किया है। इसके साथ ही साथ पवित्र प्राच्य ग्रन्थमाला में अनेक विद्वानों के लेखो व अनुवादो को आपने प्रकाशित किया है।

वेद-विद्यार्थी डा० वेबर का नाम भी वैदिक साहित्य के अध्ययन करने वाले पाश्चात्य विद्वानो मे उच्चतम स्थान को प्राप्त करता है। अद्वितीय प्रतिभाशाली इस विद्वान ने यजुर्वेद सहिता तथा तैत्तिरीय सहिता का प्रकाशन किया है। यही नहीं, इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य इनका "इन दशेस्तूदियन" नामक जर्मन शोध-पत्रिका का प्रकाशन है। इसमे न जाने कितने लेख और अनुवादो का प्रकाशन हुआ है। इसी परम्परा में आउफ्रेक्ट नामक विद्वान् द्वारा रोमन-लिपि मे प्रकाशित ऋग्वेद का सस्करण भी है। जर्मन विद्वान् श्रोदर का मैत्रायणी सहिता तथा काठक संहिता —— भी महत्त्वपूर्ण कार्य है। स्टीवेन्सन महोदय का राणायनी

को भी नहीं छोड़ा है। इस विषय पर भी प्रो० वेबर तथा आर्नोल्ड ने पर्याप्त श्रम किया है।

वैदिक पुराण-विज्ञान के ऊपर पाश्चात्य विद्वानों ने अनुपम कार्य किया है। इसमें वैदिक धर्म का अन्य धर्मों से तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। वैदिक धर्म पर प्रो० मैक्समूलर, मैक्डानल तथा जर्मन विद्वान् हिलेब्राण्ट ने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। जर्मन भाषा में लिखित हिलेब्राण्ट का वेदिशेमयोलोजी एक वृहदाकार रचना है। इसके अतिरिक्त डा० मैक्डानल का वैदिक मायोलोजी भी एक प्रामाणिक ग्रन्थ है। डा० कीथ रचित 'रिलीजन एण्ड फिलासोफी आफ वेद एण्ड उपनिषद्' नामक ग्रंथ वैदिक धर्म तथा उपनिषद् के तत्व ज्ञान की एक प्रामाणिक मीमांसा करने वाला ग्रंथ है।

वैदिक साहित्य के इतिहास विषयक ग्रंथों की रचना भी इन यूरोपीय विद्वानों ने की है जिनमें डा० वेबर का 'वेद का साहित्य तथा इतिहास' वैदिक साहित्य का परिचय देने वाला सर्वप्रथम ग्रंथ है। यह ग्रन्थ पहले जर्मनी भाषा में निकला था, किन्तु बाद में इसका अंग्रेजी में भी अनुवाद किया गया था। मैक्समूलर महोदय का 'हिस्ट्री आफ एनशियेण्ट संस्कृत लिटरेचर' नामक ग्रन्थ वैदिक साहित्य का सूक्ष्म परिचय देने वाला एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसी प्रकार मैक्डानल महोदय का 'हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर' नामक ग्रन्थ वैदिक साहित्य का विशेषत परिचय देता हुआ प्रारम्भिक ज्ञान के इच्छुक छात्रों के लिए उपयोगी ग्रन्थ है। ऊपर निर्दिष्ट ग्रंथों के अतिरिक्त सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है 'हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर' जो कि ऊपर बताये तीनों ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक व्यापक एवं पूर्ण विवेचन करने वाला ग्रंथ है। यह ग्रंथ तीनों भागों में पहले जर्मन भाषा में प्रकाशित हुआ था, किन्तु बाद में इसके दो भागों का अंग्रेजी में अनुवाद कलकत्ता विश्वविद्यालय ने प्रकाशित किया है। अब इसके एक भाग का हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित हो चुका है।

वैदिक साहित्य के अध्ययन की परम्परा में वैदिक साहित्य के सूची ग्रन्थों की भी उपयोगिता है। प्राचीन भारत के अनुक्रमणी ग्रन्थ इन ग्रन्थों के प्रेरणा स्रोत कहे जा सकते हैं। इस विषय का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ डा० ब्लूमफील्ड का 'वैदिक कान्कार्डेन्स' ग्रंथ है, जिसमें वैदिक ग्रन्थों की प्रत्येक ऋचा प्रत्येक पाद तथा गद्य पदमय यजुर्वाक्यों की वृहत् सूची है। इस ग्रन्थ में विभिन्न पाठ भेदों का भी संग्रह किया गया है। डा० ब्लूमफील्ड का दूसरा

मे अनुवाद किया; इस अनुवाद कार्य मे ग्रीफिथ ने सायण भाष्य का भी पूरा-पूरा उपयोग किया है । जर्मन विद्वान् डा० ओल्डनबर्ग ने ऋग्वेद की एक विवेचनापूर्ण मार्मिक व्याख्या की है । इसमे इन्होंने प्रत्येक सूक्त के ऊपर विशद् विवेचन किया है । स्थान-स्थान पर प्राप्त विद्वानों के विचारो का उल्लेख किया है । ओल्डनबर्ग महोदय ने एक अन्य कार्य ऋग्वेद के छन्द आदि के विषय मे किया है । ऊपर निर्दिष्ट सभी अनुवाद ग्रन्थ ऋग्वेद के अध्ययन के लिए सहायक एव प्रामाणिक ग्रन्थ के रूप मे स्वीकार किये जा सकते हैं ।

अधिक उपयुक्त होगा। भारत एवं पाश्चात्य देशों में इतिहास शब्द के अर्थ में मौलिक भेद है। इतिहास शब्द से पश्चिम में केवल तिथियों का ज्ञान ही पर्याप्त माना जाता है, किन्तु भारत में सदा से ही इतिहास का अर्थ संस्कृति एवं सभ्यता लिया गया है। संस्कृति एवं सभ्यता की रक्षा से सम्बद्ध मानवीय विभूतियों को यहाँ सदा से महत्त्व दिया जाता रहा है। इसीलिए यहाँ के साहित्य में बौद्धिक, आध्यात्मिक जीवन के सूक्ष्मतम चित्रों एवं विकास की गाथा का सफल अंकन हुआ है। इसी पृष्ठभूमि में भारत में ऐतिहासिकता का सर्वथा अभाव है, यह कहना उचित नहीं है। हाँ, दृष्टिकोण का अन्तर ही प्रधान है। दूसरी बात यह है कि यहाँ की विचारधारा भी इस दिशा में प्रधान कारण है। कर्म और भाग्य का सिद्धान्त, मन्त्र-तन्त्र, जादू-टोने पर विश्वास तथा वैज्ञानिक मनोवृत्ति का अभाव आदि कुछ तत्त्व ऐसे हैं जो इतिहास के प्रणयन में बाधक हैं। तीसरी बात यह भी है कि भारत में आज के अर्थों में राष्ट्रीयता का सदा अभाव रहता है। फलतः ऐतिहासिक तत्त्व अधिक नहीं उभर सके हैं, क्योंकि बात यह है कि भारतीय परम्परा पूर्ववर्ती या सम-सामयिक राजाओं के इतिहास और प्रशस्ति काव्यों के निर्माण की अपेक्षा रामायण-महाभारत के पात्रों से सम्बद्ध नायकों के चरित्र को अपनी कृतियों के लिए चुनते रहते हैं और यदि किसी कवि ने सम-सामयिक राजा की प्रशस्ति का गान किया है तो वह समाज में प्रशंसा एवं सम्मान उतना नहीं प्राप्त कर सका—जितना रामायण-महाभारत के चरित्र नायकों के गान करने वालों ने प्राप्त किया है। पाँचवी बात यह भी हम कह सकते हैं कि यहाँ के ग्रन्थों के निर्माण एक व्यक्ति से नहीं, उनके सम्पूर्ण परिवार के परिश्रम के परिणाम होते हैं, उदाहरण के लिए ऋग्वेद की अनेक ऋचाएँ एक एवं अनेक परिवार के ऋषियों की कोमल कल्पनाएँ हैं। इसी प्रकार यहाँ के अधिकांश ग्रन्थ, कुटुम्ब ग्रन्थ सम्प्रदाय ग्रन्थ या मठ-गुरु ग्रन्थों के रूपों में मिलते हैं। इसी से सम्बद्ध एक तथ्य और यह भी है कि यहाँ एक ही नाम की उपाधि-सी चल निकलती है, जैसे—व्यास एवं विक्रमादित्य। फलतः ऐतिहासिक तत्वों के विश्लेषण में व्याघात उपस्थित हो जाता है। बहुत से नाम कुटुम्ब या गोत्र के ऊपर चल निकलते हैं, उनमें भी यही कथा निहित है। एक और बात यह भी है कि यदि किसी ग्रन्थकार का नाम मिलता है तो उसके माता-पिता का नाम नहीं होता; तो दूसरी ओर एक ही नाम के अनेक

अन्य 'ऋग्वेदिक रेपिटीशन्स' है जिसमें ऋग्वेद के मन्त्र एवं पादों की जहाँ-जहाँ पुनरावृत्ति हुई है, इसका परिचय दिया जाता है। इसी परम्परा मे कर्नेल जैकब का 'उपनिषद् वाक्य कोश' ग्रंथ ६६ उपनिषदों एवं गीता के वाक्यों की सूची प्रस्तुत करने वाला बहुमूल्य ग्रंथ है। लुईरेनों का 'वैदिक साहित्य ग्रन्थ सूची' नामक ग्रन्थ भी यूरोपीय विद्वानो के संस्कृत प्रेम एवं लगन का सूचक ग्रन्थ है, जिसमें अनेक निर्मित ग्रन्थो एवं लेखों का परिचय दिया गया है। अन्त मे हम कह सकते हैं कि यूरोपीय विद्वानों ने वैदिक साहित्य का पर्याप्त मन्थन किया है। उनका श्रम तथा साधना एव उनकी जिज्ञासु प्रवृत्ति सभी कुछ सराहनीय है।

प्रश्न—"भारतीय साहित्य के इतिहास में दी हुई समस्त तिथियाँ कागज में लगाई गई उन पिनों के समान हैं जो फिर से निकाल ली जाती हैं।" ह्विटने कृत संस्कृत ग्रामर की भूमिका में उद्धृत इस कथन की समीक्षा कीजिए।

**Discuss all dates given in Indian literary History are pins set up to be bowled down again.** —आ० वि० वि० ५६

उत्तर—भारतीय साहित्य के समय निर्धारण का प्रश्न आज भी निर्णायक रूप मे स्वीकृत नही किया जा सका है। समय निर्धारण की कितनी ही समस्याएँ अद्यावधि सुलझाने को हमारे सामने उपस्थित है। इस दिशा मे जितना भी आज तक प्रयत्न किया गया है, वह सब मात्र अनुमान के आधार पर ही है; उदाहरण के लिए, ऋग्वेद के समय का निर्णय आज तक सर्वसम्मत नहीं हो सका है जो कुछ हुआ भी है, उसमे यदि दस-बीस वर्षों का अन्तर हो तो कोई बात नही। यदि एकाध शताब्दी का अन्तर हो तो वह भी उपेक्षणीय है, किन्तु यहाँ तो हजारों वर्षों का अन्तर विद्यमान है। इसी प्रकार रामायण, महाभारत, भास, अश्वघोष तथा कालिदास के समय निर्धारण का भी प्रश्न है। इन्ही सब समस्याओ को देखकर अमेरिकन विद्वान् W. D. Whintety ने अपनी संस्कृत ग्रामर की भूमिका मे लिखा था कि भारतीय साहित्य के इतिहास मे दी हुई समस्त तिथियाँ कागज में लगाई हुई उन पिनों के समान हैं जो इच्छानुसार निकाल ली जाती हैं (All dates given in Indian literary History are pins set up to be bowled down again.) इस विषय मे अधिक कुछ लिखने से पूर्व हम ऐतिहासिक

मौर्य सिंहासनासीन हुआ। इसी के कुछ दिन बाद मेगस्थनीज सेल्युकस के राजदूत के रूप में चन्द्रगुप्त के दरबार में आया। इसके द्वारा लिखित भारतीय सांस्कृतिक अवस्था के उल्लेखों को विभिन्न ग्रन्थों में देखकर उन ग्रन्थों का रचना-काल निश्चित किया जा सकता है। २६४ ई० पू० में अशोक का राजगद्दी पर बैठना इतिहास विदित घटना है। उसके द्वारा उत्कीर्ण शिलालेख धार्मिक एवं साहित्य के इतिहास के लिए महत्त्वपूर्ण उपकरण है। १७८ ई० पू० में पुष्यमित्र ने मौर्य वंश के अन्तिम राजा को पदच्युत किया था। इस पुष्यमित्र का उल्लेख कालिदास ने अपने ग्रन्थ में किया है।

चीनी साक्ष्य के आधार पर भी भारतीय साहित्य की तिथियाँ निश्चित की जा सकती हैं। प्रथम ईसवी शती में बौद्ध उपदेशक चीन गये और उन्होंने वहाँ चीनी में बौद्ध साहित्य का अनुवाद किया। चीनी अनुवादों की तिथियाँ निश्चितप्राय हैं। फाह्यान सन् ३९९ में भारत में आया। ह्वेनसाग ६३० ई० से ६४५ ई० तक तथा इत्सिंग ६७१-६९५ तक भारत-भ्रमण करते रहे। इन यात्रियों के यात्रा-वृत्तान्त सुरक्षित है, जो कि हमारे ऐतिहासिक अध्ययन में पर्याप्त सहायता करते हैं। अरबी यात्री अल्बरुनी ने भारतीयों की इस इतिहास विषयक उदासीनता के विषय में अपने उद्‌गार इस प्रकार व्यक्त किये हैं—

"Unfortunately the Hindus do not pay much attention to the historical order of things, they are very careless in relating the chronological succession of their kings and when they are pressed for information and are at a loss, not knowing what to say, they invariably take to romancing."

दुर्भाग्यवश भारतीय लोग इतिहास की ओर अधिक ध्यान नहीं देते हैं। ऐतिहासिक विवरणों के संग्रह में वे अत्यन्त उदासीन रहे हैं। ऐतिहासिक सूचनाएँ देने के लिए उन्हें बाध्य किया गया तो वे किंकर्तव्यविमूढ होकर खड़े रह गये। वस्तुतः भारतवासी क्या लिखा गया है, की ओर अधिक ध्यान देते रहे हैं। किसने लिखा, कब लिखा, क्यों लिखा—की जानकारी से उन्हें विशेष प्रयोजन नहीं रहता है।

किन्तु सर्वथा यह नहीं समझना चाहिए कि भारतीयों में ऐतिहासिकता का सर्वथा अभाव रहा है। भारत में अनेक ऐतिहासिक कृतियाँ हैं जिनका

प्रक्षिप्त हो जाते हैं। नाम देने पर भी परिणाम में वही ढाक के तीन पात रहते हैं और यदि भाषा के आधार पर निर्णय करना चाहें तो वह भी नहीं हो पाता, क्योंकि यदि हम उदाहरण के लिए कालिदास और अश्वघोष को लें, तो भाषा की प्राञ्जलता और सौन्दर्य देखकर यही कहेंगे कि कालिदास अर्वाचीन हैं, किन्तु वस्तुस्थिति इससे भिन्न है और यदि लेखन-शैली को आधार बना कर अध्ययन करें तो यह भी समीचीन नहीं होता, क्योंकि कुछ साहित्यकार व्यक्ति का नाम की अपेक्षा ग्रन्थ को अधिक प्रसिद्ध करना चाहते हैं। इन किसी प्राचीन ग्रन्थ की शैली को अपना कर एक नूतन काव्य-साहित्य की सृष्टि कर डालते हैं। फलतः वह कृति प्राचीन समझ ली जाती है। यदि यह बात यहीं तक सीमित हो तो भी गनीमत है। वे अपना नाम भी न देकर पूर्ववर्ती किसी लेखक का नाम भी देते हैं। भाषा-शैली में एक बात और भी है, वह यह कि ग्रन्थों के मुद्रण यन्त्रों के अभाव में स्मरण के आधार पर उनके अनेक संस्करण मिलते हैं जिससे भाषा का स्वरूप भी कुछ निर्धारित नहीं हो पाता है। इसलिए भारतीय साहित्य के सम्बन्ध में Relative Chronology ही दी जा सकती है। यही कहा जा सकता है कि यह इससे पुराना है, वह इससे। किन्तु कभी-कभी यही Relative Chronology भी समय-निर्धारण में सहायक नहीं हो पाती है।

किन्तु यह कहना कि भारतीय इतिहास-सत्य से सर्वथा अपरिचित है नितान्त अनुचित होगा, क्योंकि कल्हण की राजतरंगिणी एवं विल्हण का विक्रमाङ्कदेव चरित, पद्मगुप्त रचित नवसाहसाङ्कचरित, बाणभट्ट-कृत हर्ष चरित आदि ग्रन्थों में अनेकानेक ऐतिहासिक निर्णायक तत्वों का समावेश है।

भाषा-साक्ष्य पर वेदों की प्राचीनता सिद्ध की जा चुकी है। बौद्ध एवं जैन साहित्य का काल निर्णय अनिश्चित नहीं है। विभिन्न शिलालेख, मन्दिर, सिक्के, ध्वंसावशेष आदि इनके इतिहास की ओर सकेत कर रहे हैं। बौद्ध धर्म का उदयकाल ५०० ई० पू० है। बौद्ध साहित्य में वैदिक साहित्य के संकेत सूत्र मिल ही जाते हैं। अतः वैदिक साहित्य निश्चय प्राग्-बौद्धकालीन है। भारतीय साहित्य की तिथि के विषय में अधिक निश्चित सूचना बाह्य साक्ष्य से प्राप्त होती है। सिकन्दर ने ३२६ ई० पू० में भारत पर आक्रमण किया था। इसके द्वारा ग्रीक प्रभावित साहित्य का काल निर्णय किया जा सकता है। इसी के आधार पर ज्ञात होता है कि ई० पू० में चन्द्रगुप्त

## द्वितीय अध्याय
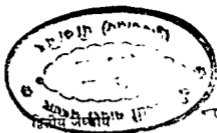
# संहिता काल

### ऋग्वेद

प्रश्न—ऋग्वेद के रचनाक्रम तथा वर्ण्य-विषय की पूर्ण समीक्षा कीजिए।

Explain the order of the arrangement of the hymns of the Rigveda and discuss the nature of its subject-matter.

—आ० वि० वि० ५३, ५४, ५६, ६१, ६२, ६५

Or

Discuss the arrangement of the Regvedic hymns and their relative chronology. —आ० वि० वि० ५७

Or

Discuss the structure of Regveda. —आ० वि० वि० ६४

Or

Review the authenticity of the Samahita text of the Rigveda.

Or

Write an essay on the composite nature of the Rigveda.

६४

ऋग्वेद के संग्रहात्मक स्वरूप पर एक निबन्ध लिखिए।

उत्तर—

**ऋग्वेद का रचना-क्रम**

यह निर्विवाद सिद्ध है कि वैदिक [illegible] की समस्त रचनाओं में ऋग्वेद संहिता सर्वाधिक प्राचीन एवं महत्वपूर्ण है। [illegible]

J. Wackernagel ने ऋग्वेद का भाषा-शास्त्रीय अध्ययन कर सिद्ध दिया है कि इसके सूक्तों की भाषा प्राचीनतम है। उनका यह भी मत है कि प्रस्तुत संहिता के सूक्तों मे कतिपय प्राचीन एव अर्वाचीन ऐसे तत्त्वो का समीकरण हुआ है जो उसे एक काल की रचना सिद्ध नही करते हैं, भले ही हम उस समस्त गुम्फित साहित्य को एक रचना मान लें। हिब्रू के स्रोतो की भाँति पृथक्-पृथक् समय मे विरचित इन सूक्तो को एक समय सग्रह के रूप मे गुम्फित कर दिया गया है। यही सग्रह प्रागैतिहासिक काल मे हस्तगत हुए थे। ऋग्वेद की प्राचीनता के सम्बन्ध मे लुडविग ने लिखा है—The Rigveda per-supposes nothing of that which we know in Indian literature, which on the other hand, the whole of Indian literature and the whole of Indian life pre-supposes the Veda. अर्थात् भारतीय साहित्य मे ऋग्वेद से पूर्वतन्तीन अन्य कोई रचना नही है। समग्र भारतीय साहित्य एव भारतीय जीवन ऋग्वेद को प्राचीनतम स्वीकार करता है। छन्दो से भी वेद की प्राचीनता सिद्ध होती है। क्योकि वैदिक एव लौकिक सस्कृत के छन्दो मे पर्याप्त अन्तर है। वैदिक साहित्य के अनेक छन्द परवर्ती साहित्य म अनुपलब्ध हैं। भौगोलिक एव सास्कृतिक दशा के वर्णन से भी ऋग्वेद की प्राचीनता विदित हो जाती है।

ऋग्वेद को भाषा एव विषय के गम्भीर विवेचन के उपरान्त विद्वानो ने यह मान्यता स्थापित की है कि शाकल शाखा के ऋग्वेद के दूसरे से सातवें मण्डल तक के सूक्त अपेक्षाकृत प्राचीन है। पाश्चात्य विद्वान् इन मण्डलो का पारिवारिक पुस्तकें (Family Books) अर्थात् कुल मण्डल के नाम से अभिहित करते हैं क्योकि दूसरे मण्डल से सातवें मण्डल तक प्रत्येक मण्डल का सम्बन्ध केवल एक ऋषि या उसके वश से है। क्रमश. उन ऋषियो के नाम है—गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज और वसिष्ठ। अष्टम मण्डल का सम्बन्ध प्रधानत कण्व ऋषि के वश से है। नवम मण्डल के ऋषि कुल-मण्डलो के ऋषियो मे से ही है—"अथ ऋषयः शर्तावनो माध्यमा गृत्समदो विश्वामित्रो वामदेवोऽत्रिर्भरद्वाजो वसिष्ठः प्रगाथाः पावमान्य. क्षुद्रसूक्ताः महासूक्तः इति" (आश्वलायन गृह्यसूत्र ३।४।२)। भारतीय विश्वास के अनुसार ये ऋषि मन्त्रो के द्रष्टा है। रचयिता नहीं अर्थात् उन्होंने योग एव तपोबल मे इन मन्त्रो का प्रथम बार दर्शन किया था। ये मन्त्र स्वय

अनादि है परन्तु आधुनिक विद्वान् इन्हें रचयिता मानने लगे हैं। वैदिक अनुक्रमणी में प्रथम, नवम और दशम मण्डल के सूक्तों के रचयिताओं के नाम दिए हुए हैं जिनमें अनेक स्त्रियाँ भी हैं, परन्तु इन नामों के अतिरिक्त इन ऋषियों का अन्य परिचय उपलब्ध नहीं है। भारतवर्ष तथा यूरोप और पाश्चात्य विद्वानों की मान्यता है कि जो परम्परा गृत्समद विश्वामित्र तथा उनके वंशधरों को उक्त सूक्तों का ऋषि बताती है, वही परम्परा स्वयं सूक्तों के कथन के साथ मेल नहीं खाती। ऋग्वेद की ऋचाओं में गृत्समद, विश्वामित्र एवं वसिष्ठ ऋषि अनन्य पुराण कथाओं तथा उपाख्यानों के नायकों के रूप में उपस्थित हैं। फिर उन्हें स्वयं ही इन सूक्तों का कर्ता एवं द्रष्टा कैसे स्वीकार किया जा सकता है। मैक्डानल (Macdonell) का अनुमान है कि Family Books द्वितीय मण्डल से सप्तम मण्डल तक का मन्त्र-समूह का मूलतः ऋग्वेद है। अवशिष्ट अंश परवर्ती काल में इसके साथ सम्बद्ध कर दिया गया है, इस विषय में उनका तर्क यह है कि अष्टम मण्डल में सप्तम मण्डल की अपेक्षा कम ऋचाओं का होना यह सिद्ध कर देता है कि अष्टम मंडल कुल-मण्डल (Family Books) से भिन्न है। कुल-मण्डल के निर्माण के अनन्तर प्रथम मण्डल के ५१-१९१ तक सूक्त कुल-मण्डलों के साथ सम्बद्ध किए गए हैं, इसके बाद १-५० सूक्त प्रथम मण्डल के तथा आठवें मण्डल के मन्त्र जो कि कण्व ऋषि के परिवार के द्वारा रचित एवं संकलित हैं। प्रथम और अष्टम मण्डल में पर्याप्त समानता है, जो कि दोनों का समान कालीन होना सिद्ध करती है। किन्तु इनमें कौन-सा मण्डल पूर्ववर्ती है तथा कौन-सा परवर्ती है, यह अनुसंधान का विषय है तथापि यह सुनिश्चित है कि इन्हें Family Books के साथ जोड़कर बाद में विशालाकार ऋग्वेद का भवन खड़ा किया गया है। नवम मण्डल में सोम देवतापरक एवं सोमपान विषयक सूक्तों का गुम्फन हुआ है। यहाँ यह बात विशेष ध्यान देने की है कि यह विभाजन का निर्धारण मन्त्र-बाहुल्य की दृष्टि से ही है, इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि बीच के समस्त मन्त्र प्राचीनतम एवं अन्य नवीन तथा नवीनतम हैं। दशम मण्डल का संचयन प्रथम नौ मण्डलों के उपरान्त हुआ है। विद्वानों ने इस विषय में अपने कुछ तर्क इस प्रकार प्रस्तुत किए हैं। प्रथम तर्क यह है कि इस मण्डल के सूक्तों में स्थान-स्थान पर पूर्व मण्डलगत सूक्तों का उल्लेख मिलता है तथा उनकी स्पष्ट छाया भी प्रतिबिम्बित दिखाई देती है। दूसरा हेतु यह भी है कि विषय एवं आकार की

उठे हैं। यही कारण है कि भारोपीय, परिवार मे ऋग्वेद का अपना विशिष्ट स्थान है। इसी महत्वपूर्ण उपलब्धि को अधिक स्पष्ट करने के हम ऋग्वेद की विषय-सामग्री का अध्ययन प्रस्तुत करेंगे। ऋग्वेद का अर्थ है, ऋचाओं का वेद। छन्दोबद्ध मन्त्रो को ऋक् या ऋचा कहा जाता है और वेद शब्द का अर्थ है ज्ञान। ऋचाओ का जो ज्ञान है उसे ऋग्वेद कहते हैं। यद्यपि ऋचाएँ अन्य वेदो मे भी संगृहीत हैं; किन्तु ऋग्वेद तो केवल ऋचाओ का ही संग्रहमात्र है "ऋचा से स्तुति की जाती है, जिनकी स्तुति की जाती है उनको देवता कहते हैं।" इस प्रकार हम कह सकते हैं कि इन संहिता मे केवल देवताओ की स्तुतियाँ हैं। किन्तु हम यदि और भी सूक्ष्म अध्ययन करे तो ऋग्वेद के मन्त्र दो प्रकार के मिलते हैं एक तो वे हैं जो कि यज्ञ एव देवो की स्तुति के प्रयोग मे आते हैं, दूसरे वे हैं जिनमे ब्रह्मविद्या, धार्मिक विचार, व्यवहार एव मान्यताओ का उद्घाटन किया गया है। ऋग्वेद के अध्ययन से तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक एव धार्मिक दशा पर भी प्रकाश निक्षेप होता है। यही नही, ऋग्वेद मे सृष्टि रचना, दार्शनिक विचार, वैवाहिक रीति, पशु-पक्षी, वृक्षो आदि से सम्बद्ध भी कुछ मन्त्र मिल जाते हैं। ऋग्वेद मे कुछ सम्वाद सूक्त भी मिलते हैं किन्तु अधिकाश मन्त्र विभिन्न देवताओ की स्तुतियो से ही सम्बद्ध हैं, केवल चालीस सूक्त ऐसे हैं जो किसी देव-विशेष से सम्बद्ध नही हैं, इनमे जन-जीवन के चित्र हैं तथा विभिन्न स्थानो, राजकुमारो व गायकों के दान स्तुतियो मे आए हुए नाम भी मिलते हैं।

ऋग्वेद के सूक्तो के सम्बन्ध मे केजी (Kaegi) का अपना विचार यह भी है कि अधिकतर सूक्त देवताओ के प्रति विभिन्न अवसरो पर किये गये आह्वान तथा उनसे सम्बद्ध यशोगान के लिए हैं, उनमे हार्दिक सुकुमारता एव अमर्त्य देवताओं की सस्तुतियाँ हैं। Kaegi तो ऋग्वेद के सम्बन्ध मे यह भी लिखता है कि ऋग्वेद मे निम्न कोटि की रचनायें भी मिलती हैं, किन्तु इन रचनाओ मे सर्वथा उदात्त आध्यात्मिक तत्त्वो का अभाव हो, ऐसा स्वीकार नही किया जा सकता है, यह सत्य है कि अनेक सूक्तों का प्रयोग यज्ञ के अवसरो पर किया जाने लगा था फिर भी इन मन्त्रों मे भी उत्तम कविता के दर्शन होते हैं, इनमे अपने पूर्वजो का आध्यात्मिक विकास उत्कृष्ट रूप मे दृष्टिगोचर होता है। इन मन्त्रो मे हम Child like simplicity, the fressness or delicacy of feelings boldness of methaphor, flight of imagination सरलता,

सूक्त—मण्डल, अनुवाक और वर्ग के क्रम से दूसरा—मण्डल, अनुवाक और सूक्त है। मण्डल क्रमानुसार सूक्त एवं मन्त्रों की संख्या इस प्रकार निर्दिष्ट की है—

| मण्डल | सूक्त संख्या | मन्त्र संख्या |
|---|---|---|
| प्रथम मण्डल | १९१ | २००६ |
| द्वितीय मण्डल | ४३ | ४२९ |
| तृतीय मण्डल | ६२ | ६१७ |
| चतुर्थ मण्डल | ५८ | ५८९ |
| पंचम मण्डल | ८७ | ७२७ |
| षष्ठ मण्डल | ७५ | ७६५ |
| सप्तम मण्डल | १०४ | ८४१ |
| अष्टम मण्डल | ९२ | १६३६ |
| नवम मण्डल | ११४ | ११०८ |
| दशम मण्डल | १९१ | १७५४ |
| | १०१७ | १०४७२ |

तथा ग्यारह बालखिल्य सूक्तों को जोड़ देने पर ऋग्वेद की सूक्त संख्या १०२८ एवं मन्त्र संख्या लगभग १०६०० हो जाती है।

सिद्धान्ततः वैदिक साहित्य के विषय में यह मान्यता प्राप्त थी कि जिस वेद की जितनी शाखाएँ होंगी, उतने ही ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद् भी होंगे; किन्तु दुर्भाग्यवश समस्त वैदिक साहित्य के उपलब्ध न हो सकने के कारण यह क्रम आज सर्वांशतः ठीक नहीं है। आज ऋग्वेद संहिता के दो ब्राह्मण, दो आरण्यक और दो उपनिषद् मिलते हैं जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—

ऐतरेय ब्राह्मण तथा कौषीतकी ब्राह्मण।

ऐतरेय आरण्यक तथा कौषीतकी आरण्यक।

ऐतरेय उपनिषद् तथा कौषीतकी उपनिषद् तथा एक आश्वलायन नामक श्रौतसूत्र भी मिलता है।

### विषय-वस्तु

ऋग्वेद-संहिता विश्व की प्राचीनतम कृतियों में से एक अन्यतम रचना है. इसमें भारतीय मनीषी ऋषि-महर्षियों के [illegible] देव [illegible] हो

पाए जाते हैं। अनेक मन्त्र सूर्यदेव, चन्द्रदेव, अग्निदेव, सविदेवी,
देव के लिए नहीं अपितु प्राकृतिक शक्ति के रूप में जाज्वल्यमान
देदीप्यमान अग्नि आदि के लिए समर्पित हैं। बादलों से चमकती वि
दिवस का प्रकाशित एवं रात्रि का नक्षत्रपूर्ण आकाश, गरजते हुए तूफान, मेघ
व नदियों के बहते हुए जल, चमकती उषा, फलों से भरी हुई वसुधा इन प्राकृ-
तिक शक्तियों की ही स्तुति पूजा एवं प्रशंसा की गई है। आगे यही प्राकृतिक
तत्त्व पौराणिक देवताओं के रूप में परिवर्तित हो गए हैं। उदाहरण के लिए—
सूर्य, चन्द्र, अग्नि, द्यौ, मरुत, वायु, आप, उषा, पृथ्वी आदि। यह भी आज
निश्चित हो चुका है कि पहले वैदिक देवताओं के पीछे प्राकृतिक शक्तियाँ थीं
जिन्हें बाद में भुला दिया गया है। संक्षेप में हम ऋग्वेद कालीन धर्म की विशेष-
ताओं का संकेत करते हुए ऋग्वेद की विषय-वस्तु का परिचय प्रस्तुत करेंगे—

ऋग्वेद के महत्त्वपूर्ण बड़े-बड़े देवता प्रकृति की विभिन्न शक्तियों के प्रतीक हैं। यही नहीं, समस्त देवताओं में अधिकांशत गुण, शक्ति, तेज आदि में साम्य प्रतिबिम्बित होता है। प्रत्येक देवता की स्तुति एक से गुणों से की गई है। वैदिक देवताओं में बहुत से देवता युग्म रूप में भी प्रस्तुत हैं, जैसे—मित्रावरुण, द्यावा-पृथ्वी आदि तथा कुछ देवता समुदाय रूप में भी आते हैं, जैसे—मरुद्गण, आदित्यगण, वसुगण, विश्वे देवा, ऋभुगण आदि। कहीं-कहीं अनेक गुण अनेक देवों में समान रूप से परिगणित किये गए हैं। उदाहरण के लिए "हे अग्नि! तुम उत्पन्न होते ही वरुण (अन्धकार के निवारक राज्याभिमानी देव) होते हो। समिद्ध होकर तुम मित्र, (हितकारी) होते हो। समस्त देवगण तब तुम्हारा अनुवर्तन करते हैं। हे बलपुत्र, तुम हव्यदाता यजमान के इन्द्र हो (५०।३।१)। इस प्रकार अग्नि, वरुण, मित्र तथा इन्द्र के रूप में स्तुत एक ही देव है। विभिन्न देवता एक ही शक्ति के रूपान्तर हैं उदाहरणत शक्ति के तीन रूप माने गए हैं—प्रथम, पृथ्वी पर साधारणअग्नि, द्वितीय वायुलोक की विद्युत अग्नि एव सूर्य के रूप में तृतीय, पवित्र अग्नि। इस प्रकार अग्नि विद्युत एव सूर्य मूलतः एक ही शक्ति के विभिन्न रूप हैं। ऋग्वेद में कहीं-कहीं एकेश्वरवाद की भावना भी परिलक्षित होती है। एक देवता-विशेष मात्र सभी देवताओं का ही नहीं अपितु वह तो प्रकृति का भी प्रतिनिधि माना गया है। यही एकेश्वरवाद की भावना आगे चलकर वेदान्त के अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि के रूप में प्रतिष्ठित हुई है। ऋग्वैदिक धर्म में एक बात विशेष रूप से देखी जाती है कि ऋग्वेद

नवीनता, उदात्त भावना, अलङ्करण और कल्पना का वैभव देख सकते हैं। ओल्डनबर्ग का भी विषय मे कहना है कि यज्ञशाला मे मन्त्रो के द्वारा बर्बर-युगीन पुरोहित अपने देवो का आह्वान करते थे। ये देवगण आकाश मार्ग से अश्व एव रथ पर आरूढ होकर घृत, मास आदि हव्य ग्रहण करने तथा सोम-पानार्थ आते थे। ये पुरोहितगण किसी एक देव को नही अपितु अनेक देवताओं को अनेक विशेषणो से लाद देते थे। इन्ही कर्मकाण्ड मे दक्ष पुरोहितो ने ही वेद-मन्त्रो का निर्माण किया है। इसीलिए वेदो को ओल्डनबर्ग Oldest Document of Indian Literature and Religion कहता है। यही नहीं, वह तो The clear trace of an ever increasing intellectual con-vation भी मानता है। विन्टरनिट्ज भी वेदो को क्रमिक सकलन का परिणाम मानता हुआ कहता है कि कुछ मन्त्रो का निर्माण यज्ञो से पृथक् सर्वथा स्वतन्त्र मार्ग पर हुआ है। यद्यपि बाद मे कुछ मन्त्र यज्ञो के लिए भी निर्मित हुए, स्वतन्त्र रूपण भी बने; किन्तु बाद मे दोनो का प्रयोग एक साथ होने लगा। कहने का आशय यही है कि वैदिक सूक्तो की रचना यज्ञ एव देवो की स्तुतियो के लिए ही हुई है किन्तु कुछ सूक्तो मे अन्यान्य विषयो का भी समावेश हो गया है।

वैदिक देवताओं का विश्लेषण करते हुए निरुक्तकार क्रमश. उन्हें पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक से सम्बन्ध रखने के कारण तीन प्रकार के मानते हैं। अग्नि, सोम, पृथ्वी आदि देव पृथिवी स्थानीय कहलाते हैं, इन्द्र, रुद्र, वायु, आदि देव अन्तरिक्ष स्थानीय और वरुण, मित्र, उषस्, सूर्य आदि देव द्युस्था-नीय। उपर्युक्त देवो को भी चार रूपों मे माना गया है—

(१) प्राकृतिक शक्ति रूप देवता इन्द्र, सूर्य, सविता, पूषा आदि।

(२) गृह देवता अग्नि, सोम आदि।

(३) कल्पना अथवा भावजन्य मन्यु, श्रद्धा आदि।

(४) गौण देवता—गन्धर्व, अप्सरा आदि।

निरुक्तकार ने आकार की दृष्टि से देवों के दो विभाजन किये हैं—एक, पुरुष विधि; दूसरे, अपुरुष विधि। "एक प्रकार से अपना व्यक्तित्व रखने वाले इन्द्र अग्नि आदि देवताओं के अतिरिक्त ऋग्वेद में ऐसे भी देवता हैं जिनका कोई व्यक्तित्व नहीं माना जा सकता, उदाहरणार्थ, मन्यु श्रद्धा आदि ऐसे ही देवता हैं।" ऋग्वेद के मन्त्रों में दीर्घतमा के [illegible] [illegible] दार्शनिक अवस्था में

प्रारम्भ मे ही उसकी स्थापना एवं आराधना की जाती है। पूषा को पुष्टि-कारक देव एव पशुओ के सरक्षक के रूप में कहा गया है। पूषा से प्रार्थना की गई है कि आप हमारे पशु धन की रक्षा मे सदा तत्पर रहा करे। ऋग्वेद मे यम को भी देवता के रूप मे प्रतिष्ठा प्राप्त है। यम से प्रार्थना की गई कि वह यहाँ से मृत्यु द्वारा वियुक्त प्राणियो को अन्यत्र कल्याणप्रद स्थान देकर सुख प्रदान करे। द्यौ द्युलोक के देवताओ मे सबसे प्राचीन है। यह पृथ्वी के साथ युग्म रूप मे संस्तुत है। अनेक सूक्तो मे इसे अखिल विश्व का पालक तथा माता-पिता के रूप मे सम्बोधित किया गया है। विष्णु की त्रिविक्रम के रूप में स्थापना की गई है। विष्णु वह है जो तीनो लोको मे व्याप्त हो। विष्णु वेद मे कहीं-कहीं सूर्य का वाचक भी है। इसे उरुगाय भी कहा जाता है। विष्णु देवताओ मे सर्वाधिक चतुर है। परवर्ती साहित्य मे यही विष्णु अवतारवाद का मूल प्रेरक तत्त्व बन गया है। अश्विनौ ऋग्वेद मे युग्मदेव हैं जो कि सूर्य पुत्री सूर्या के साथ स्वर्णिम रथ पर आरूढ होकर चलते हैं। इन्हे देवो का वैद्य भी कहा जाता है। कुछ विद्वानो ने इन्हे दो सन्ध्या, कुछ ने प्रात एव सायंकालिक नक्षत्र माना है। पाश्चात्य विद्वानो की दृष्टि मे निरुक्त-कार को इनका स्वरूप विदित नही था। मरुत, रुद्र और पृश्नि के पुत्र एक योद्धा हैं जो कि हाथ मे विद्युति धारण करते हैं, स्वर्णिम रथ इनकी सवारी है। इनके घोडे चितकबरे है। प्रचण्ड ध्वनि करते है। इन्द्र की सदैव सहायता करने वाले देवो मे से एक है। हवा और वर्षा का देव पर्जन्य है। इसकी वृषभ से तुलना की गई है। इसकी स्तुति मे केवल तीन सूक्तों की रचना हुई है। उषस् नामक देव की उपासना मे काव्यात्मक, मनोरम एव अनूठे सूक्तो की रचना हुई है। इसे एक नवयुवती की तरह जाज्वल्यमान देवी के रूप मे चित्रित किया गया है, जो कि पूर्व दिशा का द्वार खोलकर धरा पर अवतीर्ण होती है। रुद्र भी एक देवता के रूप मे ऋग्वेद मे आते है, किन्तु उत्तरकालीन रुद्र से ऋग्वैदिक रुद्र का स्वरूप भिन्न है। तीन या चार सूक्तो मे इनका स्तवन है। यह धनुर्धारी, भयानक एव अनिष्टकारी देव है।

हम कुछ भाव देवताओ का ऊपर वर्णन कर चुके है। उनका आगमन ऋग्वेद के दशम मण्डल मे होता है। इनमे से श्रद्धा (Faith) मन्यु (Wrath), काम (Desire) .. आदि है। इसी श्रेणी के एक देवता बृहस्पति भी है। जिसे Roth भक्ति भावना का प्रतीक मानते है तो Macdonell अग्नि के विशेष

में प्रत्येक देवता को सर्वश्रेष्ठ देवता के रूप में मान्यता प्राप्त है। वैदिक देवताओं का विग्रह मानवीय है। उन देवताओ के भी मनुष्यों के समान सिर, आँख, भुजा, हस्त, पाद आदि हैं किन्तु ये छायात्मक हैं जैसा कि अग्नि के स्वरूप वर्णन में अग्नि की ज्वालायें ही उनकी जिह्वा हैं। सूर्य की रश्मियाँ ही उसकी भुजायें हैं। ऋग्वैदिक देवता विविध आयुध एवं वाहनों के साथ संयुक्त हैं, किन्तु इन्द्र के व्यतिरिक्त सभी शान्तिप्रिय हैं। तात्कालिक भारतीयों की देवताओं के सम्बन्ध में यह आस्था दृढ़ीभूत थी कि देवता उन्हें दीर्घायुष्य एवं वैभव प्रदान करते हैं किन्तु इतना होने पर भी देव-मन्दिरों की सत्ता अथवा मूर्ति-पूजा का उल्लेख ऋग्वेद में प्राप्त नहीं होता है। वैदिक देवताओं की एक विशिष्ट विशेषता उनकी चारित्रिक उज्ज्वलता में निहित है। वैदिक धर्म में देवियों का स्थान भी सुरक्षित है किन्तु गौण रूप में। वे मात्र देवताओं की प्रतिच्छाया हैं। कुल मिलाकर हम यह कह सकते हैं कि ऋग्वेद का निर्माण विशेष रूप में देवों की स्तुति के लिए ही हुआ है। ऋग्वेद में अनेक देवताओं का वर्णन है जिसमें द्यौ, वरुण, सूर्य, सविता, पूषन, विष्णु, अश्विनौ, पर्जन्य, इन्द्र, अग्नि, उषा, सोम आदि प्रमुख हैं। ऋग्वेद में सार्वधिक स्तुति इन्द्र की ही की गई है। इसके लिए लगभग २५० सूक्तों का निर्माण हुआ है। इन्द्र को वृत्र का मारने वाला, देवताओं का अधिपति देवराज, यज्ञ का अधिष्ठाता सर्वाधिक शक्तिशाली कहा गया है। यही नहीं, सुखमय समृद्धि का प्रदाता भी माना गया है। इन्द्र के पश्चात् सूर्य की स्तुति में भी पर्याप्त ऋचाओं का दर्शन किया गया है—सूर्य, सविता आदि नामों द्वारा उस प्रकाशमान शक्ति की स्तुति की गई है जो कि हमारे दुःखों का हरणकर्ता, सौभाग्यदायक ज्ञान का प्रकाशक है। सोम नामक देव का स्तवन भी ऋग्वेद में सम्पादित (ऋग्वेद के नवम मण्डल एवं कुछ अन्य मण्डलों के सूक्तों) किया गया है। वैदिक देवताओं में इसका तीसरा स्थान है। इसकी सृष्टि दस कुमारिकाएँ करती हैं जो इसकी बहन हैं। अग्नि आर्यों का सर्वप्रिय गृहदेवता है, सूक्तों की संख्या की दृष्टि से सम्भवतः इन्द्र के बाद इसी की उपासना-स्तुति अधिक हुई है। अग्नि के सम्मानार्थ लगभग २०० सूक्तों का सृजन हुआ है। ऋग्वेद की ऋचाओं में अग्नि को ही आर्यों का सर्वप्रिय देव, गृह वासी का नायक, भू-[illegible] में विद्युत् रूप में, [illegible] का कर्ता एवं आकाश में सूर्य, आदि रूप में दर्शाया गया है। अग्नि को 'दूरदर्शी' की संज्ञा दी गई है। यज्ञ के का दाता कहा गया है।

भेड़ें, बकरियाँ, गधे, कुत्ते भी मिल जाते हैं। पक्षियो मे हंस का उल्लेख मिलता है, जिसके गुणों मे जल तथा सोम को पृथक् करना बताया गया है। चक्रवाक् का नाम भी ऋग्वेद मे एक बार आया है। ऋग्वेद मे मयूरी विष दूर करने वाली मानी गई है।

ऋग्वेद मे वृक्षादि का वर्णन अत्यल्प है किन्तु दशम मण्डल का ६७वाँ ओषधि सूक्त जिसमे अन्यान्य वनस्पतियो के रोग-प्रसारण-शक्ति की प्रशसा है तो इसी मण्डल के १४६वे सूक्त मे अरण्यानी की प्रशसा है। हाँ, लता के रूप मे सोम का उल्लेख अनेकश मिलता है।

असुर-राक्षस वर्णन भी ऋग्वेद मे दृष्टिगोचर होता है। देवो के शत्रु असुर हैं तथा मनुष्यो के शत्रु राक्षस कहलाते हैं।

ऋग्वेद मे हम कुछ ऐसे सूक्तो के भी दर्शन करते हैं, जिनमे देवताओ की स्तुति, प्रशसा आदि नही है। किन्तु अथर्ववेदीय अभिचार सूक्तो की भाँति ही यहाँ अभिचार सूक्त भी हैं। द्वितीय मण्डल के शकुन विचारपरक दो-तीन सूक्त मिल जाते हैं। पहले मण्डल का १९१वाँ सूक्त विषैले सर्पादि तथा दशम मण्डल का १६३वाँ सूक्त यक्ष्मा रोग निवारक सूक्त है। कुछ सूक्त मरणासन्न व्यक्ति के आयुवर्धक मन्त्रो से युक्त हैं। सन्तानप्राप्ति विधान-परक एक सूक्त (१८३) दशम मण्डल मे विद्यमान है तो इसी मण्डल का १६२वाँ सूक्त बच्चो के विनाशक प्रेतात्माओ का निवारक सूक्त है। यही नही, शत्रु विनाश के लिए भी एक सूक्त का सृजन हुआ है तो दूसरी ओर एक पत्नी अपनी सपत्नियो से पति को विमुख कर अपने वश करने का भी प्रयत्न करती है। इन सूक्तो को हम लौकिक सूक्त कह सकते हैं। इसी प्रकार ऋग्वेद मे ४७ ऋचाओ का दसवे मण्डल का ८५वाँ सूक्त विवाह सूक्त है जिसमे तात्कालिक वैवाहिक प्रक्रिया का सर्वांग निरूपण है। जहाँ ऋग्वेद मे विवाह सूक्त है, वहाँ अन्त्येष्टिपरक सूक्तो की भी कमी नहीं है। अन्त्येष्टिपरक सूक्तो की सख्या लगभग पाँच है। ये पाँचो सूक्त दसवें मण्डल के ही हैं। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के १६४वें सूक्त मे प्रहेलिकाएँ भी मिलती हैं जो अर्थ की दृष्टि से जटिलतम हैं, किन्तु सभी पहेलियाँ दुर्ज्ञेय एव दुर्बोध हैं, यह स्वीकार नही किया जा सकता। कुछ प्रहेलिकाओं के अर्थ गङ्गाजल की भाँति स्पष्ट है। एक प्रहेलिका का अभिप्राय एक वर्ष, बारह मास, तीन ऋतुओं और तीन सौ साठ दिनो से है।" आशय

कर्म का प्रति रूप। किन्तु यह तो निर्विवाद सत्य है कि यह बृहस्पति वेदोत्तर कालीन बृहस्पति से सर्वथा भिन्न है। ऋग्वेद में गौण देवता के रूप में गन्धर्व, अप्सराएँ यत्र-तत्र देखने को मिल जाती हैं। देवियों में देवमाता अदिति का नाम सम्मान के साथ लिया जाता है।

यह निर्विवाद सिद्ध है कि ऋग्वेद का मुख्य विषय देवताओं की स्तुति ही है किन्तु प्रासङ्गिक रूप में अन्यान्य विषय भी आ गए हैं। ऋग्वेद में हमें दार्शनिक विचार भी देखने को मिल जाते हैं। विवेचनीय वेद में छह या सात सूक्त इस प्रकार के हैं जिनमें विश्व की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जगत् के स्रष्टा आत्मा परमात्मा के सम्बन्ध में वैदिक ऋषियों की विचारधारा देखने को मिल जाती है। एक अचिन्त्य शक्ति जिसे प्रजापति, ब्रह्मणस्पति, बृहस्पति अथवा विश्वकर्मा कह लीजिए अथवा देव-विशेष कह लीजिए, किन्तु यह सत्य है कि सांसारिक वस्तुजात ब्रह्म की कल्पना के अतिरिक्त कुछ नहीं है। उसी एक ही तत्त्व को विद्वान् अनेक नामों से पुकारते हैं—

> इन्द्र मित्रं वरुणमग्निमाहुरथः दिव्यः सुपर्णो गरुत्मान् ।
> एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥
>
> —ऋ० १।१६४।४६

इस प्रकार वैदिक धर्म की विचारधारा में एक सर्वतन्त्र स्वतन्त्र सृष्टि-कर्त्ता को मान्यता प्राप्त है, जिसके अनेक नाम होते हुए अन्ततः वह एक है। दशम मण्डल के पुरुष सूक्त में सृष्टि की उत्पत्ति एक महामानव से मानी गई है, जिससे सहस्र शीर्ष एवं सहस्र पाद हैं। यह पुरुष के रूप में परम सत्य की विराट् कल्पना है, जिसके प्रत्येक अंग से अन्यान्य तत्त्वों की उत्पत्ति हुई है। उसके सिर से आकाश, नाभि से वायु, पाद से पृथ्वी, मस्तिष्क से चन्द्रमा, नेत्र से सूर्य एवं श्वास से वायु का उद्भव हुआ है। इसी विचारधारा को सर्वेश्वर-वाद के रूप में स्वीकार किया गया है क्योंकि इसमें स्पष्ट ही कहा गया है कि विश्व में जो कुछ है या होगा, वह पुरुष ही है। सृष्टिउत्पत्ति विषयक एक अन्य सूक्त में असत् सत् की उत्पत्ति मानी गई है।

ऋग्वेद में पशु-पक्षियों का भी वर्णन मिलता है जिनमें अश्व, गो, सर्प का उल्लेख है। मण्डूक भी है तो वन्य पशुओं में सिंह, हाथी, मृग, वृक (भेड़िया) वराह, महिष, ऋक्ष, कपि आदि

the speeches were narrated in prose. मैक्समूलर तथा लेवी का कथन है कि संवाद एक प्रकार के नाटक हैं। हर्टेल एवं श्रोडर ने सिद्ध कर दिया है कि वे धार्मिक अभिनय थे किन्तु उपर्युक्त समस्त सामान्य विचारधारा मात्र अनुमान पर आधारित है। हमें यहाँ इतना ही कहना अभीष्ट है कि ऋग्वेद की विषय-वस्तु में इन संवाद सूक्तों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है।

ऋग्वेद की विषय-वस्तु पर दृष्टि-निक्षेप करने से हम इस निष्कर्ष पर सहज ही पहुँचते हैं कि सामाजिक परिस्थितियों के अनुरूप मानव जीवन-यापन तथा मानवता के विकास में योग देने वाली समस्त वस्तुओं एवं क्रियाओं का उल्लेख ऋग्वेद में मिल जाता है।

'वैदिक साहित्य की रूपरेखा' नामक पुस्तक के लेखक-द्वय लिखते हैं कि ऋग्वेद साहित्य के संग्रह में प्राचीनतम भारतीय कविता के दर्शन होते हैं। यह हमें मानना ही पड़ता है कि आज जिस रूप में हमें ऋग्वेद प्राप्त होता है, अपने मूल रूप में ऋग्वेद उससे कहीं अधिक विस्तृत था और उसका एक विशाल साहित्यिक अंश कण्ठ परम्परा के कारण सुरक्षित होते हुए भी लुप्त हो गया, क्योंकि इन सूक्तों की प्रचुर संख्या का प्रयोग याज्ञिक मन्त्रों के रूप में तथा याज्ञिक प्रार्थना-गीतों के रूपों में हुआ करता था और यह कल्पना विचार-संगत है कि धीरे-धीरे काल विपरिणाम से सूक्तों को ग्रन्थ के रूप में प्रतिष्ठित होने का श्रेय मिला, किन्तु कुछ रचनाएँ लुप्त हो गयीं। लेख परम्परा के अभाव के कारण भी ऐसा हो सकता है। संग्रहकर्त्ताओं का उद्देश्य धार्मिक और साहित्यिक रचनाओं का संकलन करना था इसलिए अपवित्र कविताओं का संकलन नहीं हुआ।" फिर भी जो अंश हमें आज प्राप्त है। वह ऋग्वेद-कालीन आर्य जाति की सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक मान्यताओं का समुज्ज्वल चित्र उपस्थित करता है।

**प्रश्न—ऋग्वेद संहिता में संकलित आख्यान साहित्य के स्वरूप एवं प्रयोजन की समीक्षात्मक आलोचना कीजिए।**

**Unfold the purpose and significance of the Akhyana literature in Rigveda** —या० वि० वि० ६०

**Or**

**Describe the nature and purpose of the Akhyana literature as contained in the Rigveda Samhita.** —आ० वि० वि० ५६

यही है कि ऋग्वेद में प्रहेलिकाओं की सत्ता विद्यमान है। इस प्रकार की लौकिक रचनाओं को कुछ विद्वानो ने धर्महीन कविता का नाम दिया है। जहाँ ऋग्वेद मे धार्मिक विचारधारा का प्राधान्य है वहाँ इसमे सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा अनिवार्य जीवन-यापन के साधनो का भी यथास्थान वर्णन मिल जाता है।

ऋग्वेद मे देवताओं की स्तुति के साथ-साथ कुछ सम्वाद सूक्त भी आये है। ऋग्वेद का यह आख्यान (सम्वाद) साहित्य एक प्रमुख विषय है। सम्पूर्ण ऋग्वेद मे लगभग बीस आख्यान मिलते है किन्तु प्रमुखतम निम्न हैं—

(१) यम-यमी सम्वाद (दशम मण्डल दशम सूक्त)
(२) इन्द्रवरुण सम्वाद (चतुर्थ मण्डल बारहवाँ सूक्त)
(३) देवगण एव अग्नि सम्वाद (दशम का ५२वाँ सूक्त)
(४) वरुण-अग्नि, सम्वाद (दशम का ५१वाँ सूक्त)
(५) इन्द्र-इन्द्राणी सम्वाद (दशम का ८६वाँ सूक्त)
(६) शर्मा-पणि सम्वाद
(७) उर्वशी-पुरुरवा सम्वाद (दशम का ९५वाँ सूक्त)
(८) सोम-सूर्या सम्वाद
(९) वसिष्ठ—विश्वामित्र आदि के सम्वाद।

उपर्युक्त सम्वाद सूक्त भारतीय साहित्य मे अपना प्रमुख स्थान रखते हैं। परवर्ती साहित्य में अनेक काव्यों, नाटकों तथा पुराणो में इन कथाओं का विस्तार से उल्लेख मिलता है। श्री पाण्डेय एव जोशी वैदिक साहित्य की रूपरेखा मे लिखते हैं, 'प्राचीन आख्यान महाकाव्य तथा नाटक दोनो प्रकार की साहित्य भित्तियों के उद्गम स्थान हैं, क्योंकि ये आख्यायिकाएँ नाटकीय तत्वों से अनुस्यूत हैं। इन आख्यानो का नाटकीय तत्वों से इतना पारस्परिक सम्बन्ध है। क्योंकि इन्हीं आख्यानों के नाटकीय तत्वों से नाटकों का उदय हुआ।' जहाँ विन्टरनित्ज इन आख्यानों को महाकाव्य तथा नाटक के उद्गम रूप में [illegible] with the epic and dra- [illegible] नया बढ़कर नवीन विचार प्रस्तुत करता है। "The oldest form of epic poetry in India, He said, was a mixture of prose and verse, the speeches of the persons only being in verse, while the events connected with

verse the speeches of the persons only being in verse, while the events connected with the speeches were narrated in prose. पद्य स्मरण करने के कारण ही अवशिष्ट हैं जबकि गद्य कथा को सुनाने वाले व्यक्ति सम्पूर्ण गद्य भाग को स्मरण रखने की क्षमता के अभाव में क्रमशः भूलते गए और मात्र पद्यात्मक संवाद ही शेष रह गए हैं, क्योंकि गद्य का कथन अपने शब्दों में करना पड़ता था। यह सत्य है कि कुछ आख्यायिकाओं की रक्षा ब्राह्मण ग्रन्थों द्वारा आंशिक रूप में हुई है, किन्तु कहीं-कहीं प्रामाणिक आधारों के अभाव में हमें केवल कल्पनाओं द्वारा कथा का अनुमान करने के लिए प्रयत्न करना पड़ता है। इस सिद्धान्त की पुष्टि में ओल्डनवर्ग वेद के अतिरिक्त आयरिश तथा स्कैण्डेनेवियन भाषाओं के प्राचीन साहित्य को भी प्रमाण रूप में प्रस्तुत करता है। यही नहीं, वह तो भारतीय साहित्य के ब्राह्मण ग्रन्थों तथा उपनिषदों के कुछ आख्यान भागों में, महाभारत के प्राचीन भागों में, बौद्ध साहित्य में, नीति-कथा तथा लोक-कथा के साहित्य में, नाटकों और चम्पू साहित्य में भी इसी प्रवृत्ति को सिद्ध करता है। जहाँ तक मेरा अपना विचार है, नि:सन्देह समस्त उदाहृत स्थलों में पद्य के साथ-साथ गद्य के अंश भी मिल जाते हैं, किन्तु यह कथमपि सिद्ध नहीं किया जा सकता है कि ऋग्वेद भी गद्य-पद्यात्मक था, क्योंकि उसके नाम से ही सिद्ध है कि वह ऋचाओं का वेद है। ऊपर निर्दिष्ट ओल्डनवर्ग का ऋग्वेद विषयक यह सिद्धान्त चिर समय तक विद्वानों में मान्य रहा किन्तु उसको इस विचारधारा का विरोध हुआ। मैक्समूलर एवं सिल्वलेवी ने यह बतलाया कि ऋग्वेद के संवाद सूक्त एक प्रकार के नाटक हैं। डा० हर्टल एवं श्रोडर ने मैक्समूलर की उपर्युक्त विचार सरणि का अनुगमन करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि वस्तुत: ये संवाद-सूक्त धार्मिक उत्सवों पर मेले जाने वाले धार्मिक अभिनय थे। विन्टरनित्ज का तो यह कहना है कि ऋग्वेद के ये छन्दोबद्ध कथनोपकथन मूलत: प्राचीन वीरकाव्य Ballads ही हैं। यही वीरकाव्य Epic तथा नाटक के स्रोत हैं क्योंकि इनमें वर्णनात्मक तथा नाटकीय तत्त्व विद्यमान थे। प्राचीन वीरकाव्यों के वर्णनात्मक अंश से Epic-का तथा नाटकीय तत्त्वों से नाटक साहित्य का उदय हुआ। ये प्राचीन आख्यान कविता में तथा आंशिक रूप से पद्य में लिखे जाते थे। इस प्रकार के तत्त्वों की यदि हमें उपलब्धि हो जाती तो बहुत सम्भव था कि सूक्तों के ये वार्त्तालाप स्पष्ट हो जाते। ओल्डनवर्ग का भी यही

ऋग्वेद के संवादसूक्त अथवा आख्यान साहित्य में कथोपकथनों का प्राधान्य है, नाटकीयता है, कथावस्तु है, वीररसात्मक अंश भावभूमियाँ एवं आख्यानतत्त्व है फिर क्यों न इनमें नाटकों, काव्यों जैसी सरसता मिले ? इस प्रकार मनोरम कथोपकथनों से समन्वित संवादसूक्तों की संख्या लगभग बीस है जिनमें कुछ तो अति प्रसिद्ध हैं, कुछ पुरातन एवं अप्रसिद्ध; जैसे—(१) यम यमी सूक्त १०।१०, (२) उर्वशी पुरूरवासूक्त १०।९५, (३) सरमापणि सूक्त, (४) सोमसूर्यासूक्त, (५) वृषाकपि सूक्त, (६) श्यावाश्व सूक्त, (७) अक्ष सूक्त, (८) मण्डूकसूक्त, (९) शुनःशेप सूक्त, (१०) वसिष्ठ-विश्वामित्र सूक्त, (११) अगस्त्यलोपामुद्रा सूक्त, (१२) अपाला, (१३) नचिकेता, (१४) गृत्समद, (१५) नहुष, (१६) इन्द्र-वरुण संवाद ४।४२, (१७) देवगण एवं अग्नि संवाद १०।५२, (१८) वरुण-अग्नि संवाद, (१९) इन्द्र-इन्द्राणी संवाद, (२०) सुदामा आदि को लेकर अनेक रोचक आख्यान ऋग्वेद में मिलते हैं।

प्रश्न यहाँ यह उपस्थित होता है कि ऋग्वेद ऋचाओं का वेद है फिर इसमें संवादों की सत्ता किस रूप में है—पद्य में अथवा गद्य में। इस सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। ओल्डनबर्ग का मत यह है कि सम्पूर्ण प्राचीन भारतीय वीरगाथात्मक काव्य गद्य-पद्यात्मक ही था। कथनोपकथन पद्यमय तथा घटनाओं का विवरण गद्यात्मक होता था—"The oldest form of epic poetry in India, He said, was a mixture of prose and

verse the speeches of the persons only being in verse, while the events connected with the speeches were narrated in prose. 'पद्य स्मरण करने के कारण ही अवशिष्ट हैं जबकि गद्य कथा को सुनाने वाले व्यक्ति सम्पूर्ण गद्य भाग को स्मरण रखने की क्षमता के अभाव में क्रमश भूलते गए और मात्र पद्यात्मक सवाद ही शेष रह गए हैं ; क्योंकि गद्य का कथन अपने शब्दो मे करना पडता था । यह सत्य है कि कुछ आख्यायिकाओ की रक्षा ब्राह्मण ग्रन्थो द्वारा आंशिक रूप में हुई है, किन्तु कहीं-कहीं प्रामाणिक आधारों के अभाव में हमे केवल वार्त्तालाप द्वारा कथा का अनुमान करने के लिए प्रयत्न करना पडता है । इस सिद्धान्त की पुष्टि मे ओल्डनबर्ग वेद के अतिरिक्त आयरिश तथा स्कॅण्डेनेवियन भाषाओ के प्राचीन साहित्य को भी प्रमाण रूप मे प्रस्तुत करता है । यही नही, वह तो भारतीय साहित्य के ब्राह्मण ग्रन्थो तथा उपनिषदो के कुछ आख्यान भागो मे, महाभारत के प्राचीन भागो मे, बौद्ध साहित्य मे, नीति-कथा तथा लोक-कथा के साहित्य मे, नाटको और चम्पू साहित्य मे भी इसी प्रवृत्ति को सिद्ध करता है । जहाँ तक मेरा अपना विचार है, नि सन्देह समस्त उदाहृत स्थलो मे पद्य के साथ-साथ गद्य के अश भी मिल जाते है, किन्तु यह कथमपि सिद्ध नही किया जा सकता है कि ऋग्वेद भी गद्य-पद्यात्मक था , क्योंकि उसके नाम से ही सिद्ध है कि वह ऋचाओ का वेद है । ऊपर निर्दिष्ट ओल्डनबर्ग का ऋग्वेद विषयक यह सिद्धान्त चिर समय तक विद्वानों मे मान्य रहा किन्तु उसकी इस विचारधारा का विरोध हुआ । मैक्स-मूलर एव सिल्वॉलिबी ने यह बतलाया कि ऋग्वेद के सवाद सूक्त एक प्रकार के नाटक हैं । डा० हर्टल एव श्रोडर ने मैक्समूलर की उपर्युक्त विचार सरणि का अनुगमन करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि वस्तुत ये सवाद-सूक्त धार्मिक उत्सवो पर खेले जाने वाले धार्मिक अभिनय थे । विन्टरनित्ज का तो यह कहना है कि ऋग्वेद के ये छन्दोबद्ध कथनोपकथन मूलत प्राचीन वीरकाव्य Ballads ही है । यही वीरकाव्य Epic तथा नाटक के स्रोत हैं क्योंकि इनमें वर्णनात्मक तथा नाटकीय तत्त्व विद्यमान थे । प्राचीन वीरकाव्यों में वर्णनात्मक अश से Epic का तथा नाटकीय तत्त्वों से नाटक साहित्य का उदय हुआ । ये प्राचीन आख्यान कविता मे तथा आंशिक रूप मे पद्य मे लिखे जाते थे । इस प्रकार के तत्त्वों की यदि हमें उपलब्धि हो जाती तो बहुत सम्भव था कि सूक्तो के ये वार्त्तालाप स्पष्ट हो जाते । ओल्डनबर्ग का भी यही

अभिमत था। वैसे भी इन आख्यान सूक्तों में भी प्रायशः अर्द्धमहाकाव्यीय तथा अर्द्धनाटकीय तत्वों का समावेश मिलता है। हाँ, इन्हें पूर्णतः नाटक स्वीकार नहीं किया जा सकता, तथापि कुछ विद्वानों ने इन्हें नाटक के रूप में स्वीकार किया है।

यह निर्विवाद रूप में स्वीकार किया जा सकता है सवादसूक्त परवर्ती काल में विभिन्न साहित्यिक विधाओं नाट्य, कथा, गीत, महाकाव्य आदि के उपजीव्य बने हैं। इनसे प्रेरणा, विषय-सामग्री, कल्पनाएँ ले-ले कर अनेक नाटकों, काव्यों का सृजन हुआ है। 'प्राचीन आख्यान महाकाव्य तथा नाटक दोनों प्रकार की साहित्य भित्तियों के उद्गम स्थान है।'[1] यही नहीं, इन आख्यानों का उद्देश्य वैदिक संस्कृति, धर्म, इतिहास का परिचय तथा सामाजिक दशा का स्वरूप उपस्थित करना था। आगे हम कुछ आख्यानों को रखकर उपर्युक्त धारणा को प्रतिपादित करने का प्रयास करेंगे।

सर्वप्रसिद्ध आख्यान ऋग्वेद के दसवें मण्डल के ९५वें सूक्त में है जिसमें १८ ऋचाएँ हैं। इन ऋचाओं में राजा पुरुरवा और उर्वशी के मध्य संवाद समाहित है। पुरुरवा मनुष्य है तथा उर्वशी अप्सरा है। चार वर्ष तक दोनों पति-पत्नी के रूप में रहते हैं किन्तु गर्भवती होने पर एक दिन उर्वशी राजा का परित्याग कर कहीं चली जाती है। राजा खोजता हुआ अन्त में उसे अन्य कुछ अप्सराओं के साथ एक सरोवर में जल-क्रीड़ा करते हुए देखता है। उपर्युक्त कथा मात्र ऋग्वेद में निहित है, किन्तु परवर्ती शतपथ ब्राह्मण में यही कथा कुछ विकसित रूप में मिलती है। उर्वशी पुरुरवा की पत्नी बनने के लिए शर्तें रखती है जिनमें से एक यह भी थी कि राजा उर्वशी को कभी नग्न न देखें। राजा शर्तों को स्वीकार कर लेता है। दोनों ही पति-पत्नी रूप में पुन रहने लगते हैं; किन्तु गन्धर्व लोग उर्वशी को पुनः स्वर्ग में ही लाना चाहते थे। इसलिए अपने अभीष्ट को पूर्ण करने के लिए गन्धर्व एक दिन रात में उर्वशी के पुत्रवत् प्रिय दोनों ही मेमनों की चोरी कर लेते हैं। उर्वशी [illegible] अपने [illegible] मेमनों को न देखकर विलाप करती है। पुरुरवा उर्वशी के विलाप के [illegible] जल्दी में उठकर चोरों को पकड़ने के लिए दौड़ता है। वह जल्दी में यह भूल जाता है कि वह नग्न है। गन्धर्व अपनी योजना को पूर्ण करने के लिए विद्युत् प्रकाश कर देते हैं और राजा उर्वशी को नग्न देख लेता है। तभी [illegible]

१. वैदिक साहित्य की रूपरेखा : उपाध्याय एवं जोशी, पृ० सं० ७३।

कारण उर्वशी राजा को छोड़कर चली जाती है। राजा फिर विरही होकर उर्वशी की खोज प्रारम्भ करता है और खोजते-खोजते वह उर्वशी को अन्य अप्सराओं के साथ एक तालाब में हंसों के रूप में तैरते हुए देखता है। राजा ने उर्वशी से अनेकशः प्रार्थनाएँ साथ चलने के लिए कीं, किन्तु उसने उन्हें स्वीकार नहीं किया। अन्ततः राजा के आत्मघात के लिए प्रस्तुत होने पर उर्वशी केवल इतना कहती है—राजन्! आत्मघात से कुछ लाभ नहीं होगा। स्त्रियों के साथ चिरन्तन मैत्री नहीं हो सकती, क्योंकि उनका हृदय सालावृकों (भेड़ियों) का सा होता है—

> पुरुरवो मा मृथा मा प्र पप्तो मा त्वा वृकासो अशिवास उक्षन्।
> न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयान्येता॥
>
> १०।९५।१५

पुरुरवा एवं उर्वशी का पुनर्मिलन ऋग्वेद एवं शतपथ-ब्राह्मण में स्पष्ट उल्लिखित नहीं है। हाँ, यह अवश्य कहा जाता है कि पुरुरवा गन्धर्व हो जाता है और स्वर्ग में अपनी प्रेयसी के साथ पुनः संयोग सुख को प्राप्त करता है। पुरुरवा उर्वशी की यह प्रेम-कथा ऋग्वेद एवं शतपथ ब्राह्मण के अतिरिक्त कृष्ण यजुर्वेदीय काठक संहिता, बौधायन श्रौतसूत्र, ऋग्वेद की सर्वानुक्रमणी की टीका हरिवंश पुराण, विष्णु पुराण, कथा सरित्सागर तथा विक्रमोर्वशी में भी प्राप्त होती है।

ऋग्वेद के दशम मण्डल का दसवाँ सूक्त संवाद रूप में आख्यानकथा का उत्कृष्ट उदाहरण है। इसमें यम-यमी (भाई-बहन) का कथनोपकथन निहित है। सृष्टि के आदिम युग से मानव जाति के विकास की कथा का सूत्र इसमें उपलब्ध प्रतीत होता है। मानव जाति को बनाये रखने के लिए यमी अपने भाई को सम्भोग के लिए आमन्त्रित करती है, किन्तु यम सहज भ्रातृ स्नेहवश इस सगोत्र सम्बन्ध को अवैध बताते हुए निराकरण करता है, किन्तु यमी की परिवर्धमान कामेच्छा उसको कटु वाक्यों पर उतार लाती है। वह यम से खीझकर उसे पुरुषत्वहीन कहती है। मानवीय भावनाओं रहित बतलाते हुए निष्ठुर तक कहती है, किन्तु यम बहुत ही सहज शब्दों में यह कहकर इस प्रसंग को समाप्त कर देता है कि तुम उस व्यक्ति का आश्रय आलिंगन करो, जो भावो-त्तेजित हो। यह स्पष्ट नहीं है कि यम-यमी की इस कथा का अन्त क्या है,

जिक गीतो के अनुकरण पर गीतो के रूप मे द्वैपमूलक ब्रह्म के प्रति व्यंग्य
नते हैं; किन्तु भारतीय विद्वान् इस बात को स्वीकार नही करते हैं। फिर
ी यह सूक्त सुन्दर है तथा हास्य रस की उद्भावना भी करता है। इसमे
श्वर्य-प्राप्ति के लिए मन्त्र भी हैं।

दसवें मण्डल के ३४वें सूक्त मे धर्मविहीन कविता संगृहीत है जिसे हम
ूतसूक्त के नाम से अभिहित करते हैं। यह एक जुआरी का करुण स्वगत
थन है। इस सूक्त को पढकर पता चलता है कि द्यूत-क्रीडा गृहशान्ति को
ैसे सहज ही समाप्त कर देती है। इस सूक्त मे एक जुआरी जुआ न खेलने
ी प्रतिज्ञा कर लेता है, किन्तु पासो की झनकार उसे पुन नित्य की भाँति
ेलने के स्थान पर बुला लेती है, पतन की सीमा यहाँ तक दिखाई गई है कि
ह अपनी पत्नी को हार जाता है। फलस्वरूप सास घृणा करती है। साहूकार
ऋण नही देता है, किन्तु जुआरी अपनी आदत से लाचार है।

अन्य अनेक आख्यान सूक्त हैं, बहुत से वैदिक आख्यान अधूरे भी हैं।
तथापि उपयोगिता की दृष्टि से तात्कालिक समाज के स्पष्ट चित्र-दर्शन के लिए
ये आख्यान अत्यधिक उपादेय हैं।

ऋग्वैदिक आख्यान-साहित्य अथवा सम्वाद-सूक्तो का प्रायश पाश्चात्य
विद्वानो ने ऐतिहासिक मूल्यांकन ही प्रस्तुत किया है, किन्तु मीमासक तथा
स्वामी दयानन्द जी ने इनका दूसरी दृष्टि से अध्ययन किया है। मीमासको
का कथन यह है कि यह आख्यान साहित्य प्ररोचना मात्र है। आख्यान के
प्रदर्शनार्थ इस साहित्य का सृजन नही हुआ है, अपितु परवर्ती काल में इन
मन्त्रो को ऐतिहासिक गाथाओ के साथ सम्बद्ध कर दिया है। शबर स्वामी इस
आख्यान साहित्य को मौलिक स्वीकार नही करते हैं तथा इसकी वास्तविकता
पर सन्देह करते है।

स्वामी दयानन्द जी का कहना है कि आख्यानो में आये हुए नाम इन्हीं
अर्थों के बोधक नही है, अपितु उनके अन्य अर्थ हैं। जैसे कश्यप शब्द का अर्थ
निरुक्ति की दृष्टि से प्राण है। 'कश्यपो वै कूर्मः', 'कूर्मो वै प्राण'। इसी प्रकार
जमदग्नि शब्द का अर्थ है—नेत्र– "चक्षु वै जमदग्नि। वसिष्ठ का प्राण,
भरद्वाज का मन, विश्वामित्र का अर्थ है कान। इस प्रकार स्वामी जी यौगिक
आध्यात्म-परक अर्थ के आधार पर ऐतिहासिकता का विरोध करते है, किन्तु

आधिभौतिक, आधिदैविक अर्थ करने पर ऐतिहासिकता की भी प्रतीति होती है जो कि स्वीकरणीय है।

वैदिक साहित्य के ये सवाद-सूक्त साहित्यिक एवं सामाजिक अध्ययन की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इनके महत्त्व के सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते है।

प्रश्न—वैदिक देवतावाद का सर्वाङ्गीण विवेचन कीजिए।

***Examine critically the nature and development of the Vedic deities.***

—आ० वि० वि० ५७

**Or**

***Show how the understanding of the nature of the Rigvedic deities resulted on the foundation of the scientific study of mythology.***

—आ० वि० वि० ५८

***Or***

***Attempt a note on the nature of the deities of Rigveda.***

—आ० वि० वि० ६१

उत्तर—शक्ति और शक्तिमान् मे लीलावश समस्त ब्रह्माण्ड गतिमान है। इन्ही शक्ति और शक्तिमान् को माया और मायावी, पुरुष और प्रकृति, शिव और शक्ति आदि भी प्राय कहा जाता है। वस्तुत अपनी शक्ति के बिना शिव शव है और शिव के बिना शक्ति स्वतः निराधार है। इस प्रकार शक्ति तत्त्व ही परा देवता है—क्रमशः जैसे-जैसे जगत् का विकास होता है वैसे ही वैसे परमशक्ति नाना रूपों को धारण करती है। इस ब्रह्माण्ड में आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक आदि जितनी भी शक्तियाँ हैं, वे सब इसी मूलशक्ति के अंशमात्र हैं। देवतावाद के प्रधान वैदिक ग्रन्थ बृहद्देवता में लिखा है कि—

वेदितव्यं दैवतं हि मन्त्रे मन्त्रे प्रयत्नतः।
दैवतज्ञो हि मन्त्राणां तदर्थमवगच्छति॥

प्रयत्नतः प्रत्येक मन्त्र के देवता का परिज्ञान करना चाहिए क्योंकि देवत-ज्ञान से युक्त विद्वान् ही वेदार्थ और वेदरहस्य समझ सकता है। 'बृहद्देवता'

का तो यह भी कहना है कि चेतनाधिष्ठान से रहित शरीर का कोई भी अंग कार्य नहीं कर सकता, क्योंकि जड़ पदार्थ में स्वयं कर्तव्य शक्ति नहीं है, इसलिए इसका अधिष्ठाता कोई चेतन अवश्य होना चाहिए। इसीलिए अनेक जड़-पदार्थों के अनेक अधिष्ठाता चेतन (देवता) माने गए हैं, परन्तु अन्ततः सभी एक हैं, एक ही अग्नि की अनेक स्फुलिंगों की भाँति एक ही परमात्मा की सब शक्तियाँ हैं। 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़' महाशक्ति की जो अनेक शक्तियाँ विविध रूपों में विद्यमान हैं, उनके अनेक नाम हैं, उनकी अनेक नामों से संस्तुति भी की गई है किन्तु अन्ततः वह एक ही है—

'तस्मात् सर्वैरपि परमेश्वर एव हूयते'

देव शब्द अनेक अर्थों को व्यक्त करता है 'देव' वह है जो मनुष्य को देता है, वह समस्त विश्व को देता है। विद्वान् पुरुष भी देव है क्योंकि वह विद्याओं का दान करता है 'विद्वांसोहि देवाः' इसी प्रकार सूर्य, चन्द्रमा और आकाश भी देव हैं, क्योंकि वे समस्त प्रकृति को प्रकाश देते हैं। माता, पिता और आचार्य भी देव हैं और अतिथि भी देव हैं—मातृ देवोभव, पितृ देवोभव, आचार्य देवोभव, अतिथि देवोभव। ये उपनिषद् वचन इसके प्रमाण हैं।

वैदिक साहित्य में प्राप्त देवविषयक विषय-वस्तु का प्रामाणिक विवेचन हम निरुक्त नामक ग्रन्थ में प्राप्त करते हैं। निरुक्तकार यास्क का कहना है—

'देवो दानाद्वा द्योतनाद्वा दीपनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा' (७।१५) वस्तुतः देवता अपने भक्तों को प्रकाश तथा ज्ञान देने के साथ समस्त कामनाओं के भी पूरक होते हैं। देवों की सत्ता तीन प्रकार की निरुक्त में निर्दिष्ट है—एक पृथिवी स्थानीय अग्नि, सोम आदि दूसरे अन्तरिक्षस्थानीय वायु, इन्द्र, पर्जन्यादि तीसरे द्युस्थानीय सूर्य सविता पूषा आदि—

'तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः अग्निः पृथिवी स्थानः। वायुर्वा इन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः। सूर्यो द्युस्थानः।' आचार्य यास्क ने उपर्युक्त देवों को वेदों के आधार पर पुनः चार रूपों में विभक्त किया है।

(१) प्राकृतिक शक्ति रूप देवता—इन्द्र, सूर्य, सविता, पूषा आदि, (२) गृहदेवता—अग्नि, सोम आदि, (३) भावजन्य—मन्यु, श्रद्धा, प्रजापति आदि। (४) गौण देवता—गन्धर्व, अप्सरा आदि।

जिस सूक्त में जिस देवता का नाम रहता है, उसका वही प्रतिपादनीय और स्तवनीय है। यदि कहीं जड़ पदार्थों को भी देवतावत् माना गया है तो

सत्य है कि इसका मूलतत्त्व आध्यात्म है जिसकी धार्मिक दृष्टि विभिन्न प्रतीति को ही तत्तद्देवता का नाम दिया गया था।'[1]

वैदिक देवताओं की मौलिक आध्यात्मिक एकता का वर्णन वेदों के मे भी स्पष्ट मिल जाता है, ऋग्वेद एवं यजुर्वेद के इन मन्त्रो मे स्पष्ट लिखा है कि इन्द्रादि देवों के नामों मे ही अन्तर है किन्तु आध्यात्मिक सत्ता एक ही है—

> इन्द्रं मित्रवरुणमग्निमाहुरथोदिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
> एक सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्नि यमं मातरिश्वानमाहु ॥ ऋ० १।१६४।४६
> तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः
> तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः सप्रजापतिः । यजु० ३२।१

न एकः न द्वितीयः न तृतीयः आदि । अर्थात् विद्वान् मनीषियो की दृष्टि मे इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, यम, मातरिश्वा, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, ब्रह्मा, आप, प्रजापति आदि नाम एक ही मौलिक सत्ता या आध्यात्मतत्त्व का प्रतिपादन करते हैं। निरुक्तकार ने तो केवल एक महादेव को स्वीकार करते हुए लिखा है कि तत्तत्कर्मानुसार विभिन्न नामों से पुकारे जाने पर भी देव एक है—'तासां महाभाग्यात् एकैकस्यापि बहूनि नामधेयानि सन्ति एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति ।' अर्थात् एक ही आत्मा (परमात्मा) के सब देवता विभिन्न अंश हैं। इसी अन्तिम तत्व परमात्मा को याज्ञिको और ब्राह्मण ग्रन्थो ने प्रजापति कहा है। सभी देवता इन्ही प्रजापति के विशिष्ट अंग माने गए हैं। ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों मे यह धारणा पूर्व रूप से व्यक्त हुई है कि देवों का महान् बल एक ही है—'महद्देवानामसुरत्वमेकम्'। आशय यही है कि देवो की शक्ति मूलतः एक ही है, व्यवहारतः ही वह अनेक नामों से पुकारा जाता है।

ऋग्वेद-कालीन देवतावाद अथवा ऋग्वेद-कालीन धर्म का विश्लेपण करते हुए हम निष्कर्ष रूप से यह कह सकते हैं कि ऋग्वेद के बड़े-बड़े देवता प्रकृति की विभिन्न शक्तियो के ही प्रतीक हैं। उनका ऐश्वर्य, तेज, शक्ति एवं बुद्धि आदि समान रूप से उपन्यस्त हैं, वैदिक देवताओ को एक-दूसरे से अलग करने वाली विशेषताएँ इनी-गिनी हैं, बहुसंख्यक गुण और शक्तियाँ तो सभी देवताओं में लगभग समान हैं। इस बात का एक कारण तो यह है कि प्रकृति के वे विभाग

---

१. भारतीय संस्कृति का विकास, पृ० ७३

वे जड पदार्थ भी उस तत्त्व के अधिष्ठाता हैं, क्योंकि आर्य लोग प्रत्येक जड पदार्थ का एक अधिष्ठाता देवता मानते थे, इसीलिए वे जड की स्तुति भी चेतन की तरह करते थे। मीमांसाकार ने भी उपर्युक्त विचारधारा का समर्थन करते हुए लिखा है कि—जिस मन्त्र में जिस देवता का वर्णन है, उस मन्त्र में उसी देवता के समान ही दिव्य शक्ति समाहित रहती है। इसलिए देवत्व शक्ति मन्त्र में ही है।

प्राकृतिक आधार रखने वाले प्रधान वैदिक देवताओं की संख्या तेतीस है। ऋग्वेद के एक मन्त्र मे ग्यारह-ग्यारह देवो के तीन समुदायों का उल्लेख मिलता है—जो देवता स्वर्ग मे हैं वे ग्यारह हैं; पृथिवीस्थ देवता भी ग्यारह हैं; अन्तरिक्ष स्थानीय देवता भी ग्यारह ही हैं; वे सभी अपनी महिमा से यज्ञ की सेवा करते हैं—

> ये देवासो दिव्येकादशस्थ पृथिव्यामध्येकादशस्थ।
> अप्सुक्षितोमहिनैकादशस्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम् ॥
>
> —ऋ० १।१३९।११

अन्य कई मन्त्रों मे भी तेतीस देवो का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। शतपथ ब्राह्मण मे भी आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, आकाश और पृथिवी इस प्रकार तेतीस देवताओ का उल्लेख है। ऐतरेय ब्राह्मण मे भी ग्यारह प्रयाजदेव, ग्यारह अनुयाज देव और ग्यारह उपयायदेव इस प्रकार तेतीस देवो का उल्लेख मिलता है, किन्तु ऋग्वेद के एक या दो मन्त्रो में तीन हजार तीन सौ उन्तालीस देवों का भी संकेत मिलता है। महान् तत्त्वज्ञ इन देवताओ के सम्बन्ध मे आचार्य सायण ने लिखा है कि 'देवता तो तेतीस ही हैं; परन्तु देवो की विशाल महिमा के सूचनार्थ ३३३९ देवो का उल्लेख है। इस प्रकार ऋग्वेद में बहु-देवतावाद का संकेत हमें मिलता है। यहाँ प्रश्न स्वभावतः उत्पन्न होते हैं कि देवताओं की यह अनेकता वास्तविक है या नहीं तथा एकत्व की प्रतीति प्राचीन काल में थी या नहीं। इन प्रश्नों का उत्तर यही है कि व्यावहारिक दृष्टि से यह ठीक है कि वैदिक देवता अपनी-अपनी स्वतन्त्र या पृथक् सत्ता के साथ माने जाते थे। विभिन्न प्राकृतिक कार्यों का सम्पादन करने वाली इन दैवी शक्तियों की प्रत्यक्षित प्रत्यक्ष सत्ता किससे छिपी है? फिर भी वैदिक मन्त्रों के गम्भीर अध्ययन से विभिन्न स्थानीय और विभिन्न कर्म करने वाले देवताओं में अनुस्यूत जो एकसूत्रता दिखाई देती है, उसके आधार पर यह मानना

पड़ता है कि उसका मूलरूप आध्यात्म है जिसकी धार्मिक दृष्टि विभिन्न प्रतीति को ही तत्तदेवता का नाम दिया गया था।'[1]

वैदिक देवताओ की मौलिक आध्यात्मिक एकता का वर्णन वेदो के मन्त्रो मे भी स्वत. मिल जाता है, ऋग्वेद एव यजुर्वेद के इन मन्त्रो मे स्पष्ट ही लिखा है कि इन्द्रादि देवो के नामो मे ही अन्तर है किन्तु आत्यन्तिक सत्ता एक ही है—

इन्द्रं मित्रंवरुणमग्निमाहुरथोदिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्नि यमं मातरिश्वानमाहु ॥ ऋ० १।१६४।४६
तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदुचन्द्रमाः
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः सप्रजापतिः । यजु० ३२।१

न एकः न द्वितीयः न तृतीयः आदि। अर्थात् विद्वान् मनीषियो की दृष्टि मे इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, यम, मातरिश्वा, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, ब्रह्मा, आप., प्रजापति आदि नाम एक ही मौलिक सत्ता या आध्यात्मतत्त्व का प्रतिपादन करते हैं। निरुक्तकार ने तो केवल एक महादेव को स्वीकार करते हुए लिखा है कि तत्तत्कर्मानुसार विभिन्न नामो मे पुकारे जाने पर भी देव एक है—'तासां महाभाग्यात् एकैकस्यापि बहूनि नामधेयानि सन्ति एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति ।' अर्थात् एक ही आत्मा (परमात्मा) के सब देवता विभिन्न अश हैं। इसी अन्तिम तत्व परमात्मा को याज्ञिकों और ब्राह्मण ग्रन्थों ने प्रजापति कहा है। सभी देवता इन्हीं प्रजापति के विशिष्ट अग माने गए हैं। ऋग्वेद के अनेक मन्त्रो मे यह धारणा पूर्व रूप से व्यक्त हुई है कि देवों का महान् बल एक ही है—'महद्देवानामसुरत्वमेकम्'। आशय यही है कि देवों की शक्ति मूलत: एक ही है, व्यवहारत ही वह अनेक नामों मे पुकारा जाता है।

ऋग्वेद-कालीन देवतावाद अथवा ऋग्वेद-कालीन धर्म का विवेचन करते हुए हम निष्कर्ष रूप से यह कह सकते हैं कि ऋग्वेद के बड़े-बड़े देवता प्रकृति की विभिन्न शक्तियो के ही प्रतीक हैं। उनका ऐश्वर्य, तेज, शक्ति एव बुद्धि आदि समान रूप से उपन्यस्त है, वैदिक देवताओ को एक-दूसरे से अलग करने वाली विशेषताएँ इनी-गिनी हैं, बहुसंख्यक गुण और शक्तियाँ तो सभी देवताओं मे लगभग समान हैं। इस बात का एक कारण तो यह है कि प्रकृति के वे विभाग

1. भारतीय संस्कृति का विकास, पृ० ७३

या इकाइयाँ जिनके वे देवता प्रतिरूप हैं, अनेक बातों मे समान हैं, जब कि अभी वे देवता मानव के रूप मे पूरी तरह विकसित नहीं हो पाये हैं। इसलिए विद्युत के देवता का (विद्युत के रूप मे), अग्नि के देवता का और तूफानों के देवता का वर्णन समान भाषा मे सम्भव है, क्योकि वैदिक कवि की दृष्टि मे इन सब का प्रमुख व्यापार पानी बरसाना है। एक बात और भी कह दी जाय कि इन सभी देवताओ का यथार्थ स्रोत एक ही है किन्तु उन देवताओं मे उस-उस संज्ञा के कारण विभेद आ गया है, जो कि किसी ऐसे गुण-विशेष का बोध कराती है जिसने शनैः-शनैः, अपना स्वतन्त्र रूप बना लिया है।

आर्यों का विश्वास था कि प्राकृतिक देवी देवताओ की उपासना के माध्यम से उस अनन्त शक्ति की उपासना होती है और वह अनन्त शक्ति ही कामनाओं की पूर्ति करती है। वेद मे पौराणिकता के मौलिक तत्वो का उदय यहीं से होता है। डाक्टर पाण्डेय एव जोशी ने लिखा है, 'ऋग्वेद के ये सूक्त हमारे लिए केवल इसीलिए बहुमूल्य हैं कि इन सूक्तो मे हम पुराण और इतिहास का प्रारम्भिक सूत्रपात देखते हैं। हम देवताओ को अपने चर्मचक्षुओ के सामने प्रकट होते हुए देखते हैं। अनेक सूक्त सूर्य देव, चन्द्र देव, अग्नि देव, प्रभजन, जलदेव, उषा काल की देवियो तथा पृथ्वी की देवियो के प्रति नही कहे गये हैं अपितु स्वय भास्वर नैशनभ मे प्रस्फुटित सुधाशु, अग्निकुण्ड तथा वेदी पर देदीप्यमान वैश्वानर मेघमण्डल मे चमकती हुई सौदामिनी निशीथिका मे तारांकित व्योम, गर्जना करते हुए प्रभजन मेघो तथा तरङ्गिणियो मे बहते हुए जल, अरुण, उषा तथा फल युक्त मही इन समस्त प्राकृतिक शक्तियो के प्रति प्रशसा, पूजा और आह्वान के रूप मे कहे गये हैं।'[1] वैदिक साहित्य के अध्ययन के उपरान्त हम कह सकते हैं कि वैदिक देवताओ का प्राकृतिक आधार लगभग स्पष्ट है; उदाहरण के लिए अग्नि, वायु, आपः, आदित्य, उषस् आदि वैदिक देवताओ के वर्णनो से यह स्पष्ट है कि यहाँ भौतिक अग्नि आदि को ही ऊपर उठाकर देवत्व के आसन पर आसीन किया गया है। यद्यपि अश्विन्, वरुण आदि देवों के सम्बन्ध मे कुछ सन्देह अवश्य रह जाता है, किन्तु अधिकाश देवों के स्वरूप दर्शन से इसमे सन्देह नही रहता कि इनके भी मूल मे कोई भौतिक आधार अवश्य रहा होगा। एक बात और भी स्पष्ट कर देना उचित होगा कि

१. वैदिक साहित्य की रूपरेखा, पृ० ४६-४७

देवो के भौतिक आधार के रहते हुए भी ऋषियों ने जिन प्राकृतिक शक्तियो की स्तुति या प्रार्थना की है, उनके स्थूल रूप की नही, अपितु उनकी शक्तिका अधिष्ठात्री चेतन शक्ति की ही की है, यही नहीं, यह चेतन शक्ति परमात्मा से भिन्न नही है अपितु परमात्मा रूप ही है ।

वैदिक साहित्य मे देवताओं की कई रूपो मे स्तुति की जाती है । देवता युग्मरूप मे आहूत होते है, जैसे—मित्रावरुण, द्यावापृथिवी, कुछ समुदाय रूप मे भी आते है, जैसे—मरुद्गण, आदित्यगण, वसुगण, विश्वेदेवा, ऋभुगण आदि। ऊपर हम बतला चुके है कि विभिन्न देवता एक ही शक्ति से प्रेरित है अथवा एक ही शक्ति के रूपान्तर है। ऋग्वेद मे कही-कही सर्वेश्वरवाद Pantheism के भी दर्शन हो जाते है । ऋग्वेद मे प्रत्येक देवता को ही सर्वश्रेष्ठ देवता के रूप मे स्तवन किया गया है। वैदिक देवताओ की एक विशेषता यह भी है कि उनकी शारीरिक रचना मनुष्यो की सी है । उनके भी सिर, आँख, भुजा, हाथ पैर आदि होते है। इस विषय मे डा० सूर्यकान्त वैदिक देवशास्त्र की भूमिका मे लिखते है—

'अनेक स्थलो पर भी इस मानवीय रूप रचना का आरम्भिक रूप तक हमारे सामने आ जाता है। उदाहरण के लिये उषा को लीजिए—यह एक ऐसी देवी है जिसका मानवीकरण रूप-परिधान अभी तक ढीला-ढीला है और जब अग्नि शब्द से देवता का बोध होता है तब अग्नि देवता का व्यक्तित्व चहुँ ओर के प्राकृतिक तत्वो से गुनरा घुला-मिला रहता है ।' वैदिक देवतावाद के सम्बन्ध मे मैक्डानल ने लिखा है कि—'वैदिक देवशास्त्र का मूल प्राचीन काल से वैदिक युग तक अविच्छिन्न चलते आये उस विश्वास मे है जो मानव के समक्षवर्ती पदार्थों एव प्राकृतिक दृश्यो को चेतन एव देवी मानता रहा है । ऐसी कोई भी वस्तु जो मन मे भय पैदा कर सकती थी अथवा जिसके विषय मे यह भावना बन जाती थी कि उसका मानव पर भला या बुरा प्रभाव पड सकता है न केवल मानव के लिये आराधना का विषय बन जाती थी, अपितु वह उसकी प्रार्थना के योग्य भी हो जाय करती थी । फलत आकाश, पृथिवी, पर्वत, नदी और पौधो तक की उपासना दिव्य शक्तियों के रूप मे चल पडी थी और घोडा, गौ शकुन-पक्षी एव अन्य पशुओ का आह्वान किया जाने लगा था, यहाँ तक कि मानव के अपने हाथो बनाये पदार्थ शस्त्र, युद्धरथ, ढोल, हल एव कर्मकाण्ड के उपकरण-सवन-पाषाण एव यज्ञ स्तम्भ आदि सभी की उपासना सामान्य बन

ब्लूमफील्ड के अनुसार ऋग्वेद के मन्त्र आदिम जाति की बलिदान विधि की रचनाएँ हैं, जो कर्मकाण्ड को विशेष महत्त्व देती हैं। वेद मे वर्णित देव देवता यज्ञ की विविध विधियों और उपकरणों के प्रतीक हैं। इसीलिए अधिक गम्भीर नही हैं।

वर्गाइन के अनुसार वेद-मन्त्र रूपक (Allegory) हैं तथा इनमें वर्णि देवी-देवता सामाजिक परम्पराओं के प्रतीकात्मक रूप हैं।

पिक्टेट (Pictet) के अनुसार ऋग्वेद के आर्य एकेश्वरवादी थे, भले ह उनका यह एकेश्वरवाद आदिम रूप मे ही क्यों न हो। अनेक मन्त्रो मे देवाधि देव का उल्लेख मिलता है। रॉथ और स्वामी दयानन्द भी इस मत के समर्थक हैं। निरुक्त मे भी इस मत की स्वीकृति है।

राजा राममोहन राय वैदिक देवों को 'एक परमदेव के गुणो का लाक्षणिक (Allegorical) रूप से प्रतिनिधित्व करते हैं।' मन्त्रो के भिन्न-भिन्न देवी-देवता एक देव के विभिन्न पक्ष हैं, जो कि कभी-कभी महेश्वर भी कहा जाता है।

"श्री अरविन्द के अनुसार वेदो मे रहस्यवादी दर्शन और गुप्त सिद्धान्त सम्भूत हैं। मन्त्रो के देवी-देवता मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओ के चिह्न हैं। सूर्य बुद्धि का चिह्न है, अग्नि संकल्प का चिह्न है और सोम अनुभूति का चिह्न है। वेद प्राचीन यूनान के आरफिक (Orphic) और एल्युसिनियन (Eleusinian) मतो के समान रहस्यात्मक धर्म है। श्री अरविन्द के शब्दो मे, "मैं जो सिद्धान्त उपस्थित करता हूँ, वह यह है कि ऋग्वेद स्वयं एक महान् अभिलेख है जो कि मानव विचार के उस आदि काल से हमारे पास बना है, जिसके ऐतिहासिक एल्युसिनियन और आरफिक रहस्य असफल अवशेष थे, जिस काल से जाति का आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक ज्ञान, कुछ कारणो से जिनको कि अब निश्चित करना कठिन है, चिह्नों के मूर्त्त और भौतिक रूप के आवरण में छिपा दिया गया था, जो कि शब्दों से अर्थ को छिपा लेते थे और दीक्षितों को प्रकट कर देते थे।"[1] किन्तु डा० राधाकृष्णन् ने अरविन्द के इस विचार का खडन करते हुए लिखा है कि जब हम देखते हैं कि यह मत केवल आधुनिक [illegible]

लिए प्रमाण समझा जाता है, तो हम श्री अरविन्द घोष के नेतृत्व का अनुसरण करने मे हिचकते हैं; भले ही उनका मत कितना ही सुकल्पित क्यों न हो। यह सम्भव नहीं हो सकता कि भारतीय विचार की समस्त उन्नति वैदिक सूक्तों के उच्चतम आध्यात्मिक सत्यों से उतर कर शनैः-शनैः गिरती चली जाय। मानवीय विकास के सामान्य नियम के अनुसार यह स्वीकार करना तो सरल है कि परवर्ती धर्म और दर्शन असस्कृत सकेतों एवं आचार-सम्बन्धी मौलिक विचारों से और प्राचीन मानवीय मस्तिष्क की उच्च आकांक्षाओं से उदित हुए, बजाय इसके कि उनके विषय मे यह धारणा की जाय कि प्रारम्भ मे प्राप्त पूर्णता से अवनति के रूप में ये उत्पन्न हुए।'[1] डा० राधाकृष्णन् के अनुसार वेद के मन्त्रों मे 'पहले बाह्य जगत् की शक्तियों की पूजा करते-करते उपनिषदों का आध्यात्मिक धर्म उत्पन्न हुआ तो यह बात सरलता से समझ मे आ सकती है, क्योंकि धार्मिक उन्नति का स्वाभाविक नियम ऐसा ही है। इस पृथ्वी पर हर जगह मनुष्य बाह्य जगत् से चलकर आभ्यन्तर की ओर आता है। उपनिषदें प्राचीन प्रकृति-पूजा की ओर ध्यान न देकर मात्र वेदों मे संकेत रूप मे निविष्ट उच्चतम धर्म को ही विकसित करती हैं।'[2]

वैदिक देवो के स्वरूप, महत्त्व एवं विषय-विकास की भी अपनी एक कहानी है। यहाँ के देवों का महत्त्व एवं स्वरूप सदैव परिवर्तनशील रहा है। समष्टि दृष्टि से यदि विकास पर विचार करें तो हम कह सकते हैं कि वैदिक देवतावाद बहुदेववाद की ओर उन्मुख था, कालान्तर मे एकदेववाद और सर्वेश्वरवाद के रूप मे उसकी चरम परिणति होती है। ऋग्वेद का पुरुषसूक्त सर्वेश्वरवाद का पूर्ण परिपक्व स्वरूप प्रस्तुत करता है, वहाँ पर स्पष्ट रूप मे लिखा है कि 'उस पुरुष के सहस्र सिर हैं, सहस्र नेत्र तथा सहस्र पाद हैं अर्थात् उसके सिर, नेत्र तथा पैरों की स. या की इयत्ता नहीं है। वह इस विश्व के परिमाण से अधिक है। वह विश्व को चारों ओर से घेर कर दश अगुल अधिक बढ़कर है 'अत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्' मे दशाङ्गुल केवल परिमाणाधिक्य का उपलक्षण मात्र है। विश्व के समस्त मरणशील प्राणी उसके केवल एक चतुर्थ अंश मात्र हैं। उसका अमृत त्रिपाद आकाश मे है, वह अमरधर्मा प्राणियों का शासक है तथा उन मरणधर्माओं का भी जो अन्न-भोजन करने से बढ़ते हैं।

---

१-२ भारतीय दर्शन, पृ० ६८-६९

पुरुष के विषय मे विलक्षण तथ्य यह है—'पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्' १०।६०।२। अकेला पुरुष ही यह समस्त विश्व है जो प्राचीनकाल में उत्पन्न हुआ तथा जो आगे भविष्य मे उत्पन्न होने वाला है। यह सर्वेश्व वाद (पैनथीज्म) का सिद्धान्त पाश्चात्य विद्वानो की दृष्टि मे कार्यों के प्र धार्मिक विकास का सूचक है तथा ऋग्वेदीय युग की अन्तिम प्रौढ़ दार्शनि विचारधारा का परिचायक है। .......... ...पश्चिम विद्वानो की आलोचना 'पुरुष एवेदं सर्वम्' की भावना बहुदेवतावाद (पालीथीज्म) तथा एकदेवतावा (मोनोथीज्म) के अनन्तर जायमान धार्मिक विकास की सूचना देती है।'[1]

ऋग्वेद के दशम मण्डल मे अनेक सूक्तों के पर्यालोचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस प्रकार मुख्य देव या देवाधिदेव की कल्पना दृढ मूल हो गई थी, यही मुख्य देव कहीं प्रधानदेव, कहीं हिरण्यगर्भ 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्' तो कहीं पुरुष—'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्चभाव्यम्' कही प्रजापति के नाम से विख्यात हुआ था और परवर्तीकाल में यही सर्वमिदं खलु ब्रह्म की भावना का प्रेरक तत्त्व बना है।

अब हम संक्षेप मे वैदिक देवताओं की विशेषताओं का निर्देश करेंगे जिनसे देवताओ के स्वरूप परिज्ञान मे सरलता होगी। क्रमिक विकास की दृष्टि से सर्वप्रथम स्थान 'द्यौ' देवता का है, जो कि मानवीकृत द्युलोक के देवताओं मे प्राचीनतम है। इसका अधिकांशत उल्लेख पृथ्वी के साथ युग्म रूपो में मिलता है; जैसे—द्यावा पृथ्वी और यह इसलिए कि ये दोनो विश्व के माता-पिता हैं। ऋग्वेद के छह सूक्तो मे द्यौ को अखिल विश्व का स्रष्टा (माता-पिता) कहा गया है। ऋग्वेद मे एकाकी किसी भी सूक्त मे इसका उल्लेख नहीं है। यदि है तो पितृत्व की भावना से केन्द्रित होकर। द्यौ की तुलना मोती मण्डित कृष्ण-वर्ण के अश्व से की गई है जो कि स्पष्टतः तारांकित नभोमण्डल का प्रतीक है। द्यौ शब्द का अधिकांश मे प्रयोग आकाश के लिये हुआ है, इस अर्थ मे यह शब्द ऋग्वेद मे पाँच सौ बार प्रयुक्त हुआ है। पचास बार इसका प्रयोग दिन के अर्थ में हुआ है। कतिपय मन्त्रो मे द्यौ को वृषभ कहा गया है। ऐसा वृषभ जो कि रँभाता है। इन स्थलों पर देवता को पशु के रूप मे देखा गया है, क्योंकि द्यौ एक गरजने वाला पशु है जो कि पृथ्वी को उर्वर बनाता है। द्यौ

1. वैदिक साहित्य और संस्कृति : बलदेव उ

के पास वज्र है, द्यौ बादलों के बीच मुस्कराता है, जोकि ज्योतिर्मय आकाश की ओर संकेत करता है। वस्तुत. द्यौ की कल्पना में पशु मानवीकरण और मानव आकार रचना के बन्धन नहीं के बराबर हैं; किन्तु पितृत्व का भाव प्रबल रूप से विद्यमान है। द्यौ शब्द की निष्पत्ति दिव धातु से हुई है, जिसका अर्थ है चमकने वाला जो कि 'देव' शब्द का बोधक अर्थ है।

वरुण—इन्द्र को छोडकर वरुण अन्य देवताओ मे महान् है किन्तु सूक्तो की सख्या के आधार पर यदि उनका मूल्यांकन किया जाय तो वे नीचे के स्तर पर आ जाते हैं। वरुण का मानवीय शारीरिक पक्ष उतना स्पष्ट नही है जितना कि नैतिक पक्ष। वरुण के वर्णन मे उनका महत्त्व उनके कार्य से आका जाता है। वरुण मानवीय रूप मे मुख, नेत्र, भुज-द्वय, हाथ और पैर से युक्त हैं। कवि उनके मुख को अग्नि जैसा देखता है। मित्र और वरुण का नेत्र सूर्यदेव हैं। वरुण का स्वर्णिम आवास है और वह स्वर्ग है। वरुण अपने भवन मे बैठकर ससार के समस्त कार्य-कलापो का निरीक्षण करते हैं। उनका महत्त्व महान् और उन्नततम है, सहस्र स्तम्भो पर वह आवृत है, उनके घर मे सहस्रो द्वार हैं। वरुण के चरो का भी उल्लेख मिलता है, जो कि ससार का निरीक्षण करते हैं। वरुण एक नियामक देवता के रूप मे मान्य हैं। वरुण के सम्बोधन मे उक्त स्तुतियाँ भावपूर्ण कवित्वमय हैं। वरुण अपराधियो को दण्ड भी देते हैं। वरुण के विषय में यह भी कहा जाता है कि वे ऋतुओ का नियमन करते हैं, वे बारहमासो को जानते है—'वेद ये द्वपः शरदं मासमादहर्यज्ञमवर्त चाहुघम्' ऋग्वेद मे वरुण को जलो का शास्ता बताया गया है, उन्होंने सरिताओ को प्रवाहित किया; ये सरिताएँ वरुण के ऋतु का अनुसरण करती हुई निरन्तर प्रवाहित होती रहती है। वरुण की माया के बल मे सरिताएँ तीव्र वेग से समुद्र मे गिरकर भी उसे भर नहीं पाती हैं। वरुण और मित्र सरिताओ के पति हैं 'आराजमाला महस्त्रसस्य गोदा सिन्धुपती क्षत्रिया यातमर्वाक्' ७।६४।२। इसी आधार पर उत्तरकालिक पुराणो मे वरुण को जल देवता के रूप मे विशेष सम्मान मिलता है। नैतिक शासक होने के नाते वरुण सभी देवताओ मे ऊँचे है। पापकर्म से और इनके उल्लघन होने पर वरुण क्रुद्ध होते हैं और ऐसा करने वालो को कठोर दण्ड भी देते हैं। जिन पाशो से वरुण द्वारा पापियों को बाँधते है, वे पाश सात और तीन कड़ियो के हैं। वे असत्यवादियो को बाँधते हैं और सत्यवादियो से दूर रहते हैं। वरुण के साथ औरतियाँ भी हैं,

लेकर सभी प्राणियों की सहायता करते थे। वे हिरण्याक्ष, हिरण्यहस्त, हिरण्य-जिह्व हैं, वे हिरण्यबाहु पृथुपाणि भी हैं। वे मधुजिह्व, सुजिह्व भी है, एक बार उन्हें अयोहनु भी कहा गया है। वे हरि केश हैं, जो अग्नि और इन्द्र का एक गुण है। वे पीतवर्ण की पाती बाँधते हैं, उनके पास स्वर्णिम रथ है, वे विश्व रूप हैं। इनके रथ को दो चमकीले घोड़े अथवा बभ्रुवर्ण, श्वेत चरणों वाले घोड़े खींचते हैं। ओज और विभूति उनका विशेष गुण है। सविता देव देवताओं को अमरत्व और मनुष्यों को दीर्घायुष्य प्रदान करते हैं। मृतात्माओं को स्वर्ग पहुँचाना भी उन्हीं का काम है। सविता देव अन्य देवों के नेता हैं। इन्द्र, वरुण, मित्र, अर्यमन्, रुद्र आदि शक्ति सम्पन्न देव भी उनके सत्य व्रत गति और प्रिय स्वराज्य का उल्लंघन नहीं कर सकते हैं। उनका यशोगान वसु, अदिति, वरुण, मित्र आदि करते हैं। अनेक अन्य देवों की भाँति सविता देव को असुर भी कहा गया है, वे स्थिर विधानों का अनुपालन करते हैं। जल और वायु उनके आज्ञानुसार चलते हैं, वे जलों के नेता हैं। वैदिक कवियों की दृष्टि में सविता देव एक अधिक स्थूल देवता हैं। सविता मूलतः भारतीय देव हैं।

पूषन्—पूषन् को लक्ष्य कर ऋग्वेद में आठ सूक्त हैं। पूषन् का व्यक्तित्व अस्पष्ट और उनकी मानवीय आकार सम्बन्धी विशेषताएँ अल्प हैं, पूषन् के पैर और हाथों का उल्लेख मिलता है। रुद्र की भाँति उनके घुँघराले बाल भी हैं और दाढ़ी भी। उनके हाथ में सुनहरा बर्छा है और वे नोकदार आर औ[र] अंकुश अपने पास रखते हैं, उनके रथ के चक्रकोश और आसन का उल्लेख मिलता है, *उन्हें सर्वोत्तम सारथी भी माना गया है,* अजाश्व उनके रथ क[ो] खींचते हैं। उनका भोजन दलिया व सत्तू है। पूषन् अपनी माता व उषा क[े] प्रेमी है, उसे सूर्य की पुत्री सूर्या का पति कहा गया है। पूषन् का निवास-स्था[न] द्युलोक में है। पूषन् प्राणियों के साक्षी हैं। द्युलोक व पृथ्वीलोक में गति क[र]ते हैं। इन्हें मार्ग या राजपथों का देवता कहा गया है। पूषन् पशु-पालक व वि[ना] हानि पहुँचाये पशुओं को घर पहुँचाने वाले देव हैं, उपासक इसी को उनसे बा[र] बार प्रार्थना करता है। पूषन् के कुछ गुण अन्य देवों जैसे हैं, वे असुर हैं। शक्तिशाली, ओजस्वी, तेजस्वी, सबल और निर्बाध हैं। वे मर्त्यों से परे [हैं] वैभव में अन्य देवताओं के तुल्य है। वे वीरों के शासक और अजेय संरक्षक विश्व के रक्षक हैं, बुद्धिमान व उदार हैं। पूषन् शब्द का अर्थ पोषक है। पोषणार्थक पुष् धातु से निष्पन्न हुआ है।

**विष्णु**—विष्णु ऋग्वेद में संख्या की दृष्टि से चतुर्थ स्थान के अधिकारी हैं और महत्त्व की दृष्टि से बहुत आगे बढ़े हुए हैं। विष्णु की मानवीकृत विशेषताएँ उनके भ्रमण, बृहच्छरीर एवं युवाकुमारत्व आदि विशेषणों से प्रसिद्ध है; किन्तु उनकी चारित्रिक विशेषता उनके तीन पद हैं, वे उरगाय और उरक्रम भी हैं। विष्णु अपने तीन पदों द्वारा पार्थिव लोकों की परिक्रमा करते हैं। द्युलोक विष्णु का प्रिय आवास है, जहाँ भूरिशृङ्गा गायें विचरण करती हैं। विष्णु के इन्हीं तीन पदों में समस्त भुवन निवास करता है, ये पद मधु से सम्भृत हैं। विष्णु त्रिषधस्थ भी हैं। विष्णु के तीन पद सूर्यपथ के बोधक हैं विष्णु विष् धातु से निष्पन्न गतिमान अर्थ का बोधक शब्द है। विष्णु की इसीलिए एक विशेषता गति है। इसीलिए उरुगाय, उरुक्रम विशेषणों का प्रयोग इनके लिए हुआ है। विष्णु के चरित्र की दूसरी विशेषता इन्द्र की मैत्री है विष्णु समस्त युद्धों में इन्द्र के सहयोगी है, अत. उन्हें उपेन्द्र भी कहा गया है। विष्णु सुकृत्तर है, हत्यारे नहीं है, उत्तरदानी है, उदार संरक्षक हैं। केवल वे ही पृथ्वी, द्युलोक एवं अशेष भुवनों को धारण किए हुए हैं। परवर्ती साहित्य में अवतारवाद की धारणा का विकास इन्हीं विष्णु से हुआ है।

**अश्विनौ**—संख्या की दृष्टि से इन्द्र, अग्नि, सोम के उपरान्त युगल देवता अश्विनौ का स्थान है। ये देवों के वैद्य हैं, जो कि अन्धे को आँखें तथा लँगड़े को चलने की शक्ति प्रदान करते हैं। इनका स्वरूप पूर्णत स्पष्ट नहीं है। ये युग्म देव हैं, एक सूक्त का तो प्रयोजन ही यह है कि इनकी तुलना युगल पदार्थों से की जाय, जैसे कि चक्षु हाथ, पैर या जोड़ों से चलने वाले पशु-पक्षी, कुत्ते, बकरे, हंस और श्येन। अश्विन् युवा हैं, प्रकाशमान हैं, शुभस्पति हैं, हिरण्य ज्योति वाले हैं और मधुवर्ण हैं। उनके अनेक रूप हैं, वे सुन्दर हैं, कमलों की माला पहनते हैं। वे शीघ्रगामी हैं, मनोजवा हैं, बाज जैसे हैं, शक्तिमान हैं।

**मरुत**—ऋग्वेद में मरुत को ऊँचा स्थान प्राप्त है, वे रुद्र के पुत्र हैं अत. उन्हें बहुधा रुद्र या रुद्रिया कहा गया है। इन्हें प्रश्नि का पुत्र भी बताया गया है। इसलिए इनके लिए अनेक बार 'प्रश्निमातरः' यह विशेषण प्रयुक्त हुआ है। वैसे इनका चित्रण एक योद्धारूप में हुआ है। रुद्र अपने हाथ में विद्युत लेकर स्वर्णिम रथारूढ़ होकर विचरते हैं। यह रथ स्वर्णिम पहियों से युक्त है, इसमें शस्त्र रखे हैं। इनके अश्व चितकबरे हैं, एक स्पर

हवाओं को अश्वों के स्थान पर जोत दिया है। वे सिंह के समान प्रचण्ड एवं भयंकर हैं। ये पर्वत एवं जंगलों को तहस-नहस कर डालते हैं। इनका एक काम जल वर्षा करना भी है। मरुत व्योम के समान उरु अर्थात् व्यापक हैं, वे सूर्य के समान द्युलोक एवं पृथ्वी लोक को अतिक्रान्त किए हुए हैं। इनकी गरिमा अपरिमेय है। इनकी शक्ति का पार किसी ने नहीं पाया है। मरुत युवा हैं। मरुत के गर्जन का भी अनेकश उल्लेख मिलता है।

पर्जन्य—ऋग्वैदिक देवताओं में पर्जन्य का स्थान गौण है। केवल तीन सूक्तों में इनका स्तवन हुआ है। पर्जन्य वर्षा के देवता हैं जो कि पृथ्वी को उर्वरा बनाते हैं। जलमय रथ पर आरूढ़ होकर चारों ओर दौड़ना और जलहीन को खोलकर पानी को नीचे गिरा देता है। धारासम्पात वर्षा के समय वह गर्जन-तर्जन भी करता है। गर्जते हुए पर्जन्य दुष्कर्मियों, दानवों और पापियों को मार गिराते हैं। उनके दारुण अस्त्र से समग्र संसार भयभीत है। वे वात और विद्युत् को धारण करते हैं। वृष्टि के देव होने के कारण पर्जन्य-स्वभावतः वनस्पति के उत्पादक और पोषक हैं। ऋग्वेद में पर्जन्य शब्द मेघ का विशेषण है और साथ ही मानवीकृत देव भी है।

होते हैं, किन्तु जन्म होते समय वे माँ के गर्भ से ही बोल उठते हैं। यह दुर्-जिय देवता अपने अनेकानेक व्यक्तिगत गुणों के आधार पर अन्य देवों की अपेक्षा देवराज बनने का पूर्णतः अधिकारी है। इन्द्र के विशाल आकार का अनेकशः उल्लेख मिलता है. यदि पृथ्वी दस गुनी हो जाती है तो सम्भवतः वह इन्द्र के बराबर हो पाती। उत्पन्न होने वालों में ऐसा कोई नहीं है जो उनकी समता कर सके। कोई भी व्यक्ति पार्थिव या दिव्य न तो ऐसा उत्पन्न हुआ है और न उत्पन्न होगा, जो उनकी बराबरी कर सके। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि इन्द्र आर्यों का राष्ट्रीय देव है। उसमें समस्त विशेषताएँ निहित हैं, वैदिक ऋषि इन्द्र में परमात्म तत्व के दर्शन करते हैं। साथ ही आर्य लोग इन्द्र को देवश्रेष्ठ और महान् शूरवीर मानते हैं। अध्यात्म दृष्टि से इन्द्र परमात्मा थे। अधिदैव दृष्टि से देवश्रेष्ठ और अधिभूत दृष्टि से एक महान् योद्धा थे। परवर्ती ब्राह्मण-ग्रन्थों और उपनिषदों में इन्द्र को अद्वितीय आत्मा, जीवात्मा प्राण आदि कहा गया है। वैदिक साहित्य का इन्द्र तत्व एक विशिष्ट प्रतिपाद्य तत्व है। इन्द्र का नाम अवेस्ता में केवल दो बार आया है। वहाँ वे देवता नहीं अपितु दानव के रूप में प्रतिष्ठित हैं। उनका स्वरूप भी वहाँ अनिश्चित एवं अधिक स्पष्ट नहीं है। इन्द्र का निजी वैदिक विशेषण वृत्रघ्न भी वहाँ वेरेग्घ्न के रूप में आया है। हाँ, इन्द्र वहाँ विद्युत् तूफान के देवता न होकर केवल युद्ध के देवता हैं।

रुद्र—यह उत्तरकालीन रुद्र से सर्वथा भिन्न देवता है। ऋग्वेद में इनका स्थान गौण है। इनके निमित्त केवल पूर्णतः तीन ही सूक्त हैं और अंशतः एक सूक्त है। इनका नामोल्लेख विष्णु की भी अपेक्षा कम केवल ७५ बार हुआ है। ऋग्वेद में इनकी शारीरिक विशेषताओं में इनके एक हाथ है, इनकी भुजा एवं शारीरिक रचना सुगठित है। इनका रंग बभ्रु है, सुन्दर होठ हैं। इनके बाल घुँघराले हैं। ये द्युतिमान सूर्य की भाँति देदीप्यमान हैं, ये स्वर्णिम आभूषणों से सुसज्जित हैं, रथारूढ भी हैं। रुद्र के शस्त्रों का भी उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है। उनके हाथ में वज्र है, उनका विद्युत् कृपाण आकाश से आकर पृथ्वी पर भ्रमण करता है। उनके पास धनुष-बाण भी हैं। एक बात उनकी विशेष उल्लेखनीय यह है कि उनका साहचर्य मरुतों के साथ है। वे उनके पिता हैं, मरुतों के विषय में लिख

हैं। ऋग्वेद में उन्हें अनुदार देव माना गया है। यही नहीं,

भीम एवं घातक हैं। वे द्युलोक के वराह हैं, वे वृषभ हैं, वे बृहत् एवं दृढ़बल बाणों में वसिष्ठ, अजेय हैं; त्वरित गति भी हैं। वे युवा हैं। इसी प्रकार की उनकी अनेक विशेषताओं का उल्लेख मिलता है। वे सरिताओं को धरती पर प्रवाहित करते हैं, गर्जन-तर्जन के साथ सभी चीजों को आर्द्र करते हैं। वे प्रचेतस हैं, कवि हैं, उनका हाथ मृडयाकु है। वे कामों के पूर्ण कर्त्ता हैं, अन्नादि के दाता हैं, वे ही कल्याणकारी शिव हैं। ऋग्वेद के अध्ययन से उनके प्राकृतिक आधार का ज्ञान स्पष्ट नहीं होता है, फिर भी वे तूफान के देव माने जाते हैं। अर्थ की दृष्टि से रुद्र की व्युत्पत्ति अनिश्चित है, सामान्यतः रुद्र शब्द की व्युत्पत्ति रुद् (चिल्लाना) धातु से की जाती है। ग्रासमान एवं पिशल क्रमशः इस धातु से चमकना व लोहित होना अर्थ करते हैं।

उषस्—प्रातःकाल की अधिष्ठात्री देवी उषा के निमित्त ऋग्वेद में लगभग २० सूक्त हैं। तीन सौ बार से अधिक इसका उल्लेख हुआ है। उषा की रचना वैदिक काल की सबसे मनोरम कल्पना है और संसार के किसी भी साहित्य में उषा से अधिक आकर्षक चरित्र नहीं मिलता। उषा अपने शरीर को शुभ्रवस्त्रों से आवृत करके नर्तकी की भाँति अपने वक्षस्थल का प्रदर्शन करती है। माता द्वारा प्रसाधित कुमारी की भाँति वह अपनी छवि को फैलाती है। प्रकाश के वसन को धारण कर वह पूर्व दिशा से उदित होती है। आकर्षक छवि से पूर्ण अद्वितीय सौन्दर्यवती उषा अन्धकार का निवारण कर अपने प्रकाश को सभी को समान रूप से दान करती है। उषा पुराण युवती है। पुरानी होकर भी चिर नवीन है। जैसे वह पहले चमकती थी वैसे ही आज भी। उषा सोते हुए को जगाती है, प्राणि मात्र को द्विपद, चतुष्पद, पक्षी गणों को भी गति देती है। पाँच जनों को प्रबुद्ध करती हुई राजपथों का आविष्कार करती है। सभी के लिए नवजीवन दान करती है। रात्रि के वसन का अपसारण करती है, दुरात्माओं और कलुषित अन्धकार की निवारक है। उसका रथ ज्योतिष्मान् है। सैकड़ों रथों पर आरूढ़ वह रक्त घोड़ों से खींची जाती है। वह एक दिन में तीस योजन मार्ग चल लेती है। उषा का सूर्य से निकट सम्बन्ध है। यज्ञाग्नि नियमतः उषा काल में समृद्ध होती है, अतः वह अग्नि से भी सहज ही सम्बद्ध हो जाती है। उषा देवी की उपासना में उपासकों पर कृपालु होने के लिए अनेकशः प्रार्थनाएँ की गई हैं। धनधान्य, वैभव, पुत्र-पौत्रादि के साथ सुरक्षा

और दीर्घ जीवन प्रदान करने के लिए भी प्रार्थनायें हैं। उषा शब्द 'वस्' (चमकना) धातु से बना है।

अग्नि—पृथ्वी स्थानीय देवों में अग्नि प्रमुख हैं। इन्द्र के बाद वैदिक देवों में अग्निदेव का ही स्थान है। ऋग्वेद में इनके लिए लगभग २०० सूक्त हैं। अन्य अनेक सूक्तों में अन्य देवों के साथ भी संस्तुत हैं। वैदिक कवियों ने सरल, तीक्ष्ण, हृदयस्पर्शी वाणी में अग्नि का स्तवन किया है। अग्नि मानव मित्र है, वह मनुष्य और देवताओं के बीच मध्यस्थ और दूत का काम करता है, अग्नि गृहस्थों का देवता है। अग्नि गृहस्थों के बाल-बच्चों की रक्षा करता है, अतः गृहपति भी कहा गया है। अग्निदेव प्रत्येक गृह के अतिथि भी हैं। अग्नि शब्द भौतिक अग्नि का भी द्योतक है। अतः अग्निदेव की स्थिति प्रारम्भिक अवस्था की है। वे घृतपृष्ठ, घृत प्रतीक, मन्द्रजिह्व हैं। अग्नि-घृत सोम, [illegible], हरिकेश, हिरण्यश्मश्रु भी हैं। उनके जबड़े तेज एवं तप्त हैं, उनके दांत स्वर्णिम अथवा प्रकाशमान हैं। उनकी जिह्वा का अनेकशः उल्लेख मिलता है जो कि तीन या सात हैं, उनके अश्व भी सप्तजिह्व हैं। अग्नि की उपमा अनेक पशुओं से दी गई है और अचेतन पदार्थों से भी अग्नि की तुलना अनेक बार की गई है। सूर्य की भांति वे स्वर्णिम हैं। जब अग्निदेव अपनी जिह्वा फैलाते हैं तो वह कुल्हाड़ी की भांति दीखती है, उन्हें स्वच्छ रथ भी बताया गया है। अग्नि के प्रकाश का भी सुन्दर वर्णन किया गया है। वे भास्वर एवं भास्वर ज्वालाओं वाले हैं, वर्ण भी उनका भास्वर है। वे हिरण्यरूप हैं और सूर्य की भांति भासित भी हैं, उनकी प्रभा उषा, सूर्य और मेघ विद्युत् जैसी है। वे रात्रि में भी चमचमाते हैं, सूर्य की भांति अन्धकार को ध्वस्त करते हैं, अग्नि के पथ भांति कृष्ण वर्णों के हैं, उनकी गर्जना में मधुर [illegible] जैसी गर्जन-तर्जन भी है। अग्निदेव विद्युत् रथ पर चढ़ते हैं, [illegible] रथ पर जो कि द्युतिमान, प्रकाशमान, भास्वर, चमकीला, स्वर्णिम और मधुर है। वैदिक ऋषियों के अनुसार अग्नि के तीन जन्म हैं। यही नहीं, [illegible] [illegible] के [illegible] भी [illegible] जाता है। [illegible] [illegible] भी अग्नि के [illegible] है। [illegible] जन्म लेता है [illegible] [illegible] जाता है। [illegible] [illegible] सूर्य रूप में चमकता है। [illegible] [illegible] [illegible] है [illegible] [illegible] बड़वानल के रूप में। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है। [illegible] बार जैसी [illegible] करता है। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है।

क्योंकि अदिति भी इसी का एक रूप है। अदिति शब्द की व्युत्पत्ति समाहरण स्वर्ग अद् धातु से हुई है जिसका अर्थ होता है 'अनन्तता' जो कि प्रकृति की अपरिमितता का द्योतक है।

सोम—सोम ऋग्वेद के महान् देवों में से है। इसके लिए नवम मण्डल के ११४ सूक्त तथा अन्य मण्डलों के ६ सूक्त समर्पित किये गए हैं। कुछ सूक्तों में अन्य देवों की स्तुति की गई है। मन्त्रों की अधिकता की दृष्टि से ऋग्वेद में सोमदेव तृतीय स्थान के अधिकारी हैं। सोम का मानवीय विग्रह अधिक विकसित नहीं हो सका है। सोम का वनस्पति रूप अधिक उभर कर आया है। नवम मण्डल में प्रधान रूप से स्वच्छ सोम का गुणगान किया गया है। सोम का पाषाणों से सेवन किया जाता है और देवों को यह पेय रूप में प्रदान किया जाता है जो कि उन्हें अमरत्व दान करता है। इसकी शुद्धि दस कुमारियाँ करती हैं जो कि इसकी बहनें हैं। ये दस कुमारियाँ हमारी दस उँगलियों की प्रतीक भी हैं। सोम अपने पूजकों को यमलोक ले जाता है। यह स्वच्छ एवं विचारों में परिवर्तन भी कर देता है तथा मादकता इसका गुण है। यह वनस्पतियों में शिरोमणि है। इसका घर पर्वत है। मूल उत्पत्ति स्थान स्वर्ग है जहाँ से श्येनपक्षी इसे भूतल पर लाया था। सोम शब्द की व्युत्पत्ति पेषणार्थक 'सु' धातु से है।

पृथ्वी स्थानीय देवों में नदियों का नाम भी सम्मान के साथ लिया जाता है। इसी प्रकार पृथ्वी स्वयं एक देवी है। उसका गुणगान अधिकतर 'द्यौ' के साथ हुआ है। ऋग्वेद में एकाकी पृथ्वी के लिए केवल एक सूक्त है। पृथ्वी का शरीर रूप स्वल्प है, क्योंकि इस देवी में प्राप्त समस्त विशेषताएँ प्राय भौतिक पृथ्वी में मिल जाती हैं। ऋग्वेद में लिखा है कि पृथ्वी उपद्रवों से सम्पन्न है। वह पर्वतों के भार को सम्भालती है। अन्य औषधियों को धारण करती है। वह पानी बरसा कर धरती को उर्वरा करती है। पृथ्वी का अर्थ है, विस्तृत। इस शब्द की निष्पत्ति प्रथ विस्तारे धातु से हुई है।

### भावात्मक देवता

ये दो प्रकार के हैं—एक तो वे जो मनोभावों के सीधे मानवीकरण हैं, जैसे काम। इस प्रकार के देवता कम हैं और ऋग्वेद के सर्वाधिक परवर्ती सूक्तों में इनका स्थान है, इनका मूल सूक्ष्म विचारों की अभिवृद्धि में है। दूसरे वे

बहुसंख्यक देवता हैं जिनके नाम धातुओं में 'तृ' प्रत्यय लगाकर बने हैं जो कि कर्त्तव्य के बोधक हैं या किसी व्यापार के; जैसे—'धाता' और 'प्रजापति'। वेद के गाथेय पात्रों की कल्पना में होने वाले विकास पर ध्यान देने पर विदित होता है कि ये देवता प्रत्यक्षतः भावों के प्रतिरूप नहीं हैं। ये देवता-विशेष अथवा देवता सामान्य के लिए प्रयुक्त विशेषणजन्य हैं। यही विशेषण परवर्ती काल में विशेष्य से पृथक् होकर स्वयं देवरूप में स्थित हो गए। ऋग्वेद में कुछ अदिति जैसी देवियाँ और अप्सराएँ भी हैं।

इस प्रकार ऋग्वेद में आये हुए कुछ देवताओं के स्वरूप का हमने यहाँ विवेचन प्रस्तुत किया है। वैसे अन्य अनेक देव भी हैं जिनका विस्तार से भी उल्लेख नहीं हुआ है। इन देवों में विवस्वान, आदित्य, अपांनपात्, मातरिश्वा, वायु, आप, बृहस्पति, यम, विशेष हैं। ऋग्वेद के देवताओं का अध्ययन करते समय देवता-युग्म तथा देवगणों की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती है। उनका भी यहाँ उल्लेखनीय महत्त्व है।

प्रश्न—वेदों के रचनाकाल के निश्चय करने में विभिन्न विद्वानों ने जो प्रयास किया है, उसका विवेचन कीजिए। साथ ही अपना भी अभिमत लिखिए।

Discuss the age of Rigveda.

—आ० वि० वि० ६४, ६६, ६८, ७०, ७१

Or

Discuss the age of the Rigveda. Which of the theories regarding the date of the Rigveda appeals to you most? Adduce reason.

तथापि पाश्चात्य भौतवादियों के समान हम केवल आनुमानिक प्रणाली द्वारा ही सम्बद्ध सत्य के निकट पहुँच सकते हैं।

भारतीय आस्तिक विचारधारा के विद्वान् वेदों को अपौरुषेय अनादि एवं शाश्वत मानते हैं; उनकी मान्यता है कि विभिन्न कालों में समाधिकालीन महर्षियों के सहज शुद्ध अन्तःकरण में मन्त्रों का प्रादुर्भाव हुआ है। इन महर्षियों ने मन्त्रों का दर्शन किया है, क्योंकि 'ऋषयो मन्त्र द्रष्टारः' ऋषि द्रष्टा होते हैं, स्रष्टा नहीं। इस प्रकार उनके मत में वेदों की रचना का अर्थ होता है, ब्रह्म के निःश्वास भूत मन्त्रों का ध्यान-नेत्रों द्वारा साक्षात्कार।

अब हम प्राच्य एवं पाश्चात्य विद्वानों द्वारा वेद रचना-काल के विषय में किये गये विचारों का संक्षेप में उल्लेख करेंगे। भारतीय विद्वान् पण्डित दीनानाथ शास्त्री चुलेट ने 'वेदकाल-निर्णय' नामक पुस्तक में ज्योतिष गणना के द्वारा यह सिद्ध किया है कि वेदों का निर्माण-काल आज से लगभग ३००००० वर्ष पूर्व का है, किन्तु पाश्चात्य विद्वान् इस विश्वास में अपना अभिमत प्रकट नहीं करते हैं। उनका कहना यह है कि वेद ईश्वरकृत नहीं हैं, वे ऋषिकृत हैं उनकी रचना क्रमशः एवं हजारों वर्षों में हुई है। ईसाइयों की धर्म पुस्तकों में सृष्टि का रचना-काल लगभग आठ हजार वर्षों का है। इसलिए पाश्चात्य विद्वान् वैदिक संस्कृति एवं वैदिक साहित्य को इन आठ हजार वर्षों से ऊपर नहीं ले जाना चाहते हैं, इसीलिए वे वेदों के रचना-काल की अन्तिम सीमा अधिक से अधिक चार हजार वर्ष तक मानते हैं। एक बात और भी है कि भारतीय आस्था के अनुसार वेद ईश्वर के निःश्वास से समुद्भूत हैं। उसके विषय में पाश्चात्य विद्वानों का अपना मत है कि जब भाषा का विकास क्रमशः हुआ है फिर वेद के शब्द एवं भाषा एक साथ एक रूप में कैसे आ सकते हैं और वह भी सृष्टि के आदि में। भाषा का विकास एक लम्बी जीवन यात्रा की अमर कहानी है। इसलिए पाश्चात्य विद्वानों ने अपने इसी मत के अनुसार ऋग्वेद के समय-निर्धारण का प्रयत्न किया है।

डा० ए० वेबर ने अपनी 'भारतीय साहित्य का इतिहास' नामक पुस्तक में वैदिक साहित्य को अत्यन्त प्राचीन स्वीकार किया है। ऋग्वेद के प्राचीनतम भाग से यह आभास मिलता है कि उस काल में आर्य पञ्जाब में अवस्थित थे। भारतीय सीमा को पार कर धीरे-धीरे पूर्व में गङ्गा की ओर बढ़ने का संकेत उत्तर वैदिक काल में होता है। दक्षिण में ब्राह्मण धर्म के प्रसार के संकेत

हमें महाकाव्यों में उपलब्ध होते हैं। अतः यह निश्चित है कि दक्षिण मे ब्राह्म धर्म के प्रसार के पूर्व शताब्दियाँ व्यतीत हो चुकी होंगी। ऋग्वेद की प्राकृ पूजा से उठकर उपनिषद् ग्रन्थों के आध्यात्मिक तथा दार्शनिक तत्त्वों तक पहुँचने वाले सिद्धान्तों के विकास मे तथा उन पौराणिक धर्म-सिद्धान्तो के विकास मे अवश्य ही शताब्दियो की अवधि लगी होगी जिन्हें ईसा पूर्व ३०० में मेगस्थनीज ने भारत मे प्रचलित पाया था।

मैक्समूलर ने तिथि निश्चय की दिशा मे सर्वप्रथम प्रयास किया है। उन्होंने 'प्राचीन भारतीय साहित्य का इतिहास' नामक ग्रन्थ में इस पर विचार किया। उनका कहना है कि बौद्धधर्म ब्राह्मण धर्म की प्रतिक्रिया मात्र है। अत इससे कल्पना की जा सकती है कि इससे पूर्व वैदिक साहित्य अवश्य निर्मित हो चुका होगा। अत समस्त वैदिक साहित्य प्राक् बौद्धकालीन (५०० ई० पू० से पहले का) है। वेदाङ्ग अथवा सूत्र साहित्य अवश्य बौद्धधर्म की उत्पत्ति एवं विकास के प्रथम चरण के काल की रचना है। इस सूत्र साहित्य का समय उन्होंने ६००-२०० ई० पू० निश्चित किया है। उनके विचार मे ब्राह्मण साहित्य के विकास मे भी २०० वर्ष अवश्य लगे होगे, अत ब्राह्मणो का रचना काल ८०० से ६०० ई० पू० है। वैदिक संहिताओं का सम्पादन १०००-८०० ई० पू० मे हुआ होगा। सम्पादन से पूर्व २०० वर्ष तक मन्त्र लोकप्रिय प्रार्थना के रूप मे भी रहे होगे। अत यह युग १२००-१००० ई० पू० मे हुआ होगा। इस प्रकार वैदिक मन्त्रो की रचना का प्रारम्भ १०००-१२०० ई० पू० मे हुआ होगा।

इस काल में नक्षत्र गणना कृत्तिका नक्षत्र से प्रारम्भ होती थी जब कि आज नक्षत्र गणना अश्विनी नक्षत्र से प्रारम्भ होती है। प्रो० जेकोबी को ब्राह्मणकाल में एक ऐसा वर्णन मिलता है कि उस समय भी कृत्तिका नक्षत्र उदित होता था और वासन्त संक्रांति (Velnal equinox) भी था। अयन गति की गणना के आधार पर उन्होंने यह सिद्ध किया कि वह वासन्त संक्रान्ति ई० पू० २५०० में हुई थी। इसी प्रकार वैदिक संहिताओं के अध्ययन करते समय तिलक महोदय ने मृगशिरा नक्षत्र में वासन्त संक्रांति का उल्लेख प्राप्त किया है। अयन गति के आधार पर यह दशा ४५०० ई० पू० में सम्भावित है। यह संहिताओं का रचना-काल था। प्रो० जेकोबी भी ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना के पूर्व संहिताओं के रचना-काल के लिए आनुमानिक कल्पना करते-करते सभ्यता के विकास का उदय-काल ४५०० ई० पू० तक स्वीकार करते हैं और तिलक महोदय यह काल ई० पू० ६००० वर्ष स्थापित करते हैं। प्रो० जेकोबी ने अपने मत को प्रमाणित करने के लिए तत्कालीन प्रचलित एक ऐसी विवाह परिपाटी का उल्लेख किया है, जिसमें वर-वधू ध्रुव नक्षत्र के दर्शन करते हैं और उसके समान ही अपने प्रणय सम्बन्ध के चिरस्थायित्व की प्रार्थना करते हैं। जेकोबी के अनुसार इस वैवाहिकी प्रथा का उद्गम उस काल में हुआ था, जबकि ध्रुव नक्षत्र उत्तरी ध्रुव के इतने समीप विद्यमान था कि लोगों को वह स्थिर दिखलाई पड़ता था। इस काल को उन्होंने ३००० ई० पू० का पूर्वार्द्ध

छन्दों की तुलना वे ब्राह्मणग्रन्थ के छन्दों से करते हैं। इस प्रकार उन्होंने ऋग्वेद की रचना १००० ई० पू० के लगभग सिद्ध की है।

ह्विटनी तथा मैक्समूलर के वैदिक साहित्य सम्बन्धी चार कालों को स्वीकार करते हैं, किन्तु छन्द काल का समय वे २०००-१५०० ई० पू० में मानते हैं। वेबर भी ह्विटनी के मत के अनुयायी हैं। हाग ने वेदांग, ज्योतिष के निम्नलिखित पद के आधार पर ऋग्वेद का नवीन रचना-काल निर्धारित किया है—

> प्रपद्येते श्रविष्ठादौ सूर्याचन्द्रमसावुदक् ।
> सार्पार्धे दक्षिणार्कस्तु माघश्रावणयोः सदा ॥

प्रस्तुत पद के आधार पर हाग ने दो निष्कर्ष निकाले हैं—(१) बारहवीं सदी ई० पू० में भी भारतीयों का ज्योतिष ज्ञान इतना बढ़ा हुआ था कि वे नक्षत्र उपपत्तियों से परिचित थे। (२) प्रायः समस्त प्रमुख क्रिया-कलापों का समावेश तब तक ब्राह्मण ग्रन्थों में हो चुका था। ब्राह्मण ग्रन्थों का निर्माण काल ४१०० से १२०० ई० पू० है और संहिता काल २४०० से ४१०० ई० पू०। किन्तु प्राचीनतम ऋचाएँ एवं याज्ञिक मन्त्र कुछ समय पूर्व ही निर्मित हुए होंगे। इस प्रकार वैदिक साहित्य का प्रारम्भ २४०० ई० पू० में माना जा सकता है। ऋग्वेद के प्रणयन का भी यही समय है।

शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने शतपथ ब्राह्मण के एक प्रमाण के आधार पर ऋग्वेद का निर्माण काल ३२०० ई० पू० में सम्भावित किया है।

सर आर० जी० भाण्डारकर 'केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया' में वैदिक काल के निर्णय का प्रयत्न करते हैं। उनकी मान्यता है कि वैदिक असुर एवं असीरियन शब्द में पारस्परिक समता है, फलतः उनके मत में वैदिक ऋचाओं का निर्माण काल २५०० ई० पू० में निश्चित होता है।

सिकन्दर के शासन-काल में ग्रीक विद्वानों ने भारतीय राजाओं की वंशावली संगृहीत की थी, उसके अनुसार चन्द्रगुप्त तक १५४ राजवंश ६४५७ वर्षों तक भारत में राज्य कर चुके थे। निश्चय ही इन समस्त राजाओं से पूर्व ऋग्वेद बन चुका था। इस तरह ऋग्वेद का रचना-काल ८००० वर्षों का कहा जा सकता है।

पूना के नारायण भवराव पावगी ने भी भूगर्भ-शास्त्र के आधार पर

६००० वर्ष पूर्व वेद रचना का समय सिद्ध करने का प्रयास किया है। इस प्रकार अमलनेस्कर वेदों के रचना-काल को ६६००० वर्ष पूर्व तक ले जाते हैं; किन्तु अवेस्ता (८०० ई० पू०) की भाषा रचना की समानता के आधार पर वेदों का रचना-काल ८०० ई० पू० तक मानने वाले भी हैं। वेद रचना-काल के सम्बन्ध में मैक्समूलर आदि विद्वानों के मतों का विवेचन करते हुए जीo बूल्हर ने लिखा है कि शिलालेखों, भाषा-साहित्य तथा संस्कृति के आधार पर भी यह कहा जा सकता है कि वैदिक संहिताओं की अवधि अनेक सदियों की है। इसी प्रकार विन्टरनिट्ज ने विभिन्न मतों का विवेचनात्मक उपसंहार करते हुए लिखा है कि वेदों का काल-निर्धारण करना सम्भव नहीं है और अन्ततः वह २५०० ई० पू० ऋग्वेद का रचना-काल मानता है। ऋग्वेद के निर्माण-काल के विषय में ऊपर कुछ प्रधान एवं अप्रधान मतों का निर्देश किया है। इन सभी विचारों के होते हुए भी हम किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पाते हैं। इसीलिए फ्रेडरिक श्लेगेज ने लिखा है कि संसार में सबसे प्राचीन ग्रन्थ वेद हैं। इसका समय निश्चित नहीं किया जा सकता है। इनकी भाषा भारतीयों के लिए भी उतनी ही कठिन है जितनी विदेशियों के लिए। Enlightenment upon the history of the premitive world so dark until now. वेदों के विद्वान् वेबर ने भी लिखा है "वेदों का समय निश्चित नहीं किया जा सकता है, ये उस तिथि के बने हुए हैं जहाँ तक पहुँचने के लिए हमारे पास उपयुक्त साधन नहीं हैं। वर्तमान प्रमाण राशि हम लोगों को उस समय के उन्नत शिखर पर पहुँचाने में सदा असमर्थ हैं। वस्तुतः जब विभिन्न मतों में इतने वर्षों का विशाल अन्तर है फिर एक मत से कैसे किसी निश्चित समय का संकेत किया जा सकता है। हाँ, इस विषय में ऐतिहासिक अनुसंधान के लिए पर्याप्त क्षेत्र है। मोहनजोदड़ो की लिपियाँ ऐतिहासिक अनुसन्धान के द्वारा सम्भव है, किसी निश्चित काल-निर्धारण की ओर संकेत करें? वेद काल-निर्धारण के समग्र मन्थन के उपरान्त इतना तो अवश्य ही कहा जा सकता है कि वेदों का रचना-काल अब इतना अर्वाचीन नहीं है जितना कि पहले माना जाता था। पश्चिमी विद्वान् भी आज से लगभग ५००० वर्ष पूर्व वेदों का रचना-काल मानने लगे हैं।

प्रश्न—ऋग्वेद के काव्य-सौन्दर्य का ...

उत्तर—भावुक हृदय में भावों की अ

काव्य कहलाता है। अभिव्यक्ति के उपकरणों (भाषा, अलङ्कार, छन्द, शैली) से कल्पना का जितना ही अधिकार होगा, उतनी अभिव्यक्ति उतनी ही सुन्दर एवं प्रभावी होगी, काव्य के लिए भावपक्ष एवं कलापक्ष दोनों की सत्ता नितान्त अपरिहार्य है। वेदों के काव्य-सौन्दर्य के ऊपर जब हम विचार करते हैं तो पता चलता है कि वैदिक ऋषियों की भावोन्मेषिनी प्रतिभा ने जिस ज्ञान-धारा एवं कर्मकाण्ड की भावना की है, वह अपने भावपक्ष की दृष्टि से अनुपम है, विश्व के काव्य-साहित्य में उनकी तुलना करने वाले काव्य अल्प ही होंगे। मानवता के शाश्वत सिद्धान्त, नैतिकता के उपदेश, दर्शन, आख्यान आदि न जाने कितने तत्त्व हैं जो भावपक्ष के शृङ्गार बन सकते हैं। यदि एक ओर वेद मन्त्रों में नीति उपदेश हैं तो हमें यह भी नहीं भूल जाना चाहिए कि उन नैतिक उपदेशों की अभिव्यक्ति मार्मिक है। यम-यमी, सोम-सूर्या, पुरुरवा-उर्वशी आदि आख्यानों में कितनी मौलिकता के साथ नैतिक उपदेश एवं काव्य-सौंदर्य की छटा मिलती है। कलापक्षीय तत्त्वों की ओर जब हम ध्यान देते हैं तो हमें पता चलता है, वैदिक ऋषि अपनी अनुभूतियों में तीव्रता लाने के लिए तथा पाठक के हृदय में सहज अपने भावों की अवतारणा के लिए अलकारों का भी उपयोग करता है। रस-विधान की योजना में भी अलकारों को अपनाता है। कोमल कल्पना की उन्मुक्त उड़ान भरता है। कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि वेदों में काव्य का सौन्दर्य पूर्ण रूप से विद्यमान है। श्री बलदेव उपाध्याय "वैदिक साहित्य एवं संस्कृति" नामक ग्रन्थ में लिखते हैं कि—

"उनके रूपों का भव्य वर्णन कवि की कला का विलास है तो उनके भीतर सुकुमार प्रार्थना के अवसर पर कोमल भावों, हार्दिक भावनाओं की रुचिर अभिव्यंजना है। उषा विषयक मन्त्रों में सौन्दर्य भावना का आधिक्य है तो इन्द्र विषयक मन्त्रों में तेजस्विता का प्राचुर्य है। अग्नि के रूप वर्णन में स्वभावोक्ति का आश्रय है तो वरुण की स्तुति के अवसर पर हृदयगत कोमल भावों की मधुर अभिव्यक्ति है। इस प्रकार वेद के मन्त्रों में काव्यगत गुणों का पर्याप्त दर्शन होना काव्य-जगत् की कोई आकस्मिक घटना नहीं है। तन्मयता तथा अनन्यता का यह विशद् परिचायक चिह्न है, भावों की सरल-सहज अभिव्यक्ति। निःसन्देह वेदों में इसका विशाल साम्राज्य है।"[१]

---

१. वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ० ३३४

६००० वर्ष पूर्व वेद रचना का समय सिद्ध करने का प्रयास किया है। इसी प्रकार अमलनेरकर वेदों के रचना-काल को ६६००० वर्ष पूर्व तक ले जाते हैं, किन्तु अवेस्ता (८०० ई० पू०) की भाषा रचना की समानता के आधार पर वेदों का रचना-काल ८०० ई० पू० तक मानने वाले भी हैं। वेद रचना-काल के सम्बन्ध में मैक्समूलर आदि विद्वानों के मतों का विवेचन करते हुए जी० बूह्लर ने लिखा है कि शिलालेखों, भाषा-साहित्य तथा संस्कृति के आधार पर भी यह कहा जा सकता है कि वैदिक संहिताओं की अवधि अनेक सदियों की है। इसी प्रकार विन्टरनित्ज ने विभिन्न मतों का विवेचनात्मक उपसंहार करते हुए लिखा है कि वेदों का काल-निर्धारण करना सम्भव नहीं है और अन्ततः वह २५०० ई० पू० ऋग्वेद का रचना-काल मानता है। ऋग्वेद के निर्माण-काल के विषय में ऊपर कुछ प्रधान एवं अप्रधान मतों का निर्देश किया है। इन सभी विचारों के होते हुए भी हम किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुंच पाते हैं। इसीलिए फ्रेडरिक श्लेगेज ने लिखा है कि संसार में सबसे प्राचीन ग्रन्थ वेद हैं। इसका समय निश्चित नहीं किया जा सकता है। इनकी भाषा भारतीयों के लिए भी उतनी ही कठिन है जितनी विदेशियों के लिए। Enlightenment upon the history of the premitive world so dark until now. वेदों के विद्वान् वेबर ने भी लिखा है "वेदों का समय निश्चित नहीं किया जा सकता है ये उस तिथि के बने हुए हैं जहां तक पहुंचने

करना चाहता है। अभिव्यक्ति के साधनों (भाषा, अलङ्कार, छन्द, पर कलाकार का जितना ही अधिकार होगा, उसकी अभिव्यक्ति उतनी अधिक सफल होगी; काव्य के लिए भावपक्ष एवं कलापक्ष दोनों की ... नितान्त अपरिहार्य है। वेदों के काव्य-सौन्दर्य के ऊपर जब हम विचार करते हैं तो पता चलता है कि वैदिक ऋषियों की भावोन्मेषिनी प्रतिभा ने जिस ज्ञानकाण्ड एवं कर्मकाण्ड की भावना की है, वह अपने भावपक्ष की दृष्टि से अनुपम है, विश्व के काव्य-साहित्य में उसकी तुलना करने वाले काव्य अल्प ही होंगे। मानवता के शाश्वत सिद्धान्त, नैतिकता के उपदेश, दर्शन, आख्यान आदि न जाने कितने तत्त्व हैं जो भावपक्ष के शृङ्गार कहे जा सकते हैं। यदि एक ओर वेद मन्त्रों में नैतिक उपदेश है तो हम यह भी नहीं भूल जाना चाहिए कि उन नैतिक उपदेशों की अभिव्यक्ति मार्मिक है। यम-यमी, सोम-सूर्या, पुरुरवा-उर्वशी आदि आख्यानों में कितनी मौलिकता के साथ नैतिक उपदेश एवं काव्य-सौंदर्य की झलक मिलती है। कलापक्षीय तत्त्वों की ओर जब हम ध्यान देते हैं तो हमें पता चलता है, वैदिक ऋषि अपनी अनुभूतियों में तीव्रता लाने के लिए तथा पाठक के हृदय में सहज अपने भावों की अवतारणा के लिए अलंकारों का भी उपयोग करता है। रस-विधान की योजना में भी अलंकारों को अपनाता है। कोमल कल्पना की उन्मुक्त उड़ान भरता है। कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि वेदों में काव्य का सौन्दर्य पूर्ण रूप से विद्यमान है। श्री बलदेव उपाध्याय "वैदिक साहित्य एवं संस्कृति" नामक ग्रन्थ में लिखते हैं कि—

'उनके रूपों का भव्य वर्णन कवि की कला का विलास है तो उनके भीतर सुकुमार प्रार्थना के अवसर पर कोमल भावों, हार्दिक भावनाओं की रुचिर अभिव्यंजना है। उषा विषयक मन्त्रों में सौन्दर्य भावना का आधिक्य है तो इन्द्र विषयक मन्त्रों में तेजस्विता का प्राचुर्य है। अग्नि के रूप वर्णन में स्वभावोक्ति का आश्रय है तो वरुण की स्तुति के अवसर पर हृदयगत कोमल भावों की मधुर अभिव्यक्ति है। इस प्रकार वेद के मन्त्रों में काव्यगत गुणों का पर्याप्त दर्शन होना काव्य-जगत् की कोई आकस्मिक घटना नहीं है। तन्मयता तथा अनन्यता का यह विशद परिचायक चिह्न है, भावों की सरल-सुन्दर अभिव्यक्ति। निःसन्देह वेदों में इसका विशाल साम्राज्य है।"[1]

---

1. वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ० ३३४

## रसविधान

ऋग्वेद के मन्त्रों में यत्र-तत्र वीर एवं शृङ्गार इन दो रसों का प्राधान्येन परिपाक हुआ है और यदा-कदा हास्य एवं करुण की अस्फुट झलक भी मिल जाती है, जिन्हें पढ़कर पाठक का मनमयूर आह्लादित हो यह कह उठता है कि सृष्टि के आदिकाल का कवि साहित्यिक रसो से अपरिचित न था। इन्द्र की स्तुतिपरक अनेक मन्त्रो मे वीररस को पूर्ण परिणति मिलती है। दाशराज्ञ सूक्त में भी वशिष्ठ ने दिवोदास तथा उनके शत्रुओ का सहज भाव से वर्णन किया है। गृत्समद ऋषि ने इन्द्र की अनेक स्तुतियों मे इन्द्र की वीरता का विशद् संकेत किया—

> यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो यं युध्यमाना अवसे हवन्ते।
> यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव यो अच्युत् च्युत् स जनास इन्द्रः॥
>
> —ऋ० २।१२।६

मनुष्य जिस इन्द्रदेव की कृपा के बिना विजय प्राप्त नही कर सकता। योद्धा लोग अपनी रक्षा के लिए युद्ध के देवता इन्द्र का आह्वान करते हैं। वह विश्व मे सर्वश्रेष्ठ है। उसका कोई प्रतिमान नहीं है। वह अच्युतो को भी च्युत कर देता है, वह ऐसा इन्द्र है। वैदिक कवि इन्द्र की जहाँ-जहाँ भी स्तुति करता है वहाँ-वहाँ वह इन्द्र के शारीरिक बल, आकार एवं कार्यों की प्रशसा करता है, उसके पौरुष की भी स्तुति की जाती है, यहाँ भी हम वीर रस का अनुभव करते हैं? नि.सन्देह वैदिक साहित्य मे वीर रस का होना नितान्त आवश्यक था, क्योकि आर्य एक योद्धा जाति के रूप मे हमारे सामने आते हैं। आर्यों का यह काल उनके युद्ध की कहानी है।

ऋग्वैदिक सूक्तों के शृंगार रस की भी अनुपम झाँकी मिलती है। सोम-सूर्या, यम-यमी, पुरुरवा-उर्वशी आदि सूक्त इसी प्रकार के हैं, जहाँ शृङ्गार की भावना का पूर्ण रूप में परिपाक हुआ है। पुरुरवा-उर्वशी प्रणय-प्रसग मे विरहाकुल पुरुरवा की उक्तियों मे विप्रलम्भ शृङ्गार देखा जा सकता है जहाँ वह उर्वशी को सम्बोधन कर कहता है—मेरा बाण तरकश से फेंके जाने मे असमर्थ होकर लक्ष्मी की प्राप्ति मे समर्थ नहीं होता। मैं शक्ति-युक्त होकर शत्रु की गायों का उपभोक्ता नहीं हो पाता; यज्ञ-कर्म या शक्तिमय कार्यों के सम्पादन में असमर्थ रहता हूँ। मेरे योद्धा संग्राम मे मेरा सिंहनाद नहीं सुन पाते—

अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं
त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष।
वाश्रा इव धेनवः स्यन्दमाना
अञ्जः समुद्रमव जग्मुरापः॥ —ऋ० १।३२।२

इन्द्र ने पर्वत पर आश्रित अहि का वध किया था। विश्वकर्मा या त्वष्टा ने इन्द्र के लिए तेजस्वी वज्र का निर्माण किया था। जिस तरह गाय रंभाती हुई अपने बछड़े की ओर जाती है, उसी तरह धारावाही जल सवेग समुद्र की ओर गया था—

"यहाँ वाश्रा धेनवः की उपमा से सायंकाल चरागाहों से लौटने वाली अपने बछड़ों के लिये उत्कण्ठा से ओतों से रंभाती हुई और दौड़ती हुई गायों का मनोरम दृश्य नेत्रों के सामने घूमने लगता है। स्रोतों से बहने वाले निर्बाधित [illegible] वाले जल के लिये इससे अधिक सुन्दर उपमा का विधान नहीं हो सकता।"[१]

रूपकों की दृष्टि से भी ऋग्वेद के मन्त्र पर्याप्त सम्पन्न हैं। सूर्य आकाश का स्वर्णिम मणि है—(दिवोरुक्म उरुचक्षा उदेति —ऋ० ७।६३।४) सूर्य वह रंगीन प्रस्तर है जो आकाश में प्रतिष्ठित है (मध्येदिवोनिहितः पृश्निरश्मा ऋ० ७।६३।४)। अतिशयोक्ति अलङ्कार की दृष्टि से ऋग्वेद का वह मन्त्र सर्वाधिक प्रसिद्ध है, जिसमें यज्ञ-शब्द-शास्त्रपरक अर्थ का सायण, पतंजलि एवं राजशेखर निर्देश करते हैं—

चत्वारि शृङ्गा त्रयोऽस्य पादा
द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति
महोदेवो मर्त्या आविवेश॥ —ऋ० ४।५८।३

इस यज्ञात्मक अग्नि के चार शृंग हैं अर्थात् शृंग स्थानीय चार वेद हैं। इसके सवनरूप प्रातः, मध्याह्न और सायं तीन पाद हैं। ब्रह्मौदन एवं प्रवर्ग्य स्वरूप दो मस्तक हैं। छन्द स्वरूप सात हाथ हैं। ये अभीष्ट वर्षी हैं। यह मन्त्र, कल्प एवं ब्राह्मण द्वारा तीन प्रकार से बद्ध हैं। ये अत्यन्त शब्द करते

---

१. वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ० १३८

अन्ये जायां परि मृशन्त्यस्य
यस्यागृधद्वेदने वाज्यक्षः
पिता माता भ्रातर एनमाहुर
न जानीमो नयता बद्धमेतम् ॥ —१०।३

## अलंकार

ऋग्वेद के उच्च-स्थान में मनन योग्य इस कविता में अलंकारों की स्वा
छटा विद्यमान है। कहीं भी कवि ने बलात् अलंकारों को लादने की चे
नहीं की है अपितु सहज स्वाभाविक रूप में ही अलंकार आविर्भूत हुए
जिससे अनुभूति एवं अभिव्यक्ति दोनों में प्रभावोत्पादकता का आविर्भाव हो
है। ऋग्वेद में रूपक, उपमा, अतिशयोक्ति, व्यतिरेक एवं समासोक्ति अ
अर्थालंकारों का ही अधिक प्रयोग हुआ है। श्री बलदेव उपाध्याय ने ऋग्वेदी
उपमा के सम्बन्ध में लिखा है—"अलंकारों की रानी उपमादेवी का नितान
भव्य मनोरम तथा हृदयावर्जक रूप हमें इन मन्त्रों में देखने को मिलता है।
तथ्य तो यह है कि उपमा का काव्य संसार में प्रथम अवतार उतना ही प्राचीन
है जितना स्वयं कविता का आविर्भाव है। आनन्द से सिक्त हृदय कवि की वाणी
उपमा के द्वारा अपने को विभूषित करने में कोमल उल्लास तथा मधुमय
आनन्द का बोध करती है।"[1]

ऋग्वेदीय उपमा का एक मनोहारी निदर्शन प्रस्तुत है—

अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम् ।
जायेव पत्य उशती सुवासा उषाहस्रेव निरिणीते अप्सः ॥
—ऋ० १।१२४।७

भ्रातृहीना स्त्री जैसे पिता आदि के अभिमुख गमन करती है, गतभर्तृका जैसे धन प्राप्ति के लिए घर आती है, उषा भी वैसा ही करती है। जैसे पत्नी पति की अभिलाषिनी होकर सुन्दर वस्त्र पहनती हुई हास्य द्वारा अपनी दन्तराजि प्रकाशित करती है उसी प्रकार उषा भी करती है।

इन्द्र की स्तुति में कितनी सामान्य उपमा का सुन्दर उल्लेख किया है, सायंकाल गोचर भूमि से लौटने पर गाय की बछड़े के प्रति ममता की छवि अंकित करते हुए लिखता है—

---

1. वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ० ३३४

अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं
त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष ।
वाश्रा इव धेनवः स्यन्दमाना
अञ्जः समुद्रमव जग्मुरापः ॥ —ऋ० १।३२।२

इन्द्र ने पर्वत पर आश्रित मेघ का वध किया था, विश्वकर्मा या त्वष्टा ने इन्द्र के लिए दूरवेधी वज्र का निर्माण किया था। जिस तरह गाय वेगवती होकर अपने बछड़े की ओर जाती है, उसी तरह धारावाही जल सवेग समुद्र की ओर गया था—

"'यहाँ वाश्रा धेनवः' की उपमा से सायंकाल चरागाहों से लौटने वाली अपने बछड़ों के लिये उतावली से जोरों से रँभाती हुई और दौडती हुई गायों का मनोरम दृश्य नेत्रों के सामने झूलने लगता है। जोरों से बहने वाले प्रवाहित होने वाले जल के लिये इससे अधिक सुन्दर उपमा का विधान नहीं हो सकता।"[1]

रूपकों की दृष्टि से भी ऋग्वेद के मन्त्र पर्याप्त सम्पन्न हैं। सूर्य आकाश का स्वर्णिम मणि है—(दिवोरुक्म उरुचक्षा उदेति—ऋ० ७।६३।४) सूर्य वह रंगीन प्रस्तर है जो आकाश में प्रतिष्ठित है (मध्येदिवोनिहितः पृश्निरश्मा ऋ० ७।६३।४)। अतिशयोक्ति अलङ्कार की दृष्टि से ऋग्वेद का वह मन्त्र सर्वाधिक प्रसिद्ध है, जिसमें यज्ञ-शब्द-काव्यपरक अर्थ का सायण, पतञ्जलि एवं राजशेखर निर्देश करते हैं—

चत्वारि शृङ्गा त्रयोऽस्य पादा
द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति
महोदेवो मर्त्यां आविवेश ॥ —ऋ० ४।५८।३

इस यज्ञात्मक अग्नि के चार शृंग हैं अर्थात् शृंग स्थानीय चार वेद हैं। इसके सवनरूप प्रातः, मध्याह्न और सायं तीन पाद हैं। ब्रह्मौदन एवं प्रवर्ग्य स्वरूप दो मस्तक हैं। छन्द स्वरूप सात हाथ हैं। ये अभीष्ट वर्षी हैं। यह मन्त्र, कल्प एवं ब्राह्मण द्वारा तीन प्रकार से बद्ध हैं। ये अत्यन्त शब्द करने

---

1. वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ० २२८

हैं। वे महान् देव मर्त्यों के मध्य में प्रवेश करते हैं। दूसरे पतंजलि के अर्थ के अनुसार यह महादेव शब्द है क्योंकि उसकी चार सींगें चार प्रकार के शब्द (नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात) भूत, वर्तमान, भविष्य ये तीनों काल तीन पैर हैं, दो सिर दो प्रकार की भाषाएँ नित्य तथा कार्य हैं। प्रथमादि सात विभक्तियाँ सातों हाथ हैं। शब्द तीन प्रकार हृदय गला और मुख से बद्ध हैं। अर्थ की वृष्टि करने वाला होने के कारण शब्द वृषभ है। एक दूसरे अर्थ में यह महादेव सूर्य है, जिसकी चारों दिशायें चार सींगें हैं, तीनों पैर तीन वेद हैं, दो सिर हैं रात और दिन, सप्त किरणें ही उसके सात हाथ हैं। यह सूर्य, पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा आकाश से सम्बद्ध है अथवा ग्रीष्म, वर्षा, शीत ऋतुओं का उत्पादक है। इसलिए वह त्रिधाबद्ध है। व्यतिरेक अलङ्कार का भी एक सुन्दर उदाहरण अत्यधिक प्रसिद्ध है जिसके पूर्वार्द्ध में अतिशयोक्ति अलङ्कार भी निहित है—

> द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
> तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥
>
> —ऋ० १।१६४।२

सुन्दर पंख वाले, मित्रभाव से सर्वदा साथ रहने वाले दो भिन्न पक्षी एक ही वृक्ष पर आश्रय लेते हैं, जिनमें से एक तो स्वादपूर्ण फलों को खाता है और दूसरा बिना खाये ही विराजमान रहता है। पक्षिद्वय उपमान में जीवात्मा तथा परमात्मा उपमेय का निगरण होने से अतिशयोक्ति है। उत्तरार्द्ध में पक्षियों के भिन्न स्वभाव होने के कारण व्यतिरेक अलकार है। अतिशयोक्ति अलकार परक एक चरण हम और भी यहाँ दे सकते हैं—अग्नि अपनी प्रभा से आकाश को छू रहा है—"मध्ये दिवो निहितः प्रश्निरश्मा।" (ऋ० ५।४७।३) वेद में अक्षर एवं शब्दों की पुनरावृत्ति भी हुई है, जो अनुप्रास अलकार का मूलाधार है; जैसे—रक्षाणो अग्नेतवरक्षणेभीराक्षाणे (४।३।१४), प्रतार्यग्ने प्रतरं न आयुः (४।१२।६), अब्जा गोजा ऋतजा आद्रंजा ऋतम् (४।४०।५), इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि ऋग्वेद के ऋषि अनुप्रास अलकार से मूलतत्व-भाषा सौंदर्य एवं ध्वन्यात्मकता को भी पसन्द करते थे। इसी प्रकार कहीं-कहीं पदों के आरम्भ में शब्द की पुनरावृत्ति भी हुई है; जैसे—हंसः शुचिषद् वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषद-तिथिर्दुरोणसत् (४।४०।५) तथा ददृक्षया सन्नियतेददन्मेषा मृतायते (५।२७।४) और "दिवाभिपित्वेऽवसागमिष्ठा प्रत्यवर्तिदाशुषेशं"

पिछले दो मन्त्रों में यमक की प्रतीति होती है। कहने का आशय यही है कि समग्र वैदिक साहित्य में अलंकार सौन्दर्य प्रतिष्ठित है भले ही अलङ्कारों की संख्या सीमित ही क्यों न हो।

वैदिक साहित्य ऋषियों की कमनीय कल्पना अपने मे अद्वितीय है। कभी कोमल कल्पना है तो कभी कठोर कल्पना। कल्पना के जितने भी रूप—दृश्य कल्पना, ध्वनि कल्पना, स्पर्श कल्पना, क्रिया कल्पना, घ्राण कल्पना, रस कल्पना आदि हैं, वे सभी वैदिक साहित्य मे विद्यमान हैं। इस दृष्टि से वैदिक उषा सूक्त अद्वितीय सूक्त है। जहाँ कवि की कल्पना ने उन्मुक्त उड़ान भरकर अपनी कला का प्रदर्शन किया है। उषा का मानवी रूप अपने मे अनुपम है जिस रूप को देखकर कवि भाव-विभोर हो, कह उठता है—

हे प्रकाशवती उषा! तुम कमनीय कन्या की तरह आकर्षणमयी बनकर अभीष्ट फलदाता सूर्य के निकट जाती हो तथा उनके सम्मुख स्मितवदना युवती के समान अपने वक्ष को निरावरण करती हो—

कन्येव तन्वा शाशदाना एषि देवि देवमियक्षमाणम् ॥
संस्मयमाना युवतिः पुरस्तादाविर्वक्षांसि कृणुषे विभाति ॥

—ऋ० १।१२३।१०

उषा सूक्त के सम्बन्ध मे विचार करते हुए श्री बलदेव उपाध्याय ने अपने भाव निम्न प्रकार व्यक्त किए हैं—

"वे भाव की दृष्टि से नितान्त सरस, सहज तथा भव्य-भावना मण्डित हैं। प्रातःकाल अरुणिमा से मण्डित, सुवर्णच्छटा से विच्छुरित प्राचीनभोमण्डल पर दृष्टिपात करते समय किस भावुक के हृदय मे सौन्दर्य की भावना का उदय नहीं होता? वैदिक ऋषि उसे अपनी प्रेम भरी दृष्टि से देखता है और उसकी दिव्यच्छटा पर रीझ उठता है। उषा मानवी के रूप में कवि हृदय के नितान्त पास आती है। यदि उषा केवल महान् तथा स्वर्ग की अधिकारिणी मात्र होती, इस विश्व से परे ऊर्ध्वलोक से अपनी दिव्य छवि छहराती रहती, मानव जगत् के ऊपर उठकर अपनी भव्य सुन्दरता से मण्डित होकर अपने मे ही पुञ्जीभूत बनी रहती, तो हमारे हृदय में केवल कौतुक या विस्मय जाग्रत होता, घनिष्ठता नहीं। अब हमारी भावना का प्रसार इतना विस्तृत तथा व्यापक हो जाता है कि पृथक् सत्ता को सर्वथा निर्मूल न कर प्रकृति की सत्ता के भीतर

नरसत्ता का सद्यः अनुभव करने लगते हैं तब अनन्यता की भावना जन्म लेती है। इसका फल यह होता है कि कवि उषा को कभी कुमारी के रूप में, कभी गृहिणी के रूप में और कभी माता के रूप में देखता है; बाह्य सौन्दर्य के भीतर कवि आन्तर सौन्दर्य का अनुभव करता है। उषा केवल बाह्य सौन्दर्य की प्रतिमा न होकर कवि के लिए आन्तरिक सुषमा का भी प्रतीक बन जाती है।'[1] प्रस्तुत उद्धरण से ऋग्वैदिक कवियों की कल्पना अलकार, भाव-भाषा सभी का सक्षिप्त परिचय मिल जाता है। ऋग्वैदिक मन्त्रों में प्रकृति का आलम्बन एवं अलङ्कृत दोनों ही रूपों में आकलन हुआ है।

वैदिक साहित्य ही समग्र परवर्ती साहित्यिक विधाओं का स्रोत है। क्या गीतिकाव्य, क्या खण्डकाव्य, क्या गद्यकाव्य कथा, आख्यायिका, नाटक आदि सभी के मूल ऋग्वेद में ढूंढे जा सकते हैं। विन्टरनित्ज ने भी लिखा है कि गीति-काव्य के उत्कृष्ट उदाहरण जिनमें कि प्राकृतिक सौन्दर्य वर्णित है तथा Flowery Language जिनकी विशेषता है, ऐसे सूक्तों में सूर्य, पर्जन्य मरुत्, उषा सम्बन्धी सूक्त हैं। सर्वाधिक सुन्दर सूक्त उषा सूक्त हैं। जहाँ वह नर्तकी के समान सुन्दर वस्त्र धारण करती है। गर्व से अपने वक्ष का प्रदर्शन करती हुई वह अवतरित होती है। वह स्वर्ग के द्वार खोलती है Again and again her charms are compared with those of a woman inviting love. नाटक एवं एकाकी नाटकों के मूलतत्व आख्यान साहित्य में देखे जा सकते हैं, अधिकांश पाश्चात्य विद्वानों ने नाटकों का उद्गम इन्हीं आख्यानों से माना है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से ऋग्वेद विश्व-साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान का अधिकारी है।

**प्रश्न**—ऋग्वेदीय दार्शनिक भावना का निरूपण करते हुए अन्य वेदों में प्राप्त दार्शनिक तत्वों का सकेत कीजिए। —आ० वि० वि० १९६८

**उत्तर**—ऋग्वेद में हमें आत्मा-परमात्मा, सुख-दुःख, सृष्टि की उत्पत्ति तथा यज्ञ आदि के सम्बन्ध वैदिक ऋषियों की मान्यताओं से परिचय मिलता है। वैदिक ऋषि सासारिक कष्टों से परिचित था; इसलिए कष्टों के निवारण के लिए, दीर्घ-जीवन के लिए वह उपासना करते हुए देखा जाता है। वैदिक ऋषि ज्ञान और सुख की प्राप्ति के कारण से भी परिचित थे, इसलिए आत्मा-परमात्मा के ऐक्य की कामना यत्र-तत्र दृष्टिगत हो जाती है।

१. वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ० ३४२

ऋग्वेद में 'ऋत' (सत्य और अविनाशी सत्ता) की भी सुन्दर कल्पना है। ऋत के कारण ही जगत् की उत्पत्ति हुई है, ऋत ही सृष्टि में सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ था—

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत। ऋ०—१०।१९०।१

संसार के शाश्वत नियमों की प्रतिष्ठा करने वाला भी 'ऋत' ही है। अनेक प्राकृतिक तत्त्व सूर्य, चन्द्र और विभिन्न देव 'ऋत' से ही प्रेरित हैं, 'ऋत ही संसार का नियामक है। इस प्रकार 'ऋत' के रूप में एक तत्त्व की कल्पना ऋग्वैदिक ऋषियों की अपनी विशेषता है।

ऋग्वेद में अनेक देव अन्ततः एक देव के ही विभिन्न रूप हैं। ऋग्वेद विश्व के एक नियन्ता से परिचित है, अनेकता में एकता, भिन्नता में अभिन्नता की कल्पना दार्शनिक जगत् में एक मौलिक तत्त्व है। इसी देव को वैदिक ऋषियों ने प्रजापति, हिरण्यगर्भ और पुरुष आदि के नामों से पुकारा है। ऋग्वेद दशम मण्डल का एक सूक्त ही हिरण्यगर्भ की स्तुति का प्रतिपादन करता है। यह सूक्त गम्भीर आध्यात्मिक भावनाओं से भरपूर है। "यह हिरण्यगर्भ सबसे पहले उत्पन्न हुआ और उत्पन्न होने पर समस्त प्राणियों का एकमात्र अधिपति हुआ। यह इस पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा आकाश को धारण करने वाला है। यज्ञादिकों में उन्हीं के प्रसादन के लिए हम हवि का होम करते हैं—

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥
— ऋ० १०।१२१।१

यह हिरण्यगर्भ समस्त प्राणियों का प्राणदाता है। अमरत्व तथा मृत्यु छाया के समान उसके आधीन रहती है—

य आत्मदा बलदा यस्य विश्वमुपासते प्रशिषं यस्य देवा यस्य छायामृत यस्य मृत्युः। कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ —ऋ० १०।१२१।२

इसी हिरण्यगर्भ से सभी देव आशीष की कामना करते हैं। वह अन्तरिक्ष का स्वामी है। हिमालय, समुद्र और भूमि उसकी महिमा के द्योतक हैं। दिशाएँ उसकी भुजाएँ हैं। "उसके माध्यम से आकाश प्रकाशमान है, पृथ्वी और स्वर्ग-लोक प्रतिष्ठित हैं। उसी से अन्तरिक्ष के लोक-लोक की सूर्य उदित होकर उसी के ऊपर प्रकाश करता है। वह देवताओं

का प्राण है और पृथ्वी का जनयिता है। वह हमारा नाश न करे। वह सत्यधर्मा है। उसने दिवलोक को उत्पन्न किया। उसी से सुप्रकाश-जल की उत्पत्ति हुई।" —ऋग्वेद १०।१२१।४—६

ऋग्वेद में ब्रह्म के सर्वव्यापी होने की भी कल्पना मिलती है। इसकी सबसे सुन्दर कल्पना पुरुष सूक्त (१०।६०) तथा अदिति सूक्त (१।८६) में मिलती है। वह सहस्र शीर्ष पुरुष है, वह हजार नेत्रों वाला, हजार पैरों वाला है, वह चारों ओर से इस पृथ्वी को घेर कर परिमाण में दश अंगुल से अधिक है। जो कुछ वर्तमान है, जो उत्पन्न हो चुका है और भविष्य में होगा, वह सब पुरुष ही है—

पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम्। (१०।६।२)

इस सम्पूर्ण सूक्त में सर्वेश्वरवाद की प्रतिष्ठा हुई है। अदिति सूक्ति ऋषि कहता है कि अदिति ही आकाश है, अदिति अन्तरिक्ष है, अदिति मा है और अदिति पिता तथा पुत्र है; अदिति समस्त देवता है, अदिति पचजन है जो कुछ उत्पन्न है और होने वाला है वह सब अदिति है—

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्ष
मदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वे देवा अदितिः पञ्चजना
अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्॥ —ऋ० १।८६।१०

"पुरुष, सत्, हिरण्यगर्भ, एक देव आदि सभी परवर्ती युग के ब्रह्म की ओर संकेत करते हैं। जब तक वैदिक ऋषियों की दृष्टि ससीम थी, उन्हें ऐसी सत्ताओं और विभूतियों का आभास हुआ, जो ससीम रहीं। इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि देवों की विभूतियाँ ससीम थीं। शीघ्र ही उन ऋषियों को असीमता का ज्ञान होकर रहा। अनेक ससीम होते हैं, एक असीम होता है। वरुण, इन्द्र, अग्नि आदि में व्यक्तिशः शक्ति, क्षमता और कर्मण्यता थी। उसी शक्ति, क्षमता और कर्मण्यता का वृहत्तम संयोजन जिस सत्ता में हुआ; वही 'एकदेव' ब्रह्म हुआ। ब्रह्म की एक शक्ति सभी शक्तियों का उद्गम बनी। ब्रह्म के जिन गुणों का आकलन किया गया, उनसे उसकी असीमता का आभास मिला। जो कुछ ससीम है, उसका समन्वय उसी ब्रह्म में है। केवल ब्रह्म असीम है।" इस प्रकार हम कह सकते हैं कि ब्रह्म की कल्पना ऋग्वेद में ही पूर्ण परिष्कृत हो चुकी थी।

ऋग्वेद में विश्व की उत्पत्ति रूपी पहेली का समाधान भी किया गया है।

ऋग्वेद का नासदीय सूक्त (१०।१२९) इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। यह सूक्त अद्वैत तथा आध्यात्मिक भावना की अनुपम अभिव्यंजना करता है। इस विश्व की उत्पत्ति कैसे हुई है? इसके मूल में कौन-सा तत्त्व है? सर्वप्रथम किस तत्त्व की उत्पत्ति हुई? इसका उत्तर देते हुए ऋषि कहता है कि—"उस समय न तो सत् था और न असत् ही। आकाश भी विद्यमान नहीं था और न ही उससे ऊपर का अन्तरिक्ष था। किसने उसे आवृत कर रखा था? वह कहाँ था और किसके आश्रय में रहता था? क्या वह आदिम काल का गहन और गम्भीर जल था—

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं
नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्न
अम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ॥१॥

मृत्यु भी नहीं थी, अतः अमरता की भावना भी नहीं थी। रात्रि और दिन भेदक प्रकाश भी नहीं था। वह एक ही उस समय बिना श्वास-प्रश्वास की क्रिया के जीवित रहने वाला ब्रह्म विद्यमान था। उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं था—

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि
न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं
तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास ॥२॥

उस समय अन्धकार था, प्रारम्भ में यह सब एक अर्णव समुद्र के रूप में था, प्रकाशरहित, एक ऐसा अंकुर जो भूसी से आच्छन्न था, उस एक की उत्पत्ति तप से हुई थी।

तम आसीत्तमसा गूढमग्रे
ऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्
तपसस्तन्महिनाजायतैकम् ॥३॥

प्रारम्भ में प्रेम ने उसे आविर्भूत किया जो मानस से उत्पन्न हुआ बीज था, कवियों ने अपने हृदय में अनुसन्धान के पश्चात् बुद्धि द्वारा असत् के अन्दर सत् के बन्धन का पता लगाया—

है। इस सूक्ति में हमारे सिद्धान्तों की अनुशंसा प्रदर्शित की गई है। परम सत्ता को, जो समस्त विश्व की पृष्ठभूमि में है, हम सत् अथवा असत् किसी भी रूप में ठीक-ठीक नहीं जान सकते। वह ऐसी सत्ता है जो अपने ही सामर्थ्य से बिना श्वास-प्रश्वास की क्रिया के जीवित है। उसके अतिरिक्त और कोई वस्तु उससे परे नहीं थी। इन सबका आदिकारण समस्त विश्व में प्राचीन है जो सूर्य, चन्द्रमा, आकाश और नक्षत्रों से युक्त है। वह काल की, देश की, आयु, मृत्यु और अमरता आदि सबकी पहुँच के बाहर और उससे परे है।[1] वह एक है, अद्वितीय है, वही अग्नि, मातरिश्वा, यम आदि देवता के रूप में विभिन्न रूप धारण करता है। वह एक है किन्तु कवि उसे अनेक नामों से पुकारते हैं—

> इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
> एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥
>
> —ऋ० १।१६४।४६

यास्क ने भी जगत् के मूल में एक शक्ति की सत्ता को स्वीकार किया है, जो ईश्वर है, अद्वितीय है और उसी की अनेक रूप में स्तुति की जाती है— महाभाग्यात् देवताया एक-एक आत्मा बहुधा स्तूयते एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवति। —निरुक्त —७।४।८, ९

बृहद्देवता भी निरुक्त के इसी कथन का समर्थन करता है (१।६१–६५)। ऋग्वेद में सर्वव्यापी ब्रह्म सत्ता का यत्र-तत्र निरूपण है। ऋग्वेद में आत्मा के सम्बन्ध में प्राचीनतम मान्यता इस रूप में मिलती है—

> द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
> तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥
>
> —ऋ० १।१६४।२०

अर्थात् दो पक्षी संयुक्त रूप में मित्रवत् एक वृक्ष की शाखा पर बैठे हैं। उनमें से एक मधुर फल खाता है और दूसरा न खाते हुए केवल देखता रहता है। अथर्ववेद १०।७।३१ मन्त्र में यही धारणा व्यक्त की गई है। इसमें खाने

---

1. राधाकृष्णन् : भारतीय दर्शन, पृ० ९२।

*वाली पक्षी आत्मा और द्रष्टा पक्षी परमात्मा है।* इस ब्रह्म को वैदिक ऋषियों ने अपने हृदय में ढूंढ़ निकाला है—

सतः बन्धुमसति निरविन्दन् ।
हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥ —ऋ० १०।१२९।४

ऋग्वेदीय दार्शनिक मान्यताएँ ही परवर्ती काल में विकसित होती हैं। अथर्ववेद के काल में वैदिक मनीषी पुरुष और ब्रह्म की एकता से परिचित हो चुके थे—

ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम् ।
ये वेद परमेष्ठिनं यश्च वेद प्रजापतिम् ।
*ज्येष्ठ ये ब्राह्मणं विदुस्ते स्कम्भमनु संविदुः ।*—अ० १०।७।१७

"जो पुरुष में ब्रह्म को जानते हैं, वे परमेष्ठी को जानते हैं। जो परमेष्ठी प्रजापति और ज्येष्ठ ब्रह्म को जानते हैं, वे स्कम्भ को पूर्णतः जानते हैं।" *अथर्ववेद तथा ब्राह्मण युगीन दार्शनिक मान्यताओं का मूल्यांकन करते हुए* डा० रामजी उपाध्याय[१] ने लिखा है कि—"उस युग में आत्मा की अमरता की प्रतिष्ठा हो चुकी थी।"[२] ब्राह्मण-साहित्य में स्वर्ग-नरक के अतिरिक्त मुक्ति की कल्पना मिलती है। इसके अनुसार जो पुरुष देवताओं के लिए यज्ञ करता है, वह उतना उच्च लोक नहीं पाता, जितना आत्मा के लिए यज्ञ करने वाला।[३] जो पुरुष वेद पढ़ता है, वह बार-बार मरने से छुटकारा पा जाता है और उसे ब्रह्म के साथ एकत्व की प्राप्ति होती है।[४] ज्ञान से मनुष्य उस स्थान पर पहुंचता है, जहाँ पूर्ण रूप से निष्कामता होती है।[५] *शतपथ ब्राह्मण में सम्भवतः* मुक्ति व्यक्ति के लिए अमरत्व की कल्पना मिलती है। मरने के पश्चात् मुक्ति पा लेने पर सम्यक् जीवन की सिद्धि होती है।[६]

---

१. भारत की संस्कृति साधना, पृ० २५९-२६०
२. ऋग्वेद ५।२५।२, १०।१६।१-६, १०।१८।१-२, अथर्ववेद १२।३।१७
३. ऐतरेय ब्राह्मण ११।२।६
४. वही १०।५।६
५. शतपथ ब्राह्मण १०।५।४, १६
६. वही १०।४।३।१०

उपनिषद् काल मे वैदिक दार्शनिक विचारो की परिपक्वता मिलती है। परमसत्ता, जगत् का स्वरूप, सृष्टि की समस्या, व्यक्ति का विश्लेषण, व्यक्ति का अन्तिम लक्ष्य, उसका आदर्श, कर्म, मोक्ष-बन्ध तथा पुनर्जन्म विषय विचार उपनिषदो मे मिलते हैं। इन्ही औपनिषदिक मान्यताओ को परवर्ती षड्-दर्शनों मे अङ्गीकार किया गया है। उपनिषद् साहित्य के दार्शनिक विचारो का हम अन्यत्र विश्लेषण करेंगे, वही देखें।

वाली पक्षी आत्मा और द्रष्टा पक्षी परमात्मा है।
ऋषियों ने अपने हृदय में ढूँढ़ निकाला है—

सतः बन्धुमसति निरविन्दन् ।
हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥

ऋग्वेदीय दार्शनिक मान्यताएँ ही परवर्ती काल मे
अथर्ववेद के काल में वैदिक मनीषी पुरुष और ब्रह्म की
चुके थे—

ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम्
ये वेद परमेष्ठिनं यश्च वेद प्रजापतिम्
ज्येष्ठ ये ब्राह्मणं विदुस्ते स्कम्भमनु संविदुः

"जो पुरुष मे ब्रह्म को जानते हैं, वे परमेष्ठी को जानत
प्रजापति और ज्येष्ठ ब्रह्म को जानते हैं, वे स्कम्भ को
अथर्ववेद तथा ब्राह्मण युगीन दार्शनिक मान्यताओ का मूल्या
रामजी उपाध्याय[1] ने लिखा है कि—"उस युग मे आत
प्रतिष्ठा हो चुकी थी।"[2] ब्राह्मण-साहित्य मे स्वर्ग-नरक के
कल्पना मिलती है। इसके अनुसार जो पुरुष देवताओं के लि
वह उतना उच्च लोक नहीं पाता, जितना आत्मा के लिए य
जो पुरुष वेद पढता है, वह बार-बार मरने से छुटकारा पा
ब्रह्म के साथ एकत्व की प्राप्ति होती है।[4] ज्ञान से मनुष्य
पहुँचता है, जहाँ पूर्ण रूप से निष्कामता होती है।[5] शतपथ ब्र
मुक्ति व्यक्ति के लिए अमरत्व की कल्पना मिलती है। मरने
पा लेने पर सम्यक् जीवन की सिद्धि होती है।[6]

---

१. भारत की संस्कृति साधना, पृ० २५६-२६०
२. ऋग्वेद ५।३५।३, १०।१६।१-६, १०।५८।१-२, अथर्व
३. ऐतरेय ब्राह्मण ११।२।६
४. वही १०।५।६
५. शतपथ ब्राह्मण १०.
६. वही १०।४।३१

मैत्रायणीय परम्परा की संहिता है; इसका दूसरा नाम कालाप भी है। इस शाखा के अनुयायी उस काल में नर्मदा से दक्षिण की ओर प्राय सौ मील तक एवं नासिक से बडौदा तक बसे हुए थे। आज भी गुजरात एवं अहमदाबाद में इनका अस्तित्व प्राप्त होता है। (४) तैत्तिरीय शाखा अथवा आपस्तम्ब संहिता—पहले इस शाखा के अनुयायी नर्मदा के दक्षिण में रहते थे। इसकी एक उपशाखा का नाम हिरण्यकेशिन् भी है। उपर्युक्त चारो संहिताओं में परस्पर साम्य है। इन्हें कृष्ण यजुर्वेदीय शाखा कहा जाता है। (५) वाजसनेयी संहिता—यह शाखा यजुर्वेद की पाँचवी शाखा है जो शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध है। इस शाखा का नाम याज्ञवल्क्य वाजसनेयी से नाम पर पडा है जो कि इसके प्रथम आचार्य हैं। इसकी दो शाखाएँ मिलती हैं—एक, कण्व, दूसरी, माध्यन्दिनीय। इस प्रकार विद्वानो ने इस यजुर्वेद के दो भेद माने हैं—एक, कृष्ण यजुर्वेद एव दूसरा, शुक्ल यजुर्वेद।

### वाजसनेयी संहिता

इस संहिता मे चालीस अध्याय हैं। पाश्चात्य विद्वानो की धारणा है कि इसके अन्तिम पन्द्रह अध्याय परवर्ती काल की रचना हैं। दूसरे कुछ विद्वान् २२ अध्यायो को पीछे की रचना मानते हैं। वस्तुस्थिति मे कुछ भी हो, हम तो यही कहेगे कि प्रारम्भिक पच्चीस अध्याय विषयवस्तु की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इन अध्यायो मे अनेक प्रकार के वृहदाकार यज्ञो से सम्बद्ध वैदिक ऋषियो की प्रार्थनाओ का सकलन है। प्रथम एव द्वितीय अध्याय में चन्द्र दर्शन एव पौर्णमासी आदि के लिए मन्त्र सकलित हैं। तृतीय अध्याय मे दैनिक अग्निहोत्र तथा चातुर्मास्य यज्ञ के मन्त्रो का सग्रह है। चतुर्थ से अष्टम अध्याय तक अग्निष्टोमादि सोमयज्ञों एव पशुबलि सम्बन्धी मन्त्र मिलते हैं। इन सोमयज्ञो की परम्परा मे कुछ यज्ञ ऐसे हैं जो कि एक दिन मे समाप्त होते हैं और कुछ अनेक दिनो तक चलते हैं। वाजपेय यज्ञ एक दिन मे समाप्त होने वाले यज्ञो मे प्रधान है। यह यज्ञ मूल रूप मे योद्धाओ एव राजाओ द्वारा सपादित किया जाता था। इस यज्ञ मे सोम के साथ सुरापान भी चलता था परन्तु ब्राह्मण ग्रन्थो के काल मे प्रस्तुत सुरापान का नियमों द्वारा बहिष्कार किया है। इन अध्यायों मे राजाओं से सम्बन्धित एक राजसूय यज्ञ का भी उल्लेख उपलब्ध होता है। प्रस्तुत दो प्रकार के सोमयज्ञों की प्रार्थनाओं का सग्रह नवम एवं दशम अध्याय मे किया गया है। एकादश अध्याय से

## तृतीय अध्याय

# यजुर्वेद

प्रश्न—यजुर्वेद की विभिन्न शाखाओं का निर्देश करते हुए उनके वर्ण्य-विषय की सर्वाङ्गीण समीक्षा कीजिए।

**Give the details of the different recensions of the Yajurveda and the nature of their subject-matter.** —आ० वि० वि० ६१, ६२

**Or**

***How many Samhitas of the Yajurveda are preserved? How are they inter-related?*** —आ० वि० वि० ५८

उत्तर—यजुर्वेद संहिता अध्वर्यु पुरोहितों की प्रार्थना पुस्तक है। ऋक् तथा साम से भिन्न गद्यात्मक मन्त्रों का ही अभिधान यजु है। कहा भी है "अनियताक्षरावसानो यजुः" तथा "गद्यात्मको यजुः।" महाभाष्य की भूमिका में पतञ्जलि ने यजुर्वेद की एक सौ एक शाखाओं का उल्लेख किया है—'एकशतमध्वर्युशाखा'। कहने का आशय यही है कि इस वेद की अनेक शाखाओं का उल्लेख यत्र-तत्र मिलता है। लेकिन आज हमें यजुर्वेद की केवल पाँच शाखाएँ ही उपलब्ध हैं। (१) काठक अथवा कठ लोगों की शाखा, इस शाखा के अनुयायी यूनानी आक्रमण के काल में पंजाब में रहते थे, उसके पश्चात् वे काश्मीर में रहने लगे और उनका वर्तमान निवास काश्मीर है। (२) कपिष्ठल कठ शाखा—यह शाखा आंशिक रूप में जीर्ण-शीर्ण स्थिति में मिली है। (३) मैत्रायणी संहिता

मैत्रायणीय परम्परा की संहिता है, इसका दूसरा नाम कालाप भी है। इस शाखा के अनुयायी उस काल में नर्मदा से दक्षिण की ओर प्रायः सौ मील तक एवं नासिक से बडौदा तक बसे हुए थे। आज भी गुजरात एवं अहमदाबाद में इसका अस्तित्व प्राप्त होता है। (४) तैत्तिरीय शाखा अथवा आपस्तम्ब संहिता—पहले इस शाखा के अनुयायी नर्मदा के दक्षिण में रहते थे। इसकी एक उपशाखा का नाम हिरण्यकेशिन् भी है। उपर्युक्त चारो संहिताओ में परस्पर साम्य है। इन्हे कृष्ण यजुर्वेदीय शाखा कहा जाता है। (५) वाजसनेयी संहिता—यह शाखा यजुर्वेद की पाँचवी शाखा है जो शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध है। इस शाखा का नाम याज्ञवल्क्य वाजसनेयी से नाम पर पडा है जो कि इसके प्रथम आचार्य हैं। इसकी दो शाखाएँ मिलती हैं—एक, कण्व; दूसरी, माध्यन्दिनीय। इस प्रकार विद्वानो ने इस यजुर्वेद के दो भेद माने हैं—एक, कृष्ण यजुर्वेद एव दूसरा, शुक्ल यजुर्वेद।

## वाजसनेयी संहिता

इस संहिता में चालीस अध्याय हैं। पाश्चात्य विद्वानो की धारणा है कि इसके अन्तिम पन्द्रह अध्याय परवर्त्ती काल की रचना हैं। दूसरे कुछ विद्वान् २२ अध्यायो को पीछे की रचना मानते हैं। वस्तुस्थिति मे कुछ भी हो, हम तो यही कहेंगे कि प्रारम्भिक पच्चीस अध्याय विषयवस्तु की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इन अध्यायो मे अनेक प्रकार के वृहदाकार यज्ञो से सम्बद्ध वैदिक ऋषियो की प्रार्थनाओ का सकलन है। प्रथम एव द्वितीय अध्याय मे चन्द्र दर्शन एव पौर्णमासी आदि के लिए मन्त्र सकलित हैं। तृतीय अध्याय मे दैनिक अग्निहोत्र तथा चातुर्मास्य यज्ञ के मन्त्रो का सग्रह है। चतुर्थ से अष्टम अध्याय तक अग्निष्टोमादि सोमयज्ञो एव पशुबलि सम्बन्धी मन्त्र मिलते हैं। इन सोमयज्ञों की परम्परा मे कुछ यज्ञ ऐसे हैं जो कि एक दिन मे समाप्त होते हैं और कुछ अनेक दिनो तक चलते हैं। वाजपेय यज्ञ एक दिन मे समाप्त होने वाले यज्ञो मे प्रधान है। यह यज्ञ मूल रूप मे योद्धाओ एव राजाओं द्वारा सपादित किया जाता था। इस यज्ञ मे सोम के साथ सुरापान भी चलता था परन्तु ब्राह्मण ग्रन्थो के काल मे प्रस्तुत सुरापान का नियमो द्वारा बहिष्कार किया है। इन अध्यायो मे राजाओं से सम्बन्धित एक राजसूय यज्ञ का भी उल्लेख उपलब्ध होता है। प्रस्तुत दो प्रकार के सोमयज्ञों की प्रार्थनाओं का नवम एव दशम अध्याय मे किया गया है। एकादश अध्याय से

अट्ठारहवें अध्याय तक अग्निचयन के हेतु की गई विभिन्न प्रार्थनाओं एवं विविध याज्ञिक नियमों का संग्रह है। अग्नि चयन का क्रम वर्ष भर-तक चलता रहता है। इसके निमित्त निर्मित होने वाली अग्निवेदिका का भी वर्णन इसमें मिलता है। प्रस्तुत वेदी की रचना १०८०० ईंटों से की जाती थी और उनका आकार पंख फैलाए हुए पक्षी के समान होता था। वेदी के सबसे नीचे स्तर पर पाँच याज्ञिक पशुओं के मस्तक रखे जाते थे और उनके शरीर जलाशय में फेंक दिए जाते थे। अग्नि पात्र एवं ईंटों को पकाने की विधि भी अत्यन्त समारोह के साथ सम्पन्न की जाती थी। विन्टरनित्ज ने लिखा है—

*It is built of 10800 bricks in the form of a large bird without spread wings. In the lowest stratum of the alter the heads of five sacrificial animals are immerged and the bodies of the animals are thrown into water out of which the clay for the manufacture of the bricks and the fire pan is taken.*

१९-२० अध्याय मे सौत्रामणि उत्सव के प्रयोग का विधान है। यह एक विशेष याज्ञिक उत्सव था जिसमे सोमपान के साथ सुरापान का भी प्रयोग किया जाता था—"सौत्रामण्यां सुरां पिबेत्" का निर्देश कुछ इसी प्रकार का है। यह सुरा इन्द्र-अश्विनकुमार आदि को आहुति द्वारा प्रदान की जाती थी। इस यज्ञ का विधान सफलता के अभिलाषी ब्राह्मण, खोये हुए राज्य को पुनः प्राप्त करने के इच्छुक राजा तथा विजयाभिलाषी, वीर, समृद्धि के अभिलाषी वैश्य के लिए किया गया था। २२ से २५ अध्याय तक अश्वमेध यज्ञ की प्रार्थनाओं का संकलन है। शक्तिशाली राजा विजेता और सार्वभौम सम्राट् ही इसका अनुष्ठान किया करता था। २५वें अध्याय मे प्रस्तुत संहिता के पूर्वार्द्ध की समाप्ति हो जाती है। २६ से ४० अध्याय पाश्चात्य विद्वानो की दृष्टि मे नवीन संग्रह है। २६ से ३५ अध्याय तक खिल सूक्त है। खिल का अर्थ है, परिशिष्ट। ३०वें अध्याय मे यद्यपि कोई प्रार्थना नही है तथापि इसमें पुरुष मेध यज्ञ मे बलि के उपयुक्त व्यक्तियो की गणना की गई है। यह यज्ञ विषम देवताओं की तुष्टि के लिए किया जाता था, इसमे एक सौ चौरासी व्यक्तियों की बलि चढाई जाती थी जिनमे से कुछ के नाम इस प्रकार हैं। इसमे पुरोहित वर्ग के लिए एक ब्राह्मण, राजा के लिए एक योद्धा, मरुत् देवो के लिए एक वैश्य, सन्यासी के लिए एक सूद्र, अन्धकार के लिए एक चोर, नरक

के लिए एक हत्यारे, पाप के लिए एक हिजडे, वासना के लिए एक नर्तकी, कोलाहल के लिए एक गायक, नृत्य के लिए एक भाट, गान के लिए एक अभिनेता, मृत्यु के लिए एक शिकारी, द्यूत के लिए एक जुआरी, निद्रा के लिए एक अन्धे व्यक्ति, अन्याय के लिए एक धोबिन, कामना के लिए एक रगरेज स्त्री, यम के लिए एक बन्ध्या, उत्सव के आमोद के लिए एक गजे पुरुष की बलि दी जाती थी।[1] विन्टरनिट्ज ने भी अपने इतिहास मे इनका इस प्रकार वर्णन किया है—

To priestly dignity a brahman, to royal dignity a warrior, to the muruts a vaishya, to ascenticism a shudra, to darkness a thief, to hell a murderer, to evil a cunuch, to lust a harted, to noise a singer, to dancing a barn, to singing an actor, to death a hunter, to dice a gambler, to sleep a blind man, to injustice a deaf man, to lustre a fire lighter, to sacrifice a washer woman, to desire a female dyes, to yama a barrau woman, to the joy of festival a luleplayer, to cry a fiuteplayer, to earth acripple, to heaven a bold headed man and so on इतना वर्णन होने पर भी एक बात विचारणीय यह है कि इतने वर्गों के व्यक्ति एक साथ एकत्र कैसे होगे, अत. अनुमान यही किया जा सकता है कि वह एक प्रतीकात्मक यज्ञ था, जो पुरुषमेध यज्ञ कहा जाता था। सम्भव तो यह भी है कि यह यज्ञ किया ही नही जाता था, याज्ञिक रहस्यवाद तथा सिद्धान्त मात्र था। ३१वाँ अध्याय भी इसी प्रकार का है। इसमे पुरुष सूक्त सगृहीत है। ऋग्वेद के समान इसमे भी उल्लेख मिलता है कि पुरुष की बलि से ही विश्व की सृष्टि होती है। ३२वाँ अध्याय अपने स्वरूप एव विषय वर्णन की दृष्टि से एक उपनिषद् के अतिरिक्त कुछ नही है। इस अध्याय मे प्रजापति का पुरुष और ब्रह्म से अभेद दिखलाया गया है। ३२वें अध्याय के ६ मन्त्र भी उपनिषद् की कोटि मे आते हैं। इन्हे शिवसकल्पोपनिषद् के नाम से अभिहित किया जाता है। ३२वें अध्याय से ३४वें अध्याय तक की प्रार्थनाएँ सर्व-मेध यज्ञ मे प्रयुक्त होती थी, यह एक महान् यज्ञ था जिसमे यज्ञकर्ता यजमान

---

१. यजुर्वेद, अध्याय ३०, मन्त्र ५-२१

पुरोहित को अपना सर्वस्व याज्ञिक दक्षिणा के पुरस्कार में अर्पण कर देता था, स्वयं जीवन के शेष क्षणों को अरण्य में व्यतीत करने के लिए वानप्रस्थी हो जाता था। ३५वें अध्याय में अन्त्येष्टि क्रिया से सम्बद्ध ऋचाएँ हैं जिन्हें ऋग्वेद से ग्रहण किया गया है। ३६ से ३९ अध्याय तक में प्रवर्ग्ययज्ञ उत्सव की प्रार्थनाओं का संकलन है। इस यज्ञ के अवसर पर यज्ञ की अग्नि पर एक कड़ाह खूब गर्म किया जाता था (यह एक प्रकार से सूर्य का प्रतीक समझा जाता था)। इस कड़ाह में दूध गर्म करके अश्विनीकुमारों को समर्पित किया जाता था। यह उत्सव एक रहस्यात्मक कृत्य था। इस उत्सव के अन्त में यज्ञ-पात्र इस रूप में रखे जाते थे कि मनुष्य की आकृति का निर्माण होता था। दूध के बर्तन से सिर बनाया जाता था, बालों के स्थान पर कुशा (घास) की स्थापना की जाती थी। दो छोटे दूध के प्याले रखकर कानों का निर्माण होता था, दो स्वर्णिम पत्तियों से आँखें बनाई जाती थीं, दो कटोरों से एड़ियों का निर्माण होता था। इस आकृति पर डाला गया मांस-मज्जा तथा दुग्ध मिश्रित मधु रक्त का काम देता था। वाजसनेयी संहिता का ४०वाँ अध्य पुनः एक उपनिषद् के रूप में आता है। यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपनिष है जो ईशोपनिषद् के नाम से प्रसिद्ध है।

वाजसनेयी संहिता की विषय-सामग्री को देखने से स्पष्ट होता है कि अन्तिम अध्याय परवर्ती काल के ही हैं। कृष्ण यजुर्वेद का वर्ण्यविषय वाज सनेयी संहिता के पूर्वार्द्ध तक ही सीमित रहता है, जोकि वाजसनेयी संहिता के अन्तिम अध्यायों का परवर्ती सिद्ध करने का एक पुष्ट प्रमाण है।

कृष्ण यजुर्वेद की विषय-सामग्री लगभग शुक्ल यजुर्वेद से मिलती-जुलती है, अतः शुक्ल यजुर्वेद से विवेचन से कृष्ण यजुर्वेदीय विषय-सामग्री का अभ्यास मिल जाता है। क्योंकि दोनों में वर्णित अनुष्ठान की विधियाँ भी लगभग समान ही हैं। चरण व्यूह आदि ग्रन्थों में कृष्ण यजुर्वेद की ८५ शाखाओं का उल्लेख मिलता है किन्तु आज केवल चार शाखाएँ ही उपलब्ध हैं, उनके नाम क्रमशः (१) तैत्तिरीय शाखा, (२) मैत्रायणी शाखा, (३) कठशाखा, (४) कपिष्ठलकठ शाखा।

तैत्तिरीय शाखा—इस संहिता का दक्षिण में अत्यधिक प्रचार है, सुरक्षित सम्बद्ध साहित्य की दृष्टि से यह शाखा सर्वाधिक सम्पन्न है, क्योंकि इस शाखा ने अपनी संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् श्रौतसूत्र आदि को पूर्णतः

सुरक्षित बनाये रखा है। प्रस्तुत संहिता सात काण्ड, चौवालिस प्रपाठक तथा छः सौ इक्तीस अनुवादो मे विभक्त है। इसमे शुक्ल यजुर्वेद के समान ही राजसूय, वाजपेय, याजमान, पौरोडाश आदि यज्ञो का विशद् वर्णन मिलता है।

मैत्रायणी शाखा—कृष्ण यजुर्वेद की यह शाखा गद्य-पद्य उभयनात्मक है; इस संहिता मे चार काण्ड हैं। पहले काण्ड मे ग्यारह प्रपाठक दूसरे काण्ड में तेरह, तीसरे काण्ड मे सोलह और चौथे काण्ड मे चौदह प्रपाठक हैं। प्रथम प्रपाठक मे दर्श, पूर्णमास अध्वर, आधान पुनराधान, चातुर्मास्य तथा वाजपेय यज्ञ का वर्णन है। द्वितीय काण्ड मे काम्य, इष्टि, राजसूय आदि का वर्णन है। तृतीय काण्ड में अग्निचिति, अध्वर, विधि सौत्रामणी के अनन्तर अश्वमेध यज्ञ का विस्तृत वर्णन है। चतुर्थ काण्ड खिल काण्ड के नाम से प्रसिद्ध है जिसमे राजसूय आदि यज्ञों का वर्णन है। इस सम्पूर्ण संहिता मे २१४४ मन्त्र हैं जिनमे से ऋग्वेदीय ऋचाओं की संख्या १७०१ है।

कठ संहिता—पतंजलि के भाष्य की "ग्रामे ग्रामे कालापकं काठकं च प्रोच्यते" की पंक्ति से प्राचीन काल मे इस शाखा के प्रचार का अनुमान किया जा सकता है। इस संहिता मे पाँच खण्ड हैं जो क्रमश (i) इठिमिका, (ii) मध्यमिका, (iii) ओरिमिका, (iv) याज्यानुवाक्या, (v) अश्वमेधाद्यनुवचन। इसी विभाग के उपरान्त भी इस शाखा मे स्थानक अनुवचन, अनुवाक तथा मन्त्र नामक उपविभाग मिलता है। तदनुसार इस शाखा मे चालीस स्थानक एक सौ तेरह अनुवचन, आठ सौ तैंतालिस अनुवाक तथा ३०९१ मन्त्र हैं। प्रस्तुत शाखा मे समग्र रूप से दर्श पौर्णमास अग्निष्टोम, अग्नि होत्र, आधान, काम्येष्टि, निरूढ, पशुबन्ध, वाजपेय, राजसूय अग्निचयन, चातुर्मास्य, सौत्रामणी और अश्वमेधादि यज्ञो का वर्णन है।

कपिष्ठल कठ शाखा—चरणव्यूह के अनुसार चरक शाखा के अन्तर्गत ही इस शाखा का उल्लेख मिलता है। कपिष्ठल एक ऋषि विशेष हैं जिनका पाणिनी ने अपने अष्टाध्यायी नामक व्याकरण ग्रन्थ में 'कपिष्ठलो गोत्रे' ८।३।९१ सूत्र मे उल्लेख किया है। दुर्गाचार्य ने भी अपने को कपिष्ठल वशिष्ठ कहा है। प्रस्तुत शाखा जीर्ण शीर्ण रूप मे अधूरी उपलब्ध हुई है। यह संहिता काठक संहिता से सर्वथा भिन्न है यद्यपि इस ग्रन्थ काठक शाखा के समान ही है, परन्तु स्वरूपतः ऋग्वेद के सदृश है। यह ऋग्वेद के समान ही अष्टक तथा अध्यायो मे विभक्त है। इस संहिता के प्रथम अष्टक

मे आठ अध्याय हैं। द्वितीय-तृतीय अष्टक खण्डितावस्था में प्राप्त हुए हैं
पाँचवें अष्ट के मन्त्र यत्र-तत्र खण्डित ही हैं। कुल मिलाकर कहने का
यही है कि प्रस्तुत शाखा जीर्ण-शीर्ण रूप मे ही प्राप्त है।

कृष्ण यजुर्वेद की चारो संहिताओं मे केवल स्वरूप की ही मह
वर्णित विषय-वस्तु मे भी पर्याप्त समानता है और यह होना भी चाहिए
विभिन्न शाखाओ का मूलभूत वेद तो एक ही है।

प्रो० विन्टरनिट्ज यजुर्वेद के असख्य विधि-विधानों को सर्वथा
मानते हैं। यह यह भी लिखते हैं कि यजुर्वेदोल्लिखित यज्ञ विधियाँ केव
हीन शब्दो का समूह है। परस्पर सम्बन्ध-रहित वस्तुओ का समन्वय है
सम्बन्ध-रहित विषयों से यह वेद भरा हुआ है। इसी प्रकार के कुछ
लिनोपोल्ड वन श्रोदर भी लिखता है—

We may indeed often doubt whether these are the pro
tions of intelligent people, and in this connection, it is
interesting to observe that these bare and monotonous v
tion of one and the same idea are particularly characteri
of the writings of persons in the stage of imbecility.

हमे इस विषय मे सन्देह होना स्वाभाविक है कि ये रचनाएँ किसी
मान् व्यक्ति की हैं। इस सम्बन्ध मे अन्वेषण करना अत्यन्त मनोरजक ल
है कि एक ही प्रकार के विचार होने पर शून्य, तुल्यभेद और बुद्धिहीनता
स्थिति मे भी उन लेखको की कला मे एक विशेष चमत्कारपूर्ण गुण
यही नही, वह इसके बाद उन्मत्त पुरुषो द्वारा लिखे हुए लेखो के कुछ उद
भी देता है जो कि बहुत कुछ अशो मे यजुर्वेद की रचनाओ से समानता र
हैं; किन्तु हाँ, मेरे विचार से उनकी इस आलोचना का अभिप्राय पुरोहितों
उस मन. कल्पना से है जो असख्य यज्ञ के विधि-विधानो को असीम अभिव
मन्त्रो एवं विधियों द्वारा स्वय सम्पादित करते हैं।

यजुर्वेदीय धार्मिक दृष्टिकोण ऋग्वेद से भिन्न नहीं है, फिर भी इस वेद
देवताओ के स्वरूप मे कुछ परिवर्तन मिलता है; उदाहरणार्थ—प्रजापति क
जहाँ ऋग्वेद मे महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं है, वहाँ इस वेद मे उनकी एक
प्रधान देवता के रूप मे प्रतिष्ठा हो जाती है। इसी प्रकार ऋग्वेद के रुद्र मे
यजुर्वेद मे शिव, शकर एव महादेव का अभिधान ग्रहण कर लिया है। इस

वेद में मन्त्रों का प्रयोग भी यज्ञादि के लिए हुआ है। ऋग्वेद की भाँति देव या शक्तिशाली व्यक्तित्व के लिए नहीं। ऋग्वेद की अपेक्षा यजुर्वेद में अप्सराओं महत्त्व प्राप्त है। किन्तु भी इस वेद ऋग्वेद की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान के अधिकारी हो गये हैं। ऋग्वेद में मूर्ति पूजा का नाम नहीं है जब कि यजुर्वेद में यह धर्म का प्रधान अङ्ग बन जाती है। ऋग्वेद में देवता ही आराध्य हैं परन्तु यजुर्वेद में देवता पूजा से दूर यांत्रिक क्रिया-कलाप में निरत हो जाते हैं।

यजुर्वेद में कुछ आध्यात्मिक प्रहेलिकाएँ भी उपलब्ध हैं। वाजसनेयी संहिता के तेईसवें अध्याय में ऐसी प्रहेलिकाओं की एक विशाल संख्या दृष्टि-गोचर होती है जो उस काल में धर्म के एक अङ्ग की रचना करती थी। इसमें देवताओं को प्रभावित एवं प्रसन्न करने की उत्कृष्ट भावना के दर्शन होते हैं जिसने परवर्ती काल में विकसित होकर देवताओं के विविध नामान्तर एवं उपाधि भेद को जन्म दिया है। 'विष्णुसहस्रनामा' एवं 'शिवसहस्र नाम' आदि स्तोत्र इसी एकान्त देवनिष्ठा के परिणाम कहे जा सकते हैं।

प्रो० विन्टरनित्ज स्वाहा, स्वधा एवं वषट् जैसे तान्त्रिक शब्द प्रयोगों का बुद्धिहीन उच्चारण मानते हैं, परन्तु भारतीय परम्परा में इन शब्दों का विनियोग चिरकाल से विविध एवं विशिष्ट अर्थों में होता आया है जिसका भारतीय दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति ही वास्तविक मूल्याङ्कन कर सकता है।

यजुर्वेद का मूल्याङ्कन करते समय हम कह सकते हैं कि साहित्यिक दृष्टि से जो कुछ इसका महत्त्व है, वह तो है ही, किन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों के निगूढ़ दार्शनिक तत्त्व एवं उपनिषदों के रहस्य के परिज्ञान के लिए तथा भारतीय धर्म शास्त्र, साधारण धर्मशास्त्र के इतिहास की दृष्टि से भी यह वेद अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। जो भारतीय धर्मशास्त्र एवं दर्शनशास्त्र का अध्ययन करना चाहता है, उसके लिए ये संहिताएँ अपरिहार्य हैं। श्री पाण्डेय एवं जोशी अपने वैदिक साहित्य के इतिहास में लिखते हैं—"यजुर्वेद संहिता में प्राप्त होने वाली ये रचनाएँ चाहे कितनी ही शून्य क्यों न हों, पाश्चात्य विद्वानों को चाहे कितनी ही अर्थहीन क्यों न लगती हों किन्तु जब उन्हें हम किसी साहित्य की रचनाओं के रूप में पढ़ते हैं तो वे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती हैं। जो विद्यार्थी केवल भारतीय रूप में ही नहीं अपितु धर्म के सामान्य-विज्ञान के रूप में उनका
, वह भी उन्हें विशिष्ट उद्गम के रूप में माने बिना नहीं

काठक से अधिक सम्बद्ध है। ये चारो शाखाएँ एक दूसरी शाखा मे परस्पर सश्लिष्ट हैं। तैत्तिरीय शाखा का एक नाम आपस्तम्ब शाखा या आपस्तम्ब सहिता भी है। पाँचवी शाखा को वाजसनेयी शाखा कहते हैं, याज्ञवल्क्य ने भी अपने मान और ज्ञान की रक्षा के लिए सूर्यदेव को तपस्या से सन्तुष्ट करके शुक्ल यजुर्वेद को प्राप्त किया। सूर्य ने अश्व रूप धारण कर योगी को यह ज्ञान दिया था, अतः इस संहिता का नाम वाजसनेयी संहिता प्रसिद्ध हुआ: यही नही, यह ज्ञान मध्य दिन मे दिया गया था अतः इस सहिता को माध्यन्दिनी शाखा भी कहते हैं तथा सूर्य का प्रकाश पडने के कारण शुक्ल नाम पडा। दूसरी ओर प्रकाशाभाव होने के कारण कृष्ण नाम हुआ। तित्तिरि ने ज्ञान का भक्षण किया था; अत. वह दूसरी सहिता तैत्तिरीय कहलाई। "वाजसनेयी सहिता के काठक और माध्यन्दिन शाखाओ की दो धाराएँ निकलती हैं" और वे दोनो धाराएँ परस्पर एक-दूसरे से बहुत ही कम अश मे भिन्न हैं, ऐसा भी विद्वानों का मत है। यह तो रही आख्यायिका तथा तत्सम्बद्ध विभाजन और उनका नामकरण; किन्तु इस विभाजन के अन्य कुछ आधार भी मिलते हैं जिनका हम सक्षेप मे उल्लेख करेंगे।

विभिन्न स्थलो पर प्राप्त उल्लेखों से यह ज्ञात होता है कि वेद के दो सम्प्रदाय प्रसिद्ध थे—(१) ब्रह्म सम्प्रदाय, (२) आदित्य सम्प्रदाय। शतपथ ब्राह्मण मे आदित्य सम्प्रदाय का यजुर्वेद शुक्ल यजुर्वेद के नाम से प्रसिद्ध है तथा आदित्य सम्प्रदाय का प्रतिनिधि शुक्ल यजुर्वेद है "आदित्यनीमानिशुक्लानि यजूंषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाख्यायन्ते" तो दूसरी ओर ब्रह्म सम्प्रदाय का प्रतिनिधि कृष्ण यजुर्वेद है; यह शुक्ल कृष्णात्व विभेद मूलतः यजुर्वेद के स्वरूपाधीन है। यजुर्वेद की विषयवस्तु का विश्लेषण करने पर हम उसमे दर्श, पौर्णमासादि अनुष्ठान एव यज्ञ आदि के लिए आवश्यक मन्त्रो का ही सकलन पाते हैं। (१) यज्ञ एक शुभ कर्म है, शुभ वस्तुओं के लिए पवित्र वर्ण श्वेत का अभिधान यत्र-तत्र मिलता है, अतः इस सहिता का नाम शुक्ल यजुर्वेद है। (२) इस यजुर्वेद में ऋचाओं का व्यवस्थित सकलन है, इसलिए भी इसे शुक्ल अभिधान प्राप्त है। (३) इस सहिता मे ब्राह्मणात्मक गद्य का सर्वथा अभाव है अर्थात् विषय के स्पष्टीकरण के लिए गद्यभाग का इसमे अभाव है। दूसरी ओर कृष्ण यजुर्वेद मे मन्त्रों के साथ तन्नियोजक ब्राह्मण है अर्थात् मन्त्र एवं ब्राह्मण भाग का एकत्र मिश्रण हो

अभिधान का कारण है। इस प्रकार इस संहिता मे गद्य-पद्य, मन्त्र एवं ब्राह्मण दोनो का मिश्रण है। इसीलिए डा० मङ्गलदेवजी ने लिखा है—

"ऐसा प्रतीत होता है कि इन्ही मन्त्र और ब्राह्मणो के भागों के सम्मिश्रण के कारण यजुर्वेद के एक भेद कृष्ण और इसके सम्मिश्रण से रहित होने के कारण दूसरे भेद को शुक्ल कहा जाने लगा है। दोनो मे कृष्ण यजुर्वेद प्राचीन और शुक्ल यजुर्वेद नवीन समझा जाता है।"

जहाँ तक कृष्ण यजुर्वेद की सज्ञा का प्रश्न है, उसमे पर्याप्त मात्रा मे अव्यवस्था-सी मिलती है जहाँ तक कि कहीं-कहीं काण्ड और प्रपाठक एक साथ ही वर्णित है और कहीं-कहीं अलग-अलग भी। यह तो पहले ही लिख चुके हैं कि मन्त्र और ब्राह्मण का एकत्र मिश्रण ही यजुर्वेद के कृष्ण अभिधान का कारण है। तुलनात्मक अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि शुक्ल यजुर्वेद सुसम्पादित व्यवस्थित एवं स्पष्ट है कि दूसरी ओर कृष्ण यजुर्वेद अधिकाश मे असम्पादित, अव्यवस्थित एवं अस्पष्ट। इस प्रकार का भी विद्वानो ने शुक्ल एवं कृष्ण शब्दो का व्याख्यान किया है।

एक भारतीय विद्वान् का तो यह भी मत है कि रावण कृत वेदभाष्य जिस यजुर्वेद मे समाविष्ट हो गया है वह यजुर्वेद ही कृष्ण यजुर्वेद है और मीमांसक यज्ञ के आधार पर भी इस विभाजन को मानते हैं।

श्री मैकडानल (Macdonell) महोदय ने लिखा है कि कृष्ण और शुक्ल यजुर्वेद का भेद इसलिए है कि शुक्ल यजुर्वेद स्पष्ट है, विषय की दृष्टि से निर्मल है, पाठक की बुद्धि को चमत्कृत कर आह्लादित करता है, फलतः वह शुक्ल यजु के नाम से अभिहित किया जाता है, किन्तु इसके विपरीत कृष्ण यजुर्वेद विषय माधुर्य, गद्य-पद्य तथा मन्त्र ब्राह्मण की उभयात्मक प्रवृत्ति के कारण पाठक की बुद्धि को व्यामोहित कर उसे कुण्ठित बना देता है, अतः वह कृष्ण यजुर्वेद है।

डा० मङ्गलदेवजी ने इस विषय पर एक अलग विशिष्ट मत दिया है, [illegible] की [illegible]

[illegible] हो सकता है। कृष्ण यजुर्वेद की [illegible] शुक्ल यजुर्वेद का उल्ल[illegible] [illegible] ऋग्वेद के सम्बन्ध का [illegible]

जितना प्रभाव वैदिकेतर विचारधारा का है, उतना शुक्ल यजुर्वेदीय मा
पर नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि कृष्ण यजुर्वेद की उक्त प्रवृत्ति के वि
में 'शुद्ध' वैदिक धारा के पक्षपात या अभिनिवेश के कारण ही शुक्ल यजुर्वेद
प्रारम्भ हुआ होगा, बहुत कुछ उसी तरह जिस तरह वर्तमान काल में सम
धात्मक पौराणिक धर्म के विरोध में आर्यसमाज का प्रारम्भ हुआ। शुद्ध ध
के कारण ही कदाचित् 'शुक्ल' और 'कृष्ण' का प्रचलन होने लगा।" वैदिके
धारा को अधिक स्पष्ट करने के लिए डाक्टर साहब एक मन्त्र का उद्धारण
देते हैं, वह इस प्रकार है—

> गिरिसुताय धीमहि। तन्नो गौरी प्रचोदयात्।
> तत्कुमाराय विद्महे कार्तिकेयाय धीमहि।
> तन्नः स्कन्दः प्रचोदयात्॥
> (मैत्रायणी संहिता २।६।१ तथा काठक संहिता १७।११)

यहाँ कार्तिकेय, स्कन्द और गौरी इन पौराणिक देवी-देवो का उल्लेख स्पष्टत वैदिकेतर धारा के प्रभाव का द्योतक है।

अन्त में हमे पाश्चात्य आलोचक प्रवर इतिहासकार विन्टरनिट्ज के विचारो के उद्धरण के साथ ही इस प्रश्न को समाप्त करते हैं। उनका कहना है—हो सकता है कि यह विभाजन पुरोहित के लिए महत्त्वपूर्ण हो किन्तु वर्तमान समय मे इस विभाजन का कोई महत्त्व नही है। इस वेद की कृष्ण तैत्तिरीय संहिता की अपेक्षा शुक्ल-वाजसनेयी संहिता का प्रचुर प्रचार है।

**प्रश्न—वैदिक कर्मकाण्डीय संहिता की विषय-सामग्री का निरूपण कीजिए।**

**Discuss the nature of the subject-matter of the liturgical Vedic Samhitas.** —आ० वि० वि० ५७

उत्तर—वैदिक धर्म मे यज्ञो को जो महत्त्व प्राप्त है, वह अन्य किसी कार्य को नही। वेदो की पूर्णत. प्रवृत्ति एव उनका अवसान यज्ञो मे जाकर ही होता है। यही कारण है कि यहाँ के प्रत्येक सुखद एव दुःख कार्य मे वेदो की ऋचाओ के माध्यम से यज्ञ अवश्य ही किया जाता है। भारतीय संस्कृति मे गर्भाधान संस्कार से लेकर अन्त्येष्टि संस्कार तक के सभी कार्यों मे यज्ञो का आवश्यक

विधान है। यहाँ किसी भी प्रकार का प्रसन्नतादायक समारोह, उत्सव आदि कुछ भी हो, उसमें यज्ञ का होना परमावश्यक समझा जाता था। इसीलिए यहाँ के जीवन में कर्मकाण्ड एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। जहाँ तक यज्ञ का प्रश्न है, प्रत्येक वेद में यज्ञ का महत्त्व स्वीकार किया गया है। अथर्ववेद में बहुत ही स्पष्ट शब्दों में यज्ञ को विश्व की नाभि कहा गया है—"अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।" ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में लिखा है—संसार की उत्पत्ति ही यज्ञ से हुई है वही संसार का प्रथम धर्म भी था—"यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा तानि धर्माणि प्रथमान्यासन।" यजुर्वेद में भी सर्वश्रेष्ठ कर्म यज्ञ को माना है, यज्ञ को ही प्रजापति व विष्णु माना है—"यज्ञो वै श्रेष्ठतम कर्म प्रजापतिर्वै यज्ञः, विष्णु वै यज्ञः।" आशय यही है कि वैदिक धर्म एवं वैदिक संस्कृति में यज्ञ का प्रमुख स्थान है।

आचार्य सायण ही नहीं अपितु अन्य सभी वैदिक आचार्यों ने वेद का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय यज्ञ को माना है। सायण ने तो इसी कारण वेदों का अर्थ ही कर्मकाण्डपरक दिया है। कहा तो यहाँ तक जाता है कि यज्ञ-क्रियाओं के सुव्यवस्थित रूप में सम्पादन के लिए ही ऋक्, यजु, साम तथा अथर्व संहिताओं का संकलन हुआ है। वैदिक यज्ञों में होता, अध्वर्यु, उद्गाता तथा ब्रह्मा ये चार ऋत्विज प्रमुख रूप से होते हैं। यज्ञ के अवसर पर देवता-विशेष की प्रशंसा में मन्त्रों का सविधि उच्चारण करते हुए देवता का आह्वान करने वाला होता नामक ऋत्विज होता है। होता के लिए अभीष्ट मन्त्रों का संकलन ऋग्वेद में है। यजुर्वेद संहिता का संकलन अध्वर्यु नामक ऋत्विज के उपयोग के लिए हुआ है। अध्वर्यु का कार्य है, यज्ञों को विधिवत् सम्पादित करना। सामवेद संहिता का संकलन उद्गाता नामक ऋत्विज के लिए हुआ है। उद्गाता का कार्य है कि वह यज्ञों में आवश्यक मन्त्रों को स्वर सहित उच्च ध्वनि में गान करे। यज्ञ में होने वाले विघ्नों के निवारण के लिए अथर्वसंहिता का निर्माण हुआ है। इस संहिता के मन्त्र यज्ञ संरक्षक ब्रह्मा नामक ऋत्विज के लिए हैं। विशेषतः ब्रह्मा नामक ऋत्विज का कार्य यज्ञ का निरीक्षण करना है। इस प्रकार निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि वैदिक संहिता का प्रमुख विषय यज्ञ एवं कर्मकाण्ड ही है। तथापि एक बात विशेष रूप से स्पष्ट कर देना उचित

होगा कि ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के मन्त्रों के संग्रह का उद्देश्य केवल कर्मकाण्ड ही न था अपितु उनके पीछे साहित्यिक सौन्दर्य व अन्य तत्त्व भी थे, परन्तु साम तथा यजुर्वेद में मन्त्रों का संग्रह व्यावहारिक दृष्टि से ही किया गया था जिनमे यज्ञ एवं कर्मकाण्ड का प्राधान्य था। इसीलिए कर्मकाण्ड का विशिष्ट प्रतिपादन यजुर्वेद मे हुआ है। डा० मङ्गलदेवजी ने इस वेद के विषय का प्रतिपादन करते हुए लिखा है—

"यजुर्वेद का घनिष्ठ सम्बन्ध याज्ञिक प्रक्रिया से है, यह तो उसके नाम से ही स्पष्ट है। 'यजुष्' और 'यज्ञ' दोनों शब्द "देव पूजा संगति करण दानेषु" इस धातु से निकले हैं। निरुक्तकार यास्क ने भी कहा है—'यजुर्भिर्यजन्ति' १३।७ तथा 'यजुर्यजते' ७।१२। यजुर्वेद संहिता का याज्ञिक कर्मकाण्ड से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यही सिद्धान्त यजुर्वेद के शतपथ आदि ब्राह्मण ग्रन्थों का तथा प्राचीन भाष्यकारों का है।"[1] इस वेद का संग्रह कर्मकाण्डपरक धर्म की आवश्यकता को पूर्ण करने के लिए हुआ था। ह्विटने ने लिखा है, "प्रारम्भिक वैदिक काल मे यज्ञ अभी तक बन्धनरहित भक्तिपरक कर्म था, जो किसी विशेषाधिकार प्राप्त पुरोहित वर्ग के सुपुर्द नहीं था, न उसके छोटे-छोटे ब्यौरे के लिए कोई विशेष नियम बनाये गये थे; यज्ञकर्त्ता यजमान की ही स्वतन्त्र भावनाओं के ऊपर आश्रित होते थे और उनमें ऋग्वेद तथा समावेद के ही मन्त्रों का उच्चारण रहता था जिससे कि यजमान का मुख, हाथों से देवताओं के निमित्त हृदय की भावना से प्रेरित होकर आहुति देते समय बन्द न रहे।''' '''ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, कर्मकाण्ड ने भी अधिकाधिक औपचारिक रूप धारण कर लिया और अन्त में एक सर्वथा निर्दिष्ट एवं सूक्ष्म रूप में यजमान के क्षण-क्षण के व्यापार को प्रकट करने वाले मन्त्र भी स्थिर कर दिये गये जो व्याख्या करने, क्षमा-प्रार्थना करने एवं आशीर्वाद देने के संकेत रूप से प्रयुक्त किए जाने लगे।''''''इन यज्ञ सम्बन्धी मन्त्रों के संग्रह का नाम ही यजुर्वेद हुआ, जिसका 'यज्' धातु से 'यज्ञ करना' अर्थ होता है।'' '''''यजुर्वेद की रचना इन्हीं मन्त्रों से हुई है, जो कुछ भाग में गद्य और कुछ भाग में पद्य के रूप में हैं और जिन्हें भिन्न-भिन्न यज्ञों में उपयुक्त होने योग्य क्रम में रखा गया है।[2]

---

१. भारतीय संस्कृति का विकास।
२. डा० राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन ५८ से उद्धृत।

यदि हम यजुर्वेद की विषय-सामग्री का परीक्षण करें तो हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुंच जाते हैं कि यह केवल यज्ञ एवं कर्मकाण्ड की गाथा का ही साधक है। यजुर्वेद का इतना भाग तो कर्मकाण्ड का मानो आगार है। बलदेव उपाध्याय ने वैदिक साहित्य और संस्कृति नामक ग्रंथ मे लिखा है "यजुर्वेद मे मुख्य रूपेण वैदिक कर्मकाण्ड का प्रतिपादन है। इसलिए इसकी संहितायें Liturgical Vedic Samhita के नाम से विख्यात हैं।"[1] वास्तव मे विद्वान् लेखक का कथन ठीक भी है क्योंकि वाजसनेयी संहिता मे चालीस अध्याय हैं। इनमें प्रथम २५ अध्यायों मे बड़े-बड़े यज्ञो से सम्बोधित मन्त्र हैं जिनमें यांत्रिक क्रियाओं का निर्देश है। यज्ञो का वर्णन है। इनमे से प्रथम व द्वितीय अध्याय मे दर्शपौर्णमासेष्टिनामक यज्ञपरक मन्त्र हैं। इन्हीं मन्त्रो मे पिण्डपितृयज्ञ-परक मन्त्र भी हैं। तृतीय अध्याय मे दैनिक यज्ञ तथा चातुर्मास्य यज्ञ से सम्बद्ध मन्त्र हैं। चौथे से आठवें अध्याय मे सोमयाग तथा पशुबलि सम्बन्धी विभिन्न क्रियाओं के प्रेरक मन्त्र हैं। वाजपेय, राजसूय यज्ञो से सम्बद्ध मन्त्र नौवें तथा दसवें अध्याय मे हैं। ग्यारहवें से लेकर अठारहवें अध्याय तक सौत्रामणी नामक विशाल यज्ञ का तथा तत्सम्बद्ध विभिन्न क्रियाओ का वर्णन है। बाईस से लेकर पच्चीसवें अध्याय मे अश्वमेध यज्ञ का विस्तृत वर्णन है। २५ से लेकर ४० तक के अध्याय अर्वाचीन हैं किन्तु उनमे भी यज्ञ सम्बन्धी मन्त्र ही हैं। हां, केवल चालीसवें अध्याय का सम्बन्ध कर्मकाण्ड से न होकर ज्ञानकाण्ड से है इसलिए इस अध्याय को ईशोपनिषद् कहते हैं।

यजुर्वेदीय अन्य शाखाओ मे भी यज्ञो का विस्तार से वर्णन है। शुक्ल यजुर्वेद के अध्ययन से कृष्ण यजुर्वेद की विषय-सामग्री का अधिकांश परिचय मिल जाता है। इसका आशय यही है कि कृष्ण यजुर्वेद मे भी शुक्ल यजुर्वेद की तरह ही यज्ञो का, वैदिक कर्मकाण्ड का सर्वाङ्गीण विवेचन है। कृष्ण यजुर्वेदीय तैत्तिरीय शाखा मे शुक्ल यजुर्वेद के समान ही पौरोडाश, याजमान, वाजपेय, राजसूय आदि अनेक यज्ञानुष्ठानों की विधियां हैं। इसी प्रकार मैत्रायणी संहिता मे भी दर्श पूर्णमास, अध्वर, आधान, पुनराधान, चातुर्मास्य तथा वाजपेय यज्ञो का वर्णन है। कठ संहिता की भी विषय-सामग्री कर्मकाण्डीय

---

१. वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ० १८२

ही है जिसमें पुरोडाश, अध्वर पशुयज्ञ, वाजपेय, राजसूय, प्रायश्चित, सौत्रामणी, साम्य, इष्टि, अग्निचयन अश्वमेध आदि यज्ञों का वर्णन है। बल्देव उपाध्याय ने ठीक ही लिखा है कि "कृष्ण यजुर्वेद की चारों मन्त्र संहिताओं में केवल स्वरूप की ही एकता नहीं है, प्रत्युत उनमें वर्णित अनुष्ठानों तथा तन्निष्पादक मन्त्रों में भी बहुत अधिक साम्य है।" आशय यही है कि शुक्ल एवं कृष्ण यजुर्वेद कर्मकाण्डीय विषय-सामग्री का उपास्थापन करने के कारण कर्मकाण्डपरक वेद हैं। इस वेद में केवल यज्ञ ही नहीं, यज्ञ की वेदी, पात्र आसन, समिधा, हविष्य आदि उपकरणों का भी सर्वाङ्गीण विवरण मिलता है जिसका निर्देश हम यजुर्वेद के परिचय में कर चुके हैं। वस्तुतः यह कर्मकाण्डीय वेद हैं। इसीलिए डा० मंगलदेवजी ने भारतीय संस्कृति का विकास नामक ग्रन्थ में लिखा है कि ऋग्वेद संहिता के विपरीत यजुर्वेद संहिता का क्रम विशिष्ट याज्ञिक कर्मकाण्ड के क्रम को लक्ष्य में रखकर ही निर्धारित किया गया है।

अन्त में हम यही कह सकते हैं कि वैदिक ऋषियों ने भारतीय धर्मप्राण जनता के लिए कर्मकाण्ड एवं यज्ञ को आवश्यक एवं अपरिहार्य कर्तव्य माना था; इसीलिए उन यज्ञों को व्यवस्थित रूप में सम्पादन के लिए वैदिक संहिताओं का सृजन अथवा दर्शन किया था। चारों ही वैदिक संहिताओं में यद्यपि कर्मकाण्डीय तत्त्वों का सन्निवेश है; किन्तु प्राधान्येन यजुर्वेद संहिता में विशद् विवेचन किया गया है। वैदिक संहिताओं में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान इसी संहिता को दिया गया है। डा० मङ्गलदेव जी ने लिखा है कि "समस्त वैदिक साहित्य में यजुर्वेद अपना विशिष्ट स्थान रखता है। मनुष्य जीवन के विकास की ज्ञान, कर्म और उपासना तीन सीढ़ियाँ हैं। इनमें कर्म की सीढ़ी या कर्मकाण्ड का प्रतिपादन विशेषतः यजुर्वेद ही करता है। यद्यपि वैदिक कर्मकाण्ड में अन्य वेद भी अपना-अपना स्थान रखते हैं, तो भी उसका प्रधान आधार यजुर्वेद ही कहा जा सकता है। सुप्रसिद्ध वैदिक ग्रन्थ निरुक्त में ऋग्वेद आदि से सम्बन्ध रखने वाले ऋत्विजों का वर्णन करते हुए कहा है—"यज्ञस्य मात्रां विमिमीत एकः। अध्वर्युः। अध्वर्युरध्वर्युः। अध्वरं युनक्ति। अध्वरस्यनेता॥" (निरुक्त १।८)। इसका अभिप्राय यही है कि यज्ञ की सारी इतिकर्तव्यता को यजुर्वेद ही बतलाता है। इसीलिए यजुर्वेद से सम्बन्ध रखने वाले ऋत्विक्

-र्वेद' को गारे 'यज्ञ का चलाने वाला' या 'यज्ञ का नेता' कहा जाता है।[1] ी न्द कारणों से यजुर्वेद को कर्मकाण्डीय संहिता Liturgical Vedic imhita कहा जाता है।

---

१. "आनुपूर्व्या कर्मणा स्वरूप यजुर्वेदे समाम्नातम्। तत्रतत्र विशेषापेक्षयाम-पेक्षिता याज्यापुरोनुवाक्यादय ऋग्वेदैः, समाम्नायन्ते। स्तोत्रादीनि तु सामवेदे। तथा भतिभित्तिस्थानीयो यजुर्वेद, चित्रस्थानीयावितरो। तस्मात् कर्मसु यजुर्वेदस्य प्राधान्यम्।"

"सायणकृत कठ संहिता भाष्य की उपक्रमणिका"

ही है जिसमे पुरोडाश, अध्वर पशुबन्ध, वाजपेय, राजसूय, प्रायश्चित, सौत्रामणी, काम्य, इष्टि, अग्निचयन अश्वमेध आदि यज्ञों का वर्णन है। बल्देव उपाध्याय ने ठीक ही लिखा है कि "कृष्ण यजुर्वेद की चारो मन्त्र सहिताओं में केवल स्वरूप की ही एकता नही है, प्रत्युत उनमें वर्णित अनुष्ठानों तथा तन्निष्पादक मन्त्रो मे भी बहुत अधिक साम्य है।" आशय यही है कि शुक्ल एव कृष्ण यजुर्वेद कर्मकाण्डीय विषय-सामग्री का उपस्थापन करने के कारण कर्मकाण्डपरक वेद हैं। इस वेद मे केवल यज्ञ ही नही, यज्ञ की वेदी, पात्र, आसन, समिधा, हविष्य आदि उपकरणो का भी सर्वाङ्गीण विवरण मिलता है जिसका निर्देश हम यजुर्वेद के परिचय में कर चुके हैं। वस्तुतः यह कर्मकाण्डीय वेद हैं। इसीलिए डा० मगलदेवजी ने भारतीय संस्कृति का विकास नामक ग्रन्थ मे लिखा है कि ऋग्वेद सहिता के विपरीत यजुर्वेद सहिता का क्रम विशिष्ट याज्ञिक कर्मकाण्ड के क्रम को लक्ष्य में रखकर ही निर्धारित किया गया है।

अन्त में हम यही कह सकते हैं कि वैदिक ऋषियो ने भारतीय धर्मप्राण जनता के लिए कर्मकाण्ड एव यज्ञ को आवश्यक एव अपरिहार्य कर्त्तव्य माना था; इसीलिए उन यज्ञों को व्यवस्थित रूप मे सम्पादन के लिए वैदिक सहिताओ का सृजन अथवा दर्शन किया था। चारो ही वैदिक सहिताओं मे यद्यपि कर्मकाण्डीय तत्त्वो का सन्निवेश है; किन्तु प्राधान्येन यजुर्वेद सहिता मे विशद् विवेचन किया गया है। वैदिक सहिताओं मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान इसी सहिता को दिया गया है। डा० मङ्गलदेव जी ने लिखा है कि "समस्त वैदिक साहित्य मे यजुर्वेद अपना विशिष्ट स्थान रखता है। मनुष्य जीवन के विकास की ज्ञान, कर्म और उपासना तीन सीढियाँ हैं। इनमे कर्म की सीढी या कर्मकाण्ड का प्रतिपादन विशेषतः यजुर्वेद ही करता है। यद्यपि वैदिक कर्मकाण्ड मे अन्य वेद भी अपना-अपना स्थान रखते हैं, तो भी उसका प्रधान आधार यजुर्वेद ही कहा जा सकता है। सुप्रसिद्ध वैदिक ग्रन्थ निरुक्त में ऋग्वेद आदि से सम्बन्ध रखने वाले ऋत्विजों का वर्णन करते हुए कहा है—"यज्ञस्य मात्रां विमिमीत एकः। अध्वर्युः। अध्वर्युरध्वरयुः। अध्वरं युनक्ति। अध्वरस्यनेता॥" (निरुक्त १।८)। इसका अभिप्राय यही है कि यज्ञ की सारी इतिकर्त्तव्यता को यजुर्वेद ही बतलाया है। इसीलिए यजुर्वेद से सम्बन्ध रखने

'अध्वर्यु' को मानो 'यज्ञ का चलाने वाला' या 'यज्ञ का नेता' कहा जाता है।[1] इन्हीं सब कारणों से यजुर्वेद को कर्मकाण्डीय संहिता Liturgical Vedic Samhita कहा जाता है।

---

१. "आनुपूर्व्या कर्मणा स्वरूप यजुर्वेदे समाम्नातम्। तत्रतत्र विशेषापेक्षयाम-पेक्षिता याज्यापुरोनुवाक्यादय. ऋग्वेदेः, समाम्नायन्ते। स्तोत्रादीनि तु सामवेदे। तथा सतिभित्तिस्थानीयो यजुर्वेद, चित्रस्थानीयावितरौ। तस्मात् कर्मसु यजुर्वेदस्य प्राधान्यम्।"

"सायणकृत कठ संहिता भाष्य की उपक्रमणिका"

## चतुर्थ अध्याय

# अथर्ववेद

*प्रश्न—अथर्ववेद के रचनाक्रम एवं वर्ण्य-विषय का सर्वाङ्गीण विवेचन कीजिए।*

**How do the contents of the *Atharvaveda* fit in with the *ideology implied by the term 'Veda'* ?**

**Or**

प्रश्न—अथर्ववेद का रचना-काल बताइये।

उत्तर—*भारतीय विश्वास के अनुरूप वर्तमान जीवन को सुखमय बनाने* के लिए जिन उपकरणों की आवश्यकता होती है, उन सभी की सिद्धि के लिए किये जाने वाले अनुष्ठानों का विधान अथर्ववेद में है। अथर्ववेद की रचना ब्रह्मा नामक यज्ञ के ऋत्विज् के लिए हुई है। ब्रह्मा का प्रधान कार्य यज्ञ के अनेक विधानों का निरीक्षण तथा सम्भावित भूलों का परिमार्जन करना है। ऐतरेय ब्राह्मण का भी कहना है कि वचनों के द्वारा वेदत्रयी यज्ञ के एक पक्ष को संस्कृत करती है तो दूसरे पक्ष का संस्कार मन से ब्रह्मा करता है। आशय यही है कि यज्ञ के सर्वाङ्गीण संस्कार के लिए ही अथर्ववेद की रचना हुई है। पुरोहित को राज्य में सामाजिक, राजनैतिक शान्ति के लिए अथर्ववेद की जानकारी आवश्यक है।

अथर्ववेद का अर्थ है, *अथर्वों का वेद अथवा अभिचार मन्त्रों का ज्ञान* (The knowledge of magic formulae)। प्राचीन समय में अथर्वन् शब्द से पुरोहित का बोध होता था। प्रोफेसर विन्टरनित्ज़ के अनुसार अथर्वन् शब्द इण्डो-ईरानियन काल से भी पूर्ववर्ती है। क्योंकि अवेस्ता

ईरान देश की प्राचीन अथर्वन् ऋषियों के समकक्ष ही हैं। इन भारतीय प्राचीन पुरोहितों को कुछ समय बाद अभिचार का पुरोहित कहा जाने लगा था। अथर्ववेद के उपरान्त अनेक नामों से अथर्ववेद, ब्रह्मवेद, अंगिरोवेद, अथर्वाङ्गिरस वेद आदि नाम प्रयुक्त हैं किन्तु इनमें प्राचीनतम नाम अथर्वाङ्गि-रस है जिसका अर्थ है अथर्वों और अंगिराओं का वेद। इस वेद के अनेक मन्त्र अथर्वण तथा अङ्गिरस ऋषियों के द्वारा देखे गए थे। इसीलिए इस वेद को अथर्वाङ्गिरस कहते हैं। पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में अथर्वण में रोग नाशक, पुष्टिकारक मन्त्र हैं जबकि अङ्गिरस में अभिचार—मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण सम्बद्ध मन्त्र संगृहीत हैं। इस प्रकार निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि अथर्ववेद में रोग निवारक, शत्रु विनाशक अभिचार मन्त्र तथा शापों का भी पर्याप्त वर्णन है।

पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य के पस्पशाह्निक में "नवधाऽथर्वणोवेद" लिखकर अथर्ववेद की नौ शाखाओं का उल्लेख किया है। किन्तु आज इन नौ शाखाओं में से केवल दो शाखाएँ ही प्राप्त होती हैं, जिनके नाम हैं (१) शौनक (२) पिप्पलाद। इस वेद की शौनक शाखा में बीस काण्ड, सात सौ तीस सूक्त तथा ६ हजार के लगभग मन्त्र हैं। इन मन्त्रों में से लगभग १८०० मन्त्र ऋग्वेद संहिता के हैं। यद्यपि पाठान्तर कहीं-कहीं मिल जाता है, किन्तु ऋग्वेद-दीय मन्त्रों का ज्ञान हमें हो ही जाता है। क्योंकि अथर्ववेद का बीसवाँ काण्ड कुछ ही अंशों को छोड़कर पूर्णतः ऋग्वेद के मन्त्रों से निर्मित है। इस संहिता का १८वाँ एवं १९वाँ काण्ड परवर्ती कहा जाता है। यदि हम कहें कि अथर्व-वेद का ⅙ अंश ऋग्वेद से गृहीत है तो अनुपयुक्त न होगा। यही नहीं, अथर्ववेद की आधी ऋचाएँ ऋग्वेद की ऋचाओं से मिलती-जुलती हैं। ऋग्वेद से ली हुई ऋचायें पहले, आठवें और दसवें मण्डल की हैं। अथर्ववेद के प्रथम सात काण्डों में छोटे-छोटे सूक्त मिलते हैं। प्रथम काण्ड के प्रत्येक सूक्त में नियमतः चार-चार ऋचाएँ मिलती हैं। द्वितीय काण्ड के प्रत्येक सूक्त में ५, तृतीय में ६-६, चतुर्थ में ७-७ ऋचाएँ मिलती हैं। पाँचवें काण्ड के सूक्तों में कम से कम आठ और अधिकतर १८ ऋचाएँ मिलती हैं। छठे काण्ड में १४२ सूक्त हैं जिनके प्रत्येक सूक्त में कम से कम तीन-तीन ऋचाएँ हैं। सातवें काण्ड में ११८ सूक्त हैं जिनमें अधिकांश सूक्त एक-एक, दो-दो ऋचाओं वाले हैं। आठवें काण्ड से लेकर चौदहवें काण्ड तक तथा सत्रहवें और अठारहवें काण्ड में बड़े-बड़े

सूक्त हैं जिनमें सबसे छोटे सूक्त मे २१ ऋचाएँ तथा सबसे बड़े सूक्त में ८ ऋचाएँ हैं। १५वाँ एव १६वाँ काण्ड ब्राह्मण ग्रन्थो की भाँति गद्यमय है उपर्युक्त निर्दिष्ट सूक्तो के क्रम निर्धारण मे एक विशेषता यह है कि समा विषयक सूक्तो की योजना आस-पास की गई है। इन सूक्तो को हम तीन वर्ग मे विषय-वस्तु के आधार पर रख सकते हैं।

प्रथम वर्ग—दूसरे काण्ड से लेकर ७वें काण्ड तक इसमें विभिन्न विषयो के छोटे-छोटे सूक्त हैं।

द्वितीय वर्ग—आठवें काण्ड से लेकर १२वें काण्ड तक—इसमें विभिन्न विषयो के बडे-बड़े सूक्त है। इन्ही मे से १२वे काण्ड के प्रारम्भ में पृथ्वी सूक्त है जिसमें राजनीतिक तथा भौगोलिक भव्य-भावना का अकन है।

तृतीय वर्ग—तेरहवें काण्ड से अठारहवें काण्ड तक इस वर्ग मे विषय की एकता परिलक्षित होती है। तेरहवाँ काण्ड आध्यात्म भावना के भरा हुआ है। चौदहवें काण्ड मे केवल दो लम्बे सूक्त हैं जिनमे विवाह-सस्कार का प्राधान्येन वर्णन है। पन्द्रहवाँ काण्ड व्रात्यकाण्ड है जिसमें व्रात्य के यज्ञ सम्पादन का आध्यात्मिक वर्णन है। सोलहवाँ काण्ड दुःस्वप्न नाशक मामक मन्त्रो का सुन्दरतम सग्रह है। सत्रहवें काण्ड का अन्यतम सूक्त अभ्युदय के लिए भव्य प्रार्थना से भरा हुआ है। अठारहवाँ काण्ड श्राद्धकाण्ड है जिसमें पितृमेध यज्ञ सम्बन्धी मन्त्रो का सुन्दरतम सग्रह है। अंतिम दो काण्ड तीनो वर्गों मे नहीं आते है इसीलिए वे खिलकाण्ड के नाम से प्रसिद्ध हैं। यहा तो यह' तक जाता है कि वे मूलग्रन्थ रचना के उपरान्त जोड़े गये हैं। १९वें काण्ड में ७२ सूक्त तथा ४५३ मन्त्र हैं। इनमें भैषज्य, राष्ट्रवृद्धि तथा आध्यात्म विषयक मन्त्र हैं। अन्तिम २०वें काण्ड में मन्त्र सख्या ९९८ है जो कि विशेषत. सोमयाग-परक हैं तथा ऋग्वेद से गृहीत हैं।

अथर्ववेद की विषय-सामग्री का यदि हम समष्टि-दृष्टि से विवेचन करें तो हम कह सकते हैं कि अथर्ववेद में चित्रित सस्कृति मानव समाज के उदय काल से सम्बन्ध रखती है जिसमें तत्कालीन मानवीय भावनाएं, क्रियाएँ, अनुष्ठान तथा विश्वासो का समग्र चित्रण विद्यमान है। इस वेद की शत्रु विजय, रोग-निवारण, भूत-प्रेत विनाश, जादू-टोना आदि से सम्बद्ध समग्र भावभूमि अपनी समता नही रखती है। अनेकानेक बीमारियो को दूर कर

कर तो हम इसे आयुर्वेद का प्राचीनतम ग्रन्थ भी कह सकते हैं। अब हम क्रमश इसकी विषय-वस्तु का विशद् विवेचन करेंगे।

अथर्ववेद की समग्र विषय-सामग्री को हम तीन विशिष्ट वर्गों मे रख सकते हैं—(१) आध्यात्म विषयक सामग्री इसमें ब्रह्म, परमात्मा एव चतुराश्रम एव वर्णों का विवेचन लिया जा सकता है। (२) अधिभूत प्रकरण मे राजा, राज्यशासन, सग्राम, शत्रुवाहन आदि विषयो को ले सकते हैं। (३) अधिदेवत वर्ग मे अनेक देवता, यज्ञ तथा काल आदि के विषय की सामग्री रख सकते हैं। विशेषत इस वेद मे आयुर्वेदीय मन्त्र हैं, जिन्हे भैषज्यानि सूक्त कहते हैं। दूसरे दीर्घ आयु की कामना-विषयक मन्त्र हैं, जिन्हे आयुष्यानि सूक्त कहा जाता है। तीसरे प्रकार के वे मन्त्र हैं जिनमे हल, कृषि आदि से सम्बद्ध भावनाएँ हैं, उन्हें पौष्टिकानि सूक्त कहा जाता है। चौथे प्रकार के वे मन्त्र हैं, जिनमे प्रायश्चितादि का विचार किया गया है। पाँचवें प्रकार के विवाह एव प्रेम-विषयक मन्त्र हैं। राजाओ से सम्बद्ध मन्त्रो को राजकर्माणि कहा गया है। वे भी इस वेद मे पर्याप्त हैं। पृथ्वी का मनोरम वर्णन एव उदात्त भावनाएँ भूमि सूक्त मे तथा आत्मा-परमात्मा एव दार्शनिक विचारो को ब्रह्मण्यानि सूक्तो के अन्तर्गत समाहित किया गया है। अनेक स्फुट विषयो पर भी अनेक सूक्त मिल जाते है।

भैषज्यानि सूक्त—अथर्ववेद के एक बहुत बड़े अश मे रोगो की चिकित्सा से सम्बन्ध रखने वाले मन्त्र हैं। ये मन्त्र रोग को देवता मानकर अथवा रोग के कारण भूत असुरो को लक्ष्य करके कहे गये हैं। आज भी जनसामान्य की आस्थाओ मे असुरो का प्रभाव रोगी पर स्वीकार किया जाता है। कुछ मन्त्र औषधि की, कुछ औषधिमत्ता की और कुछ जल की प्रशसा करते हैं। कौशिक सूत्र मे इन मन्त्रो की सहायता से किए जाने वाले जादू-टोनो का विशेष वर्णन है। रोगो के लक्षण तथा उनके कारण उत्पन्न शारीरिक विकारो का विशद् वर्णन यहाँ पर मिलता है। अत ये औषधिशास्त्र के इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। ज्वर के विषय मे अनेक मन्त्र दिए गए हैं। इनमे तक्म Takmon नामक ज्वर को असुर के समान वर्णित किया है। यह ज्वर मनुष्यो को पीला बना देता है तथा आग के समान तीव्र ज्वाला से लोगो को भस्मीभूत कर देता है। इसीलिए मन्त्रो मे ज्वर से प्रार्थना की गई है कि वह कही अन्यत्र गायब हो जाए। अच्छा हो कि वह मूजवत् वह्लिक तथा महावृष नामक सुदूर प्रान्तों

मे चला जाए। इसी प्रकार कास, गंडमाला, यक्ष्मा, दन्तपीड़ा आदि रोगों तथा उनकी औषधि का वर्णन सुन्दर विशेषण भाषा मे किया गया है। ये अश गीतिकाव्य की दृष्टि से सुन्दरतम हैं। डाक्टर विन्टरनिट्ज़ अथर्ववेद में उल्लिखित भावनाओ की तुलना जर्मन के जादू के गीतो से करते हैं। वे केवल गीतों मे ही साम्य प्रतिपादित नही करते हैं, अपितु विभिन्न कीटाणुओ, रोगो के कारण पिशाच एव राक्षसो के विचारो मे भी समता प्रतिपादित करते हैं। भारत मे जिन्हे गधर्व व अप्सरा कहा गया है, वे जर्मन मे Spirits and Ewes and Fairies हैं। नदी व वन उनके घर हैं। अथर्व की तरह जर्मन गीतो मे भी इन्हे घर छोड़कर पेड़ व नदी पर रहने के लिए बाध्य किया जाता था। अथर्ववेद के कुछ मन्त्रों मे कीटाणुओ का सर्वाङ्गीण विवेचन है जो कि हमारी अन्तड़ी, सिर, पसली, आँख, नाक, कान, दाँतो के सधिस्थल, पर्वतो, जगलों, पेड़-पौधों, जानवरो के शरीरो, जल आदि में रहते हैं। अथर्व मे रोगो की सख्या ८६ तक बतलाई गयी है। आशय यह है कि आयुर्वेद विषयक अथर्ववेद पर्याप्त विषय-सामग्री है।

आयुष्य सूक्त—अथर्ववेद मे स्वास्थ्य एव दीर्घ जीवन सम्बन्धी प्रार्थनाएँ को आयुष्य सूक्त कहा गया है। आयुष्य सूक्त मे प्राप्त होने वाले मन्त्रो का प्रयोग विशेषत पारिवारिक उत्सवो मे किया जाता है। जैसे शिशु के मुण्डन के समय; युवक के प्रथम क्षौरकर्म के समय, यज्ञोपवीत के समय। इन सूक्तो मे सौ शरद ऋतु पर्यन्त जीने के लिए, अनेक विधि रोगो से मुक्ति के लिए पुनः प्रार्थनाएँ की गई हैं।

पौष्टिक सूक्त—पौष्टिक सूक्तो मे गडरिए, कृषक, व्यापारी अपनी-अपनी समृद्धि के लिए प्रार्थनाएँ करते हैं। यही नहीं, इन सूक्तों में मकान बनाने के लिए, हल जोतने के लिए, बोने के लिए, शस्य की उत्पत्ति एव वृद्धि के लिए, कीड़ों के नाश के लिए मन्त्र हैं तथा इसी प्रकार के अन्यान्य मन्त्र यहाँ पर मिलते हैं। इन सूक्तो में काव्यात्मकता की दृष्टि से सर्वांगीण सुन्दरतम हैं।

शृङ्गार सूक्त—इन्हें प्रसाद सूक्त भी कहा जाता है जो कि अथर्ववेद के चतुर्थ काण्ड मे २३ सूक्त से २६ वे तक सात सूक्त अग्नि, इन्द्र, वायु, सविता, द्यावा, पृथ्वी, मरुत, भव और शर्व, मित्र और वरुण देवों को लक्ष्य कर कथित हैं। इन सूक्तो मे प्रसन्नता, आशीर्वाद, भय से सुरक्षा तथा बुराई से बचने के लिए प्रार्थनाएँ हैं।

प्रायश्चित्त सूक्त—इन सूक्तों में प्रायश्चित्त का विधान तथा विभिन्न अपराधों के निवारण मन्त्र भी हैं। विशेषतः इनमें पाप के लिए ही नहीं अपितु यज्ञ तथा उत्सवों में गलती हो जाने के लिए प्रायश्चित्त का विधान है। जाने या अनजाने का स्वीकार किया हुआ पाप, मानसिक पाप, ऋण न देना विशेषतः द्यूत ऋण का न देना, नियम विरुद्ध विवाह आदि के लिए भी प्रायश्चित्त है। नक्षत्रों के दुष्प्रभाव को दूर करने के लिए भी मन्त्र हैं। अपशकुन एवं दुस्स्वप्नों के अपसारण के लिए उनकी प्रार्थनाएँ की जाती हैं।

स्त्री कर्माणि—अथर्ववेद मे विवाह एव प्रेम का निर्देश करने वाले पति पत्नी मे अनुराग को विकसित करने की प्रार्थना सम्बन्धी मन्त्र भी हैं। इन्हें स्त्री कर्माणि या प्रेम सूक्त कहा जाता है। इन मन्त्रों मे कुछ सामाजिक व शान्तिपूर्ण तत्त्वों से भरे हुए हैं। कुछ विवाह एव शिशु प्राप्ति से सम्बन्धित हैं जो कि हानिरहित जादू मन्त्र हैं। इन मन्त्रो द्वारा वधू वर को वर वधू को प्राप्त करता है। वर-वधू के लिए शुभाकांक्षा है। गर्भिणी, भ्रूण, नवजात की रक्षार्थ भव्य प्रार्थनाएँ हैं। विशेषत १४वां काण्ड इन्ही भावनाओ से आपूर्ण है। अथर्ववेद मे कुछ इस प्रकार के मन्त्र भी हैं जिनमे सपत्नी को वश मे करने के लिए जादू-टोना का सहारा लिया जाता है। ये मन्त्र वस्तुत अंगिरा वर्ग के हैं। इनमे इन्द्रजाल और अभिशाप, वशीकरण आदि के मन्त्र हैं। अत इन्हे अभिचार सूक्त भी कहा जाता है।

राजकर्माणि सूक्त—अथर्ववेद मे कुछ सूक्त ऐसे भी हैं जिनमे राजाओ का वर्णन है, जिनके अध्ययन से तत्कालीन राजनैतिक स्थिति का चित्र मिल जाता है। इन मन्त्रो मे शत्रु विजय के लिए प्रार्थनाएँ हैं। अस्त्र-शस्त्रो का वर्णन है, राजपुरोहित का उल्लेख है। राजा के निर्वाचन का भी यही सकेत मिलता है जिनमे वरण स्वय आता है। दुन्दुभी सूक्त सुन्दरतम एक सूक्त है। अथर्ववेद का पृथ्वी सूक्त भूमि विषयक सुन्दरतम एक सूक्त है। इसके विषय में बल्देव उपाध्याय लिखते हैं—

"भाषा तथा भाव की दृष्टि से नितान्त उदात्त भाव प्रवण तथा सरस हैं। पृथ्वी की महिमा का यह वर्णन स्वातन्त्र्य के प्रेमी तथा स्वच्छन्दता के रसिक आथर्वण ऋषि का हृदयोद्‌गार है। इस शैली का प्रौढ़ काव्य, उच्च कल्पना तथा भव्य भावुकता वैदिक साहित्य मे भी अन्यत्र दुर्लभ है। इस सूक्त मे आथर्वण ऋषि से ६३ मन्त्रो मे मातृत्वरूपिणी भूमि की समग्र पार्थिव

पदार्थों की जननी तथा पोषिका के रूप मे महिमा उद्घोषित की है तथा प्रजा को समस्त बुराइयों, क्लेशों तथा अनर्थों से बचाने तथा सुख-सम्पत्ति की वृद्धि के लिए प्रार्थना की है। इस सूक्त मे मातृभूमि की बड़ी ही मनोरम कल्पना की गई है। मातृभूमि का रुचिर वर्णन देशभक्ति की प्रेरणा का मधुर विलास है। 'मातृभूमि' एक सजीव रूप मे हमारे सामने प्रस्तुत होती है—

"माताभूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः (१२।१।१२) अर्थात् मेरी माता भूमि है और मैं मातृभूमि का पुत्र हूँ, बड़ी ही उदात्त भावना का प्रेरक मन्त्र है।"[1]

याज्ञिक सूक्त—अथर्ववेद के अन्तिम भाग मे कुछ यज्ञ सम्बन्धी मन्त्र भी हैं। पहले यह वेद वेदत्रयी के अन्तर्गत न था। हो सकता है, कर्मकाण्डीय भारत-भू के ऋषियों ने यज्ञ के अभाव मे इसे वेद ही न स्वीकार किया हो। अतः इस अभाव को दूर करने के लिए इस प्रकार के मन्त्रो का दर्शन किया गया हो। ऋग्वेद के यज्ञपरक मन्त्रो के समान ही यहाँ भी कुछ मन्त्र मिल जाते हैं। विशेषतः दो आप्रीसूक्त ऋग्वेद के सदृश ही हैं। सोलहवें काण्ड का गद्यांश यजुर्वेद से मिलता-जुलता है, जिसमे जल की भी प्रशंसा की गई है। १८वें काण्ड मे मृत्यु सम्बन्धी अन्त्येष्टि क्रिया एवं पितृ-पूजा सम्बन्धी मन्त्र हैं। ऋग्वेद यम-सूक्त के मन्त्र परिवर्द्धन के साथ यहाँ भी पाए जाते हैं। २०वें काण्ड मे सोमपान के मन्त्र हैं।

कुन्ताप सूक्त—अथर्ववेद मे २०वें काण्ड में कुछ सूक्त विचित्र ही हैं जो कि कुन्ताप सूक्त के नाम से प्रसिद्ध हैं जिनमे यज्ञ सम्बन्धी-दान स्तुति, राजकुमारो के औदार्य की प्रशंसा, पहेलियाँ एवं उनके समाधान हैं।

दार्शनिक सूक्त—इन सूक्तो मे ईश्वर एवं रक्षक के रूप से प्रजापति, अन्तिम अद्वैत सत्ता तथा दार्शनिक शब्द ब्रह्म, तप, असत्, प्राण, मन आदि का वर्णन है; किन्तु ये विवरण इतने स्पष्ट नहीं हैं जितने कि परिवर्ती काल में उपनिषदों में हैं। ऋग्वेदकालीन दार्शनिक विचार परम्परा अभी तक विशिष्ट रूप मे पल्लवित नहीं हो पाई है। वास्तविक रूप मे दार्शनिकता का पल्लवन उपनिषदों में ही है। इसलिए अथर्ववेद के दार्शनिक मन्त्र मध्यकाल के प्रतिनिधि भी स्वीकार्य नहीं हैं। Deusson ने इन सूक्तो के सम्बन्ध मे लिखा है कि They stand not so much inside the great of development, as

१. वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ० २२५

rather by its side. इसलिए कहा जा सकता है कि अथर्व इन दार्शनिक विचारों का उद्भावक नहीं है अपितु उपभोक्ता है। इन मन्त्रों को दार्शनिक कहने की अपेक्षा रहस्यवादी कहना अधिक समीचीन होगा। वैसे ये मन्त्र अथर्ववेद के सबसे बाद के हैं। इनमें भी बहुत से मन्त्र व्यावहारिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए हैं। विन्टरनिट्ज ने लिखा है—

"इन सूक्तों में न तो सत्य के जिज्ञासुओं के समाधान हैं और न ही विश्व की निगूढ़ पहेलियों का समाधान है। इन सूक्तों में निहित दार्शनिकता दम्भ मात्र है। इन सूक्तों में सामान्य विचारधारा को ही रहस्यमय बना कर दिखाया गया है।"

It is not the yearing and searching for truth, for the solution of dark iddles of the Universe, which inspires the authors of these hymns, but they too, are only conjurers who pose as philosophers by misusing the well known philosophical expression in an ingenious, or rather artificial wele of foolish and non-sensical plays of fancy, in order to create an impression of the mystical, the mysterious, what at the first glance appears to us as profundity, is often in reality nothing by empty mystery mongeriny, behind which there is more nonsense than profound sense

इन सूक्तों में निरर्थकता इतनी अधिक है जिसकी कोई सीमा नहीं है किन्तु हम विन्टरनिट्ज के उपर्युक्त विचारों से असहमत हैं। क्योंकि हो सकता है कि इन सूक्तों में अपने मूल रूप में इतनी अधिक विकसित दार्शनिक मान्यताएँ न रही हों जितनी कि आज इस तर्क-प्रधान, विवेचन-प्रधान, बुद्धिवादी अनुसंधित्सु प्रवृत्ति के विद्वानों में है। आज भी हमें इस प्रकार के दार्शनिक मिल जाते हैं, जो कि आत्मा को मनुष्य में मानने के सिद्धान्त प्रवर्तन का अनुवर्तन नहीं करते हैं अपितु उस सिद्धान्त को असम्बद्ध एवं गूढ़ रूप में प्रतिपादित करते हैं। कुछ भी हो, हम इतना तो कह ही सकते हैं कि अथर्ववेदीय दार्शनिक सूक्तों में आध्यात्मिक विचारधारा के सुन्दर एवं उन्नत रूप की कल्पनाएँ निहित हैं।

*रोहित सूक्त*—कुछ ऐसे सूक्त भी हैं जिनमें अनेक स्फुट विषयों का प्रतिपादन किया गया है। ऐसे सूक्तों को रोहित सूक्त कहा गया है। रोहित (रक्त) सूक्तों में रोहित वर्ण सूर्य को Creative Principle कहा है। सूर्य ने द्यावापृथ्वी की स्वतः रचना की है एवं सबका रक्षक भी है। स्वर्गीय राजा रोहित को पृथ्वी के राजा के रूप में बताया है। वरुण, मित्र, रोहित की प्रशंसा की है। इन्द्र एवं अन्य देवों को वृषभ के रूप में प्रस्तुत किया है। अनेक प्रकार से गौ की प्रशंसा की है। गौ ही एकाकी अमरता है। यह मृत्यु के समान पूजनीय है। जो ब्राह्मण गोदान करता है, उसे सम्पूर्ण विश्व के पदार्थ मिल जाते हैं। गाय, बैल एवं ब्रह्मचारी की काफी प्रशंसा की गई है। ब्रह्म को व्रात्य कहा गया है। अन्तरिक्ष स्थानीय व्रात्य, रुद्र एवं महादेव हैं, व्रात्य सम्भवत पूर्वी जन-जाति थी। ये ब्राह्मणवाद से पृथक् थे, समूहों में घूमते थे। लड़ाकू एवं पशु-पालक थे। इनके अपने पृथक् रीति-रिवाज एवं सम्प्रदाय आदि थे। कोई भी व्रात्य ब्राह्मण धर्म में विशेष प्रकार से सम्मिलित हो सकता था। इसी प्रकार के व्रात्य की सम्भवतः यहाँ स्तुति भी है। श्री बलदेव उपाध्याय ने इस व्रात्य की समस्या के समाधान में कुछ विचार व्यक्त किये हैं—"परन्तु अथर्ववेदीय व्रात्यकाण्ड में निर्दिष्ट व्रात्य का तात्पर्य क्या है? आचार-विचार से रहित तथा नियम की शृङ्खला से न बद्ध होने वाले व्यक्ति का द्योतक होने के कारण 'व्रात्य' शब्द का लाक्षणिक अर्थ हुआ—'ब्रह्म', जो जगत् के नियमो की शृङ्खला मे न बद्ध है और न जो कार्य-कारण की भावना से ही ओतप्रोत है। इसी ब्रह्म के स्वरूप का तथा उससे उत्पन्न सृष्टि क्रम का व्यवस्थित वर्णन इस काण्ड में विस्तार के साथ किया गया है।"[1]

अथर्ववेदीय विषय-सामग्री का हमने यथासम्भव परिचय देने का प्रयास किया है। कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि यह संहिता लौकिक-पारलौकिक दोनों ही प्रकार की सामग्री का संग्रह-ग्रन्थ है।

*पैप्पलाद शाखा*—अथर्ववेद की एक अन्य शाखा है जिसका नाम है पैप्पलाद। यह शाखा १८७० मे काश्मीर से महाराज रणवीरसिंह को अपने पुस्तकालय में शारदा लिपि मे भोजपत्र पर लिखी मिली थी। उन्होने इसे Pro. Roth को भेंट किया था। रॉथ की मृत्यु के उपरान्त यह १८९५ में ट्यूबिंजन यूनिवर्सिटी को प्राप्त हुई। वहाँ के अधिकारियो ने इसकी १९०१ मे अमेरिका से

१. वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ० २२८

फोटो सहित प्रकाशित किया है। इसके अन्य संस्करण भी मिले हैं किन्तु पैप्पलाद शाखा एव शौनक शाखा मे कोई मौलिक अन्तर नहीं है। केवल ब्राह्मण पाठ तथा अभिचार कर्म अवश्य अधिक है। इसलिए यह विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं है।

**अथर्ववेद का रचनाकाल**—अथर्ववेद का रचनाकाल ऋग्वेद की अपेक्षा परवर्ती है। यद्यपि अथर्ववेद के भाषा, छन्द वही ऋग्वेदीय हैं तथापि अथर्ववेद की भाषा मे विकास के लक्षण लक्षित होते हैं। इसी विकास के कारण अथर्ववेद की भाषा व छन्द यह सिद्ध कर देते हैं कि यह रचना अवान्तर कालीन है। यही नहीं अथर्ववेद मे वर्णित भौगोलिक एव सांस्कृतिक दशा से भी यह ज्ञात होता है कि यह ऋग्वेदकालीन अवस्था के बाद के चित्र हैं। क्योंकि इस वेद के समय मे आर्य दक्षिण-पूर्व मे आकर गगा के प्रदेश के निवासी बन गए थे। चीता (Tiger) जो कि पूर्वी देश का प्राणी है, ऋग्वेद मे वर्णित नहीं है, अथर्ववेद मे वर्णित है। वर्णित ही नहीं है, व्याघ्रचर्म को राजा धारण करता है। इसका भी उल्लेख यहाँ मिलता है। चातुर्वर्ण्य का ऋग्वेद मे केवल एक मन्त्र में ही उल्लेख मिलता है परन्तु अथर्व मे ब्राह्मण की शक्ति तथा गरिमा विशिष्ट रूप से गाई गई है। ब्राह्मण इस वेद मे भूदेव पद पर आसीन हो गए हैं। ब्राह्मणों ने अपने ज्ञान व कला-कौशल से समाज मे आदरणीय स्थान बना लिया था।

अथर्ववेद मे प्राप्त वैदिक देवताओं का व्यक्तित्व भी अथर्व को परवर्ती सिद्ध कर देता है। अथर्व में इन्द्र, अग्नि आदि देव ऋग्वेदीय ही हैं, किन्तु उसका पुराना व्यक्तित्व समाप्त हो गया है। अब तो उनके स्वरूप एव कार्य पूर्णतः भिन्न मिलते हैं। ऋग्वेदीय देव प्रकृति के प्रतीक थे, किन्तु अथर्ववेद मे यह प्रतीकात्मकता समाप्तप्राय है। अब तो वे देव-विशेष के रूप मे राक्षसो, शत्रुओ के सहार एव रोगो के विनाश के लिए आहूत किए जाते हैं। अथर्ववेद के आध्यात्मवादी एव सृष्टि सम्बन्धी सूक्त भी उसे परवर्ती सिद्ध करते हैं क्योंकि इन सूक्तो मे निहित दार्शनिकता लगभग उपनिषद् कालीन-सी है। विन्टरनित्ज़ ने लिखा है कि—

We already find in these hymans as a fairly developed philosophical terminology and a development of Pantheism standing on a level with the philosophy of upnishadas.

Or

*State the main point of difference between the language a[nd] subject-matter of the Rigveda and there of the Atharvaveda.*
—आ० वि० वि० १

Or

*Only both works (the Rigveda and the Atharvaveda) togeth[er] give us a real idea of the oldest poetry of the Aryan India[ns]. Examine this statement, giving a comparative note on t[he] subject-matter of both the Vedas.*

Or

*"Atharvaveda is inferior to the other Vedas and it is n[ot] of the same antiquity as the Rigveda." Critically examine t[his] statement.*

Or

"अथर्ववेद अन्य वेदों की अपेक्षा कम महत्त्व का है और न यह उत[ना] प्राचीन है जितना ऋग्वेद।" इस उक्ति की समीक्षा कीजिए।
—आ० वि० वि० १९६

उत्तर—दोनों वेदों का तुलनात्मक अध्ययन करते समय हम उनके नाम समय, स्थान, विचार आदि सभी पर दृष्टिनिक्षेप करना आवश्यक समझ[ते] हैं। अथर्ववेद शब्द का अर्थ है, The Knowledge of Magic Formulae मौलिक रूप से अथर्वन् शब्द का अर्थ है—Fire Priest. अवेस्ता का Fir[e] People इस अथर्वन शब्द के समकक्ष है; वहाँ भी अग्नि पुरोहित ही अग्नि पूजक बने हैं। भारतीय साहित्य में उपलब्ध अथर्वाङ्गिरस शब्द इस वेद का प्राचीनतम अभिधान है, जिसका अर्थ है, अथर्वों तथा अङ्गिराओ का वेद। अंगि[-] राजन भी अथर्वों के वर्ग के ही हैं। दोनों के अभिचार मन्त्रों में भी विशेष अन्तर नही है। अथर्वन् शब्द का अर्थ है, रोगनाशक इसलिए अथर्वन् ऋषियो मे मन्त्र रोगनाशक हैं जबकि आङ्गीरस मे शत्रुओं, प्रतिद्वन्द्वियों एव दुष्ट माया-वियो के प्रति अभिशाप मन्त्र है। अतः अथर्ववेद उक्त दोनो प्रकार की अभि-चार विधि की ओर संकेत करता है। ऋग्वेद शब्द का तात्पर्य है, ऋचाओं का वेद। ऋचा से अभिप्राय है, गेय पद्य का। ऋग्वेद संहिता मे ऋचाओ मे ज्ञान राशि सम्भृत है जो कि वेदों को लक्ष्य कर कही गई है। अथर्व मे अभिचार एवं रोगनाशक मन्त्र हैं।

ऋग्वेद की रचना प्राचीनतम समय में हुई थी जबकि अथर्ववेद अपेक्षाकृत अर्वाचीन है। इसलिए दोनो वेदों की विषय-सामग्री में भी मौलिक अन्तर मिलता है। ऋग्वेद की अधिकांश रचना सरस्वती नदी के तट पर हुई थी जबकि अथर्ववेद की रचना गंगा के मैदान में।

विद्वानों की एक विचारधारा इन दोनो मे सम्बन्ध स्थापित करने के लिए यह भी विश्वास व्यक्त करती है कि ऋग्वेद के विस्मृत मन्त्रो का संग्रह ही अथर्ववेद है जो कि परवर्तीकाल मे यथासम्भव उपायो से संग्रह किया गया है। विद्वानो का कहना है इसीलिए वेदत्रयी मे इसका नाम नही है। वैसे तो कुछ विद्वान् विषय-वस्तु के आधार पर इन दोनो वेदो का परस्पर सम्बन्ध स्थापित करते हुए अथर्व को ऋग्वेद का पूरक वेद मानते हैं। बलदेव उपाध्याय लिखते हैं कि—

"काव्य की दृष्टि से अथर्ववेद ऋग्वेद का पूरक माना जाता है। ऋग्वेद को प्राचीनतम काव्य का निदर्शन मानना एक स्वतःसिद्ध सिद्धान्त है, परन्तु वह गौरव अथर्ववेद को भी प्रदान करना चाहिए। ऋग्वेद अधिकांश मे आधि-दैविक तथा अध्यात्म-विषयक मनोरम मन्त्रों का एक चारु समुच्चय है, तो अथर्ववेद आधिभौतिक विषयों पर रचित मन्त्रो का एक प्रशंसनीय संग्रह है। काव्य की दृष्टि से दोनो ही उदात्त भावना से मण्डित तथा मानव हृदय को स्पर्श करने वाले सुचारु गीतिकाव्यों का वृहत् संग्रह है। दोनो मिलकर आर्यों के प्राचीनतम काव्य-कला के रुचिर दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं, यह संशयहीन सिद्धान्त है।"[1]

अब हम संक्षेप मे दोनों ही वेदों की विषय-सामग्री का पर्यालोचन करेंगे। अथर्ववेद की समग्र विषय-वस्तु को हम अध्यात्म विषयक, अधिभूत विषयक, अधिदैव विषयक इन तीन विभागो मे विभक्त कर सकते हैं। अध्यात्म विषय-वस्तु की दृष्टि से इस वेद मे ब्रह्म, परमात्मा, चारों आश्रम, चारो वर्णों का उल्लेख है तो अधिभूतपरक वर्णन मे राजा, राज्य शासन, युद्ध, शत्रु वाहन, राज्याभिषेक आदि हैं। आधिदैविक दृष्टि से नाना देवता एवं नाना यज्ञो का वर्णन है। ऋग्वेद मे भी इन तत्त्वो का सर्वथा अभाव हो, यह कदापि स्वीकार्य नहीं है। वैसे अथर्ववेद मे कुछ सूक्त रोग, रोग लक्षण, चिकित्सा, जड़ी-बूटी

१. वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ० २३०।

निदर्शन करता है। हम ऊपर दोनों वेदों की विषय-सामग्री का अध्ययन कर चुके हैं जिससे उनका पारस्परिक अन्तर स्पष्ट हो जाता है। एक बात यहाँ विशेष उल्लेखनीय यह है कि ऋग्वेद में मन्त्रों की उपयोगिता वैदिक यज्ञों के लिए ही है जबकि अथर्ववेद में मन्त्र को अत्यधिक महत्त्व प्राप्त हो गया है। मन्त्र में स्वयं शक्ति है। दूसरे शब्दों में कहें तो मन्त्र आत्मा में निहित शक्ति के उद्भावन की कुंजी है। अतः उनका प्रयोग वैदिक यज्ञ के आश्रय के बिना स्वातन्त्र्येण भी किया जा सकता है। अथर्ववेद की यह एक मौलिकता है।

दूसरी विशेषता अथर्ववेद में यह भी मिलती है कि यहाँ भावनाएँ पर्याप्त विकसित हो चुकी हैं। इसीलिए कुछ विद्वान् अथर्ववेद में यज्ञ का स्थान नगण्य प्रतिपादित करते हैं, किन्तु मेरे विचार से अथर्व में यज्ञ का विधान नगण्य अथवा उपेक्षणीय है, यह कदापि स्वीकार्य नहीं, क्योंकि ऋग्वेदीय यज्ञ-याग का यहाँ भी विधान दिया गया है परन्तु यज्ञ का सम्बन्ध अभिचार के साथ विशेषतः सम्बद्ध कर दिया गया है। इन यज्ञों का उद्देश्य जहाँ एक ओर स्वर्गोपलब्धी था वहीं दूसरी ओर सांसारिक अभ्युदय तथा शत्रु पराजय भी था। यहाँ यज्ञ एकमात्र शक्ति का आश्रय बन गया था। इस प्रकार अथर्व में यज्ञ की भावना में स्वल्प विकास है, भौतिक माध्यम से मानव स्तर पर पहुंच गया है। एक बात और अथर्व में यह है कि यहाँ स्वल्प व्ययसाध्य यज्ञादि का सम्पादन है जब कि ऋग्वैदिक यज्ञ व्ययसाध्य उच्च वर्ग के लिए ही थे। आशय यह है कि अथर्ववेद में हम यज्ञ के स्वरूप, विधान तथा मान्यता आदि में पूर्व वेदों की अपेक्षा पर्याप्त मौलिक अन्तर एवं विकास प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार विवेचन करने पर हम इस निष्कर्ष पर सहज ही पहुँच जाते हैं कि अथर्ववेद में भौतिक तत्वों का प्राधान्य है, जबकि ऋग्वेद में आध्यात्मिक एवं आधिदैविक। यदि दोनों वेदों की विषय-सामग्री का एक साथ अध्ययन करें तो दोनों ही परस्पर पूरक प्रतीत होते हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि अथर्ववेद के विचारों का धरातल सामान्य जनजीवन है तो ऋग्वेद का विशिष्ट जन जीवन। ऋग्वेदीय आचारों-विचारों का धरातल नितान्त उच्चस्तरीय, संस्कृत, शिष्ट एवं श्लाघनीय है जबकि अथर्ववेद प्राकृतजन के विश्वासों, आचारों-विचारों का, रहन-सहन का, अलौकिक शक्ति में दृढ़-विश्वास का, भूत-प्रेत आदि अदृश्य शक्तियों पर पूर्ण आस्था का एक कोशग्रन्थ है। डा० राधाकृष्णन् ने लिखा है कि "अथर्ववेद को एक दीर्घकाल तक वेद के रूप में मान्यता प्राप्त नहीं हुई

यद्यपि हमारे प्रयोजन के लिए ऋग्वेद के बाद इसी का महत्त्व है क्योंकि ऋग्वेद के ही समान यह भी स्वतन्त्र विषयों का ऐतिहासिक संकलन है। यह वेद बिल्कुल एक भिन्न ही भाव से ओत-प्रोत है, जो परवर्ती युग की विचारधारा की उपज है। यह उस समझौते के भाव की देन है जिसे वैदिक आर्यों ने इस देश के आदिवासियों द्वारा पूजे जाने वाले नये देवी-देवताओं के साथ समन्वय करने के विचार से अंगीकार कर लिया था।"[1]

कुल मिलाकर हम भी बलदेव उपाध्याय के शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि "ऋग्वेद तथा अथर्व के मन्त्र दोनों मिलकर वैदिक युग के धार्मिक विधि-विधान का स्वरूप प्रस्तुत करने में समर्थ हैं। प्राकृतजन तथा संस्कृतजन—दोनों जनों का विचार धरातल इन ग्रन्थों में स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है। अतएव ये दोनों एक-दूसरे के परस्पर पूरक माने जा सकते हैं।"[2]

---

१. भारतीय दर्शन, पृ० ५८
२. वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ० २

कारण मांगलिक एवं आकस्मिक परिवर्तन ही सम्भव है। सम्भव है कि संगीत की दृष्टि से कुछ शब्दों का अंग-भंग करके उन्हें आवश्यकता के अनुरूप गठित किया गया हो। यही कारण है कि सामवेद में पाठत्व की ओर ध्यान न देकर गेयतत्त्व की ओर ही अधिक ध्यान दिया गया है। सामवेद संहिता की परम्परा में जो विद्वान् उद्गाता पुरोहित होने की कामना से शिक्षा लेना चाहता था, उसे सर्वप्रथम आर्चिक की सहायता से संगीत की शिक्षा में दीक्षित होना पड़ता था। इसके पश्चात् उसे कुछ उत्तरार्चिक के स्तोत्रों को कठस्थ करना अनिवार्य होता था। यह पद्धति उसे उद्गाता पुरोहित के पद पर प्रतिष्ठित कर देती थी।

सामवेद संहिता के पूर्वार्चिक में ६५० ऋचाएँ (गीत) हैं, जिनमें याज्ञिक अवसर पर प्रयुक्त होने वाले विभिन्न साम संगृहीत हैं। साम शब्द का वास्तविक अर्थ स्वर या गीत है, किन्तु ऋक् मन्त्रों के ऊपर गाए जाने वाले गीत ही वस्तुतः साम शब्द के द्वारा अभिहित होते हैं। पूर्वार्चिक के प्रथम प्रपाठक में अग्नि विषयक ऋक् मन्त्रों का संग्रह है, अतः इसे आग्नेय काण्ड कहते हैं। द्वितीय से चतुर्थ प्रपाठक तक ऐन्द्र पर्व कहलाता है, क्योंकि यहाँ इन्द्र की स्तुतियाँ हैं। पञ्चम में सोमपरक स्तुतियाँ हैं; अतः इसे पवमान पर्व कहा जाता है। षष्ठ प्रपाठक आरण्यक पर्व के नाम से प्रसिद्ध है।

भारतीय विद्वानों के अनुसार सामवेद की कभी एक सहस्र शाखाएँ रही हैं। पुराण भी सामवेद की एक सहस्र शाखाओं का उल्लेख करते हैं। पतंजलि का भी "सहस्त्रवर्त्मा सामवेद" वाक्य सुपरिचित ही है। महर्षि शौनक ने चरण-व्यूह परिशिष्ट मे इस विषय का निर्देश करते हुए लिखा है कि सामवेद के १००० भेद होते हैं जिनमे से अनेक अनध्याय के समय पढे जाने के कारण इन्द्र के द्वारा अपने वज्र-प्रहार से नष्ट कर दिये गए "सामवेदस्य किल सहस्र भेदाः भवन्ति एष अनध्यायेषु अधीयानः ते शतक्रतु वज्रेणाभिहताः। आज भी अनेक ग्रन्थों के पर्यालोचन करने पर तेरह शाखाओ के नाम देखने को मिलते हैं, साथ ही उन तेरह आचार्यों के नाम भी, किन्तु वर्तमान मे केवल तीन आचार्यों की तीन शाखाएँ ही प्राप्त होती हैं—(१) कौथमीय, (२) राणायनीय, (३) जैमिनीय। वैसे तो पुराणो मे उत्तर-पूर्व के प्रदेशो को सामगान का स्थान बताया गया है, किन्तु व्यवहारत. आज ठीक इसके विपरीत दक्षिण तथा पश्चिम भारत मे इन शाखाओ का प्रचुर प्रचार है।

कौथुम शाखा इन तीनो शाखाओ मे सर्वाधिक उपादेय एव प्रसिद्ध है। इस शाखा के दो भाग हैं :—

(१) पूर्वाचिक, (२) उत्तराचिक। इन दोनों भागो मे केवल उन्ही ऋचाओ का वर्णन किया गया है जो ऋग्वेद मे उपलब्ध होती हैं। दोनो भागो की समस्त ऋचाएँ १८१० हैं। इनमे से कुछ की पौन-पुण्येन आवृत्ति हुई है। इस प्रकार की ऋचाओ को पृथक् करने पर मौलिक ऋचाओ की सख्या १५४६ शेप रह जाती है और इनमे से ७५ को छोड कर समस्त ऋचायें ऋग्वेद सहिता के अष्टम एव नवम मण्डल से ली गई हैं। प्रस्तुत ऋचाओ की रचना अधिकांशत गायत्री एवं प्रगाथ (गायत्री जगती का मिश्रित स्वर) छन्द मे हुई है। यह सर्वथा सत्य है कि इन छन्दों की रचना मे आने वाले पद्य और गीत अपने मूल रूप मे गान किए जाने के उद्देश्य से ही बनाये गये हैं। इसीलिए सामवेद मे प्राप्त ऋग्वेदीय मन्त्रो का उच्चारण भी कुछ भिन्न हो गया है। इस वेद का मुख्य वस्तु स्वर है जोकि उद्गाता नामक ऋत्विज् के लिए आवश्यक तत्व है। ऊपर निर्दिष्ट ऋग्वेद मे उपलब्ध न होने वाली ७५ ऋचाओं मे से कतिपय ऋचाएँ अन्य सहिताओ की हैं। कुछ धर्म-ग्रन्थो की है एव कुछ की उपलब्धि पाठान्तर के साथ ऋग्वेद मे ही हो जाती है। थियडर आफ्रेक्ट (Theodor Aufrecht) का कथन है कि सम्भवत. यह पाठान्तर स्वेच्छाकृत है। इसका

कारण सांगीतिक एवं आकस्मिक परिवर्तन ही सम्भव है। सम्भव है कि संगीत की दृष्टि से कुछ शब्दों का अंग-भंग करके उन्हें आवश्यकता के अनुरूप गठित किया गया हो। यही कारण है कि सामवेद में पाठत्व की ओर ध्यान न देकर गेयतत्त्व की ओर ही अधिक ध्यान दिया गया है। सामवेद संहिता की परम्परा में जो विद्वान् उद्गाता पुरोहित होने की कामना से शिक्षा लेना चाहता था, उसे सर्वप्रथम आर्चिक की सहायता से संगीत की शिक्षा में दीक्षित होना पड़ता था। इसके पश्चात् उसे कुछ उत्तरार्चिक के स्तोत्रों को कंठस्थ करना अनिवार्य होता था। यह पद्धति उसे उद्गाता पुरोहित के पद पर प्रतिष्ठित कर देती थी।

सामवेद संहिता के पूर्वार्चिक में ६५० ऋचाएँ (गीत) हैं, जिनमें याज्ञिक अवसर पर प्रयुक्त होने वाले विभिन्न साम संगृहीत हैं। साम शब्द का वास्तविक अर्थ स्वर या गीत है, किन्तु ऋक् मन्त्रों के ऊपर गाए जाने वाले गीत ही वस्तुतः साम शब्द के द्वारा अभिहित होते हैं। पूर्वार्चिक के प्रथम प्रपाठक में अग्नि विषयक ऋक् मन्त्रों का संग्रह है, अतः इसे आग्नेय काण्ड कहते हैं। द्वितीय से चतुर्थ प्रपाठक तक ऐन्द्र पर्व कहलाता है, क्योंकि यहाँ इन्द्र की स्तुतियाँ हैं। पञ्चम में सोमपरक स्तुतियाँ हैं, अतः इसे पवमान पर्व कहा जाता है। षष्ठ प्रपाठक आरण्यक पर्व के नाम से प्रसिद्ध है।

समस्त मन्त्रों की संख्या १२२५ है। उत्तरार्चिक के सम्बन्ध में विन्टरनिट्ज़ का कहना है कि—

We may compare the *Uttararchika to a song book* in which the complete text of the songs in given, while it is presumed that the melodies are already known.

पूर्वार्चिक के बाद मे ही उत्तरार्चिक की रचना हुई है; क्योंकि आर्चिक में अनेक योनियाँ (ऋचाएँ) एव स्वर हैं जो कि उत्तरार्चिक के (Chants) मे नहीं हैं तथा उत्तरार्चिक में कुछ स्तोत्र ऐसे भी हैं जिनके स्वर के विषय मे आर्चिक शिक्षा नही देता। अतः विन्टरनिट्ज़ के शब्दों मे Uttararchika is essentail completion of the Aarchika.

वास्तव मे "गीतिषु सामाख्या" इस जैमिनी वाक्य के अनुसार गीति ही साम है; और गीति के प्राण हैं स्वर, गीतो का प्रणयन भी सामवेद की ऋचाओ पर आधारित था "ऋचि अध्युढम सामगीयते" ऋचाओ को इसी कारण सामगान की योनि या मूलाधार माना जा सकता है। इसे इस प्रकार समझा जा सकता है जिस प्रकार सूर एव तुलसी के पदो को सगीत के रागो में गाया जाता है। ऋचाएँ पदो के समान हैं और उनके साम रागों के तुल्य। सामवेद की ऋचाओ को सगीत में परिणत करने के लिए कुछ पद जोड़े जाते हैं जिन्हे स्तोभ कहा जाता है, यथा—हाऊ, होई, औ, हो, ओह इत्यादि। ये स्तोभ कुछ इस प्रकार के अक्षर एवं पद हैं जैसे आलाप के लिए गेय पदों मे राग-रागिनी गान करने वाले गायक जोड़ देते हैं। डा० पाण्डेय एव जोशी ने लिखा है कि—अक्षरो के सम्पूर्ण आयाम, अक्षरो की पुनरावृत्तियाँ और अक्षरों की मिथ्या कल्पनाओं के साथ-साथ 'औहोवा', 'हाउआ' आदि वे शब्द जिन्हें स्तोभ कहा जाता है, साम विकार के नाम से प्रसिद्ध हैं, जो ६ प्रकार के होते हैं—

(१) विकार, (२) विश्लेषण, (३) विकर्षण, (४) अभ्यास, (५) विराम (६) स्तोभ। सामगान के भी पाँच भाग होते हैं—

(१) प्रस्ताव—इसका गान प्रस्तोता करता है।
(२) उद्गीथ—इसका गान उद्गाता नामक ऋत्विज् करता है।
(३) प्रतिहार—इसका गान प्रतिहार नामक ऋत्विज् करता है।
(४) उपद्रव—इसका गान भी उद्गाता नामक

(५) निधन—इसका गान प्रस्तोता, उद्गाता एवं प्रतिहर्ता नामक तीनों ऋत्विज मिलकर करते हैं।

सामवेद संहिता में स्वरों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। स्वर उच्चारण की दृष्टि से उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित तीन प्रकार के हैं और संगीत की दृष्टि से सात प्रकार के हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं—मध्यम, गान्धार ऋषभ, षड्ज, निषाद, धैवत एवं पञ्चम। इस संहिता में वेद मन्त्रों के ऊपर एक, दो-तीन आदि के साथ र के अंकों द्वारा संगीत के स्वरों का निर्देश किया जाता है।

का उच्चारण यदि 'हाऊ' और 'राहि' है तो राणायनीय 'हावु' तथा 'राइ' करते हैं। राणायनीयों की ही एक प्रशाखा शोत्यमुग्री है। पतंजलि के अनुसार शोत्यमुग्री लोग एकार तथा ओकार का ह्रस्व उच्चारण किया करते हैं।

जैमिनीय शाखा—इस शाखा में कौथुम शाखा के १८२ मन्त्र कम हैं। इसके कुल मन्त्रों की संख्या १६८७ है। कौथुम शाखा में साम गानों की सख्या २७८२ है जबकि जैमिनीय शाखा में ३६८१ है। जैमिनीय शाखा के ब्राह्मण उपनिषद् श्रौत-गृह्य सूत्र आदि सभी सम्बद्ध ग्रन्थ आज मिल जाते हैं। जैमिनीय शाखा की एक प्रशाखा तवलकार भी है; जिसकी उपनिषद् केनोपनिषद् है, उसे कभी-कभी तवलकारोपनिषद् भी कह लिया जाता है। ये तवलकार जैमिनीय के शिष्य थे, ऐसा कहा जाता है।

चरणव्यूह के आधार पर समग्र सामों की संख्या आठ सहस्र थी और गायनों की सख्या चौदह हजार आठ सौ बीस थी।

निष्कर्ष रूप में इस सहिता का मूल्यांकन करते हुए हम यह कह सकते हैं कि सामवेद सहिता यज्ञ तथा इन्द्रजाल जादू की दृष्टि से भारतीय इतिहास में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। सगीत की दृष्टि से गीति तत्त्व का उद्गम स्थान ही है; परन्तु साहित्यिक दृष्टि से इसका कोई विशेष महत्व नही है।

## षष्ठ अध्याय

# सामान्य प्रश्न

प्रश्न—वैदिक एवं लौकिक संस्कृत साहित्य का तुलनात्मक मूल्यांकन कीजिये।

What are the characteristic features of Vedic literature which distinguish it from classical Sanskrit literature ?

—आ० वि० वि० ५२

Or

Point out the fundamental difference between the nature of the Vedic and the classical Sanskrit litearature.

—आ० वि० वि० ५७

Or

Write a short essay on the subtle difference between the Vedika and classical Sanskrit. —आ० वि० वि० ६५

उत्तर—संस्कृत साहित्य अपनी महत्ता एव सर्वाङ्गीणतादि करण के श्व के सर्वश्रेष्ठ साहित्यों मे से एक है। इस साहित्य मे मानव जीवनोपयोगी कोई ऐसा क्षेत्र नही है जिसमे भारतीय मनीषियो की मनीषा ने अपनी कुशलता न दिखलाई हो। आध्यात्मिकता से लेकर विलासिता तक का साहित्य इसमे समृत है। एक ओर जहाँ वेद एव उपनिषद् हैं वहाँ दूसरी ओर कामशास्त्र जैसे ग्रन्थ भी हैं।

इस साहित्य को दो धाराओं में विभक्त किया गया है। एक प्राचीन धारा वैदिक साहित्य के नाम से तथा दूसरी अपेक्षाकृत अर्वाचीन धारा लौकिक साहित्य की धारा के नाम से अभिहित की जा सकती है। वैदिक साहित्य के सृजन के अनन्तर जो नवीन साहित्य निर्मित हुआ, उसमें लौकिकता का अधिक समावेश होने के कारण उस साहित्य का नाम लौकिक साहित्य हुआ। इस प्रकार वैदिक एवं लौकिक संस्कृत साहित्य इस समग्र साहित्य के अभिधान हुए। तुलनात्मक अध्ययन करने पर भाव, भाषा आदि की दृष्टि से परस्पर पर्याप्त वैषम्य होने पर भी दोनों साहित्यों का अपना-अपना महत्त्व है। हम दोनों ही साहित्यों का पारस्परिक अन्तर इस प्रकार देख सकते हैं—

**विषय-भेद की दृष्टि से**—दोनों ही साहित्यों के तुलनात्मक अध्ययन के अनन्तर हम इस निष्कर्ष पर बिना किसी सन्देह के पहुंचते हैं कि वैदिक साहित्य युगानुरूप धर्म की प्रधानता से मण्डित है। यह साहित्य देवताओं को लक्ष्य बना कर उनके सन्तोष के लिए विविध यज्ञ-यागों में ही संलग्न रहा, इसमें प्रारम्भ में बहुदेववाद का प्राधान्य रहा, फिर क्रमश एकेश्वरवाद तथा सर्वेश्वरवाद की प्रतिष्ठा हुई। इस प्रकार से वैदिक साहित्य धर्म प्रधान, देवता प्रधान, कर्म-काण्ड प्रधान साहित्य के सृजन मे ही लगा रहा, तो दूसरी ओर लौकिक साहित्य जिसका विकास सर्वतोगामी है, उसने जन-जीवन को अपना कर समस्त साहित्य ऐहिक विकास के लिए निर्मित किया। यह साहित्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप पुरुषार्थ चतुष्टय के रूप मे विकसित होते हुए भी अर्थ एव काम की ओर विशेष उन्मुख रहा। औपनिषदिक प्रभाव से प्रभावित हो, इस साहित्य मे नैतिकता का भी स्थान विशेष रहा। इस काल मे इस साहित्य में पूर्ववर्ती साहित्य के देव इन्द्र, अग्नि आदि गौण होने लगे तथा नवीन देव प्रजापति, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, कुबेर, सरस्वती, लक्ष्मी आदि की परिकल्पना की जाने लगी और उन्हे प्राधान्य भी दिया गया। यही नही, इस लौकिक साहित्य मे एक विशेष बात यह भी हुई कि भक्ति के क्षेत्र में अवतारवाद की प्रतिष्ठा हुई जिसने मानव की भावनाओं को विशेष रूप से प्रभावित किया।

वैदिक साहित्य के समाज मे आर्य एवं दस्यु दो ही वर्ग थे; किन्तु लौकिक साहित्य मे वर्णाश्रम धर्म की पूर्ण प्रतिष्ठा हो जाती है। तदनुरूप सामाजिक जटिलताओं का भी उदय होता है। वैदिक सरलता, स्वाभाविकता का लोप ... भावनाएँ पूर्णतः परिवर्तित हो जाती हैं। जहाँ वैदिक

ऋषि यत्र-तत्र सर्वतोभावेन विश्व की कल्याण-कामना किया करते थे वहाँ इस समाज मे स्वार्थ-बुद्धि का बोलवाला होने लगा। लौकिक साहित्य मे समाज नियन्त्रण सामन्तवाद के आधार पर होता है। हम निष्कर्ष रूप में यह कह सकते हैं कि वैदिक साहित्य पारलौकिक भावभूमि की प्रतिष्ठा करता है तो दूसरा साहित्य लौकिक आधारशिला पर खड़े होने के कारण लौकिक भाव एवं भावनाओ का प्रतिष्ठापक है।

भाषागत—भाषागत अन्तर की समीक्षा करने पर हम यह कह सकते हैं कि वैदिक साहित्य पाणिनीय युग से पूर्व का है; इसलिए उसमे व्याकरण की इतनी जटिलता नही है जितनी कि परवर्ती भाषा मे मिलती है। वैदिक साहित्य की अपेक्षा लौकिक साहित्य मे नवीन शब्दो का सृजन होता है, वैदिक लेट् लकार इस साहित्य से पूर्णतः बहिष्कृत है। विभिन्न प्रकार की क्रियाएँ लुप्त हो जाती हैं। इस लौकिक साहित्य मे अपाणिनीय भाषा को सदोष माना जाता है। अन्तत यही कहा जा सकता है कि वैदिक काल मे संस्कृत भाषा व्याकरण के जटिल-जाल से मुक्त स्वच्छन्द रूप मे प्रवाहित होती थी, किन्तु इस काल की भाषा को व्याकरण के नियमो मे कसकर बाँध दिया गया। वैदिक भाषा मे जहाँ अलकारो की संख्या न्यूनतम तीन-चार ही है वहाँ लौकिक भाषा मे अलकारों की संख्या दो सौ से अधिक हो जाती है; फलस्वरूप यह साहित्य अलकारों की स्वर्णिम छटा से आलोकित है। वैदिक भाषा मे छन्दो की संख्या न्यून है तथा मात्रिक छन्दो का ही प्राधान्य है वहाँ लौकिक संस्कृत मे अनेक नवीन एव भिन्न छन्दो की उद्भावना की गई है। बाह्याकार की दृष्टि से विचार करने पर हम दोनो ही भाषाओ के शब्द निर्माण की प्रक्रिया पर यहाँ सकेत करेंगे—

अ—वैदिक संस्कृत मे अकारान्त पुल्लिंग शब्दो का प्रथमा के बहुवचन का रूप असस् और अस् दो प्रत्ययो से बनता है, जैसे—देवासः, देवाः, लेकिन लौकिक संस्कृत मे द्वितीय देवाः ब्राह्मणाः इस रूप की प्रधानता है।

ब—इसी प्रकार वैदिक संस्कृत अकारान्त शब्दो मे तृतीया के बहुवचन मे दो रूप देवेभिः देवैः मिलते हैं, किन्तु लौकिक संस्कृत मे सिर्फ देवैः रूप का ही प्रयोग किया जाता है।

स—वैदिक संस्कृत मे अकारान्त शब्दो का प्रथमा द्विवचन आ प्रत्यय के योग से और ईकारान्त स्त्रीलिंग शब्दो का तृतीया एकवचन 'ई' प्रत्यय के योग से बनता है, उदाहरणार्थ—अश्विना तथा सुष्टुती; परन्तु लौकिक संस्कृत

इस साहित्य को दो धाराओ मे विभक्त किया गया है। एक प्राचीन धारा वैदिक साहित्य के नाम से तथा दूसरी अपेक्षाकृत अर्वाचीन धारा लौकिक साहित्य की धारा के नाम से अभिहित की जा सकती है। वैदिक साहित्य के सृजन के अनन्तर जो नवीन साहित्य निर्मित हुआ, उसमे लौकिकता का अधिक समावेश होने के कारण उस साहित्य का नाम लौकिक साहित्य हुआ। इस प्रकार वैदिक एव लौकिक संस्कृत साहित्य इस समग्र साहित्य के अभिधान हुए। तुलनात्मक अध्ययन करने पर भाव, भाषा आदि की दृष्टि से परस्पर पर्याप्त वैषम्य होने पर भी दोनो साहित्यो का अपना-अपना महत्त्व है। हम दोनो ही साहित्यो का पारस्परिक अन्तर इस प्रकार देख सकते हैं—

विषय-भेद की दृष्टि से—दोनो ही साहित्यो के तुलनात्मक अध्ययन के अनन्तर हम इस निष्कर्ष पर बिना किसी सन्देह के पहुँचते हैं कि वैदिक साहित्य युगानुरूप धर्म की प्रधानता से मण्डित है। यह साहित्य देवताओ को लक्ष्य बना कर उनके सन्तोष के लिए विविध यज्ञ-यागो मे ही सलग्न रहा, इसमे प्रारम्भ मे बहुदेववाद का प्राधान्य रहा, फिर क्रमश एकेश्वरवाद तथा सर्वेश्वरवाद की प्रतिष्ठा हुई। इस प्रकार से वैदिक साहित्य धर्म प्रधान, देवता प्रधान, कर्म-काण्ड प्रधान साहित्य के सृजन मे ही लगा रहा, तो दूसरी ओर लौकिक साहित्य जिसका विकास सर्वतोगामी है, उसने जन-जीवन को अपना कर समस्त साहित्य ऐहिक विकास के लिए निर्मित किया। यह साहित्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप पुरुषार्थ चतुष्टय के रूप मे विकसित होते हुए भी अर्थ एव काम की ओर विशेष उन्मुख रहा। औपनिषदिक प्रभाव से प्रभावित हो, इस साहित्य मे नैतिकता का भी स्थान विशेष रहा। इस काल मे इस साहित्य मे पूर्ववर्ती साहित्य के देव इन्द्र, अग्नि आदि गौण होने लगे तथा नवीन देव प्रजापति, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, कुबेर, सरस्वती, लक्ष्मी आदि की परिकल्पना की जाने लगी और उन्हे प्राधान्य भी दिया गया। यही नहीं, इस लौकिक साहित्य मे एक विशेष बात यह भी हुई कि भक्ति के क्षेत्र में अवतारवाद की प्रतिष्ठा हुई जिसने मानव की भावनाओं को विशेष रूप मे प्रभावित किया।

मौ

वैदिक साहित्य के समाज मे आर्य एवं दस्यु
साहित्य मे वर्णाश्रम धर्म की पूर्ण प्रतिष्ठा
जटिलताओ का भी उदय होता है। वै
होकर मानवीय भाव एवं भावनाएँ

इस अनुष्टुप छन्द में होता है। यही नहीं, लौकिक साहित्य में पद्य का जितना विकसित रूप उसमें प्राप्त होता है। पद्य का अपना प्रभाव वेद ज्योतिष एवं व्याकरण के ग्रन्थों तक हुआ है। एक ओर जहाँ पद्य अपनी चरम प्रौढ़ि पर पहुँचता है वहीं गद्य दुर्बोधयुक्त होता है जो कि कमतर होता ही गया है। यद्यपि लौकिक साहित्य में भी गद्य साहित्य प्राप्त है, किन्तु उसमें वैदिक गद्य की सरलता, स्वाभाविकता नहीं है। यह गद्य तो विकट समा-सयुक्त, अलंकार प्राचुर्य तथा दुरूह विकट पद-जाल से ही मण्डित है। इस काल में दर्शन एवं व्याकरण के ग्रन्थों में अवश्य ही दुर्गम गद्य का प्रयोग हुआ है। आशय यही है कि आकृति की दृष्टि से लौकिक साहित्य वैदिक साहित्य से पर्याप्त भिन्न है। दोनों में कुछ मौलिक अन्तर है। लौकिक साहित्य के रसा-स्वादन के लिए व्याकरण ज्ञान, छन्द का पाण्डित्य, अलंकार प्रेमी तथा काव्य-शास्त्र की विभिन्न शैलियों में निष्णात होना अपेक्षित है। इनके अभाव में लौकिक साहित्य का रसास्वादन सम्भव नहीं है। लौकिक साहित्य के रचयिताओं की शैली सदा ही कल्पना बहुल स्वपाण्डित्यप्रदर्शनमूलक तथा आत्म-प्रशंसा प्राप्यार्थ रही है। इसमें हृदय के स्थान पर मस्तिष्क एवं बुद्धि का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक किया गया है।

वैदिक साहित्य में हम जिन धाराओं एवं विचारों का मूलरूप यत्र-तत्र विच्छिन्न रूप में प्राप्त करते हैं, उन सभी का लौकिक साहित्य में चरम प्रकर्ष मिलता है। उदाहरणतः वेदांग साहित्य, उपवेदों का तो विकास होता ही है महाकाव्य, गीतिकाव्य, नाट्यशास्त्र, लोक कथा, जन्तु कथा, कामशास्त्र, गद्य-काव्य आदि विभिन्न काव्यों की विधाओं का उदय तथा विकास होता है।

साहित्य समाज का दर्पण तथा मानव की अन्तर्भावनाओं का मूर्त्तरूप है, इसलिए लौकिक साहित्य में हम मानव की हार्दिक भावनाओं का समयानुरूप अकन प्राप्त करते हैं। यह साहित्य पौराणिकता के भावों से मण्डित है। पुन-र्जन्म का विश्वास यहाँ अधिक दृढ होता है। मानव विलास की ओर अग्रसर होता है। मानव सरलता स्वाभाविकता से हटकर अलकार एव अस्वाभाविकता की ओर उन्मुख होता है। वैदिक साहित्य कल्पना एव भावना के विशुद्ध रूप पर निर्भर है। जहाँ मानव का अन्तर्हृदय नैसर्गिक रूप मे प्रवाहित होता है, वहाँ लौकिक साहित्य मे शास्त्र एव कला, प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति आदि का

समन्वय मिलता है। वैदिक साहित्य में प्राकृतिक जीवन, ग्राम्य जीवन विचार की भावना है, तो दूसरी ओर नागरिक जीवन वैभव तथा मानव का साहित्य है। अन्ततः यही कहना अधिक समीचीन प्रतीत होता है कि वैदिक साहित्य तत्कालीन जनभाषा साहित्य एवं जनता का साहित्य है लौकिक साहित्य का अभिजात्यवर्ग का, साहित्यिक भाषा का, नागरिक जीवन का साहित्य है। तथापि दोनों साहित्यों मे एकरूपता तथा भारतीयता का आशय सर्वत्र विद्यमान है।

प्रश्न—वैदिक संस्कृत एवं लौकिक संस्कृत के अन्तर का स्पष्ट कीजिए।

***Point out the peculiarities of the Rigvedic language and compare with that of the later Samhitas and Classical Literature. Note briefly linguistic difference found with in the Rigveda itself.***

—आ० वि० वि० ४८, ११

उत्तर—भारतीय भाषाओं के विकास-क्रम का अध्ययन करते समय हम समग्र विकास को तीन युगो मे विभक्त कर सकते हैं—

(१) प्राचीन भारतीय आर्यभाषा युग [वैदिक युग से ५०० ई० पू० तक]
(२) मध्यकालीन आर्यभाषा युग [५०० ई० पू० से १००० ई० पू० तक]
(३) आधुनिक आर्यभाषा युग [१००० ई० से अब तक]

भारतीय आर्यभाषा युग की भाषा का प्रत्यक्षीकरण हम ऋग्वेद की भाषा मे करते हैं। इस काल की भाषा का विकास यजु-साम-अथर्ववेद एव सूत्र ग्रन्थों तक हुआ है। इसे वैदिक सस्कृत के नाम से अभिहित किया जाता है। मध्यकालीन आर्यभाषा युग में एक ओर वेद की भाषा की विविधता को नियमित किया गया। उसे एकरूपता प्रदान की गई, जिसके परिणामस्वरूप एक राष्ट्रीय अन्तर्प्रान्तीय साहित्यिक भाषा का विकास हुआ। इसी का नाम लौकिक संस्कृत रखा गया। विन्टरनिट्ज ने इसे *Classical Sanskrit* कहा है। *Classical Sanskrit* से उसका अभिप्राय क्या है? इसे स्पष्ट करता हुआ वह लिखता है—

*What we call classical Sanskrit means Panini's Sanskrit that is the Sanskrit which according to the rules of Panini's is alone correct.*

वैदिक भाषा को विन्टरनित्ज प्राचीन भारतीय भाषा नाम देते हैं। इस प्राचीन भाषा को जिसमे साहित्यिक कृतियाँ, वैदिक मन्त्र आदि हैं। इस भाषा का आधार वे उत्तर-पश्चिम से आने वाले आर्यों की बोली को मानते हैं, जो कि प्राचीन पारसी, शवेस्ता तथा प्राचीन इन्डो-ईरानियन भाषा से अधिक दूर नही है। इसीलिए उनके मत से वेद की भाषा तथा इस प्राचीन इन्डो-ईरानी भाषा मे अधिक अन्तर नहीं है। स्वल्प अन्तर है, वह उसी प्रकार का जैसा कि पाली तथा सस्कृत मे है। ध्वनि के अनुसार वैदिक व लौकिक सस्कृत मे अधिक अन्तर नही है। इस प्रश्न मे हम ऋग्वेद की भाषा, अन्य सहिताओ की भाषा तथा लौकिक सस्कृत मे भाषागत कितना अन्तर है, इस पर विचार करते समय विकास के आधार पर हम सहिताओ मे सर्वप्रथम पद्य ऋचाओ का बाहुल्य प्राप्त करते हैं। ऋग्वेद तो सर्वथा ऋचाओ का वेद है, उसमे गद्य के हमे दर्शन नही होते है। लेकिन परवर्ती सहिताओं की भाषा मे पद्य के साथ गद्य के दर्शन भी हो जाते हैं। ब्राह्मण आदि साहित्य मे तो गद्य का पर्याप्त विकास हुआ है। इस काल मे गद्य प्रौढ़ता को प्राप्त हुआ है। लौकिक साहित्य के उदय काल मे पद्य का ही बोलबाला रहता है, किन्तु कुछ समय के उपरान्त ही गद्य भी अलकृत सौन्दर्य एव विकटबन्ध के रूप मे आता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भाषा की विकासधारा पद्य से गद्य की ओर सर्वथा उन्मुख होती रही है।

वैदिक साहित्य के अनुसन्धानकर्त्ताओ ने वैदिक भाषा के अध्ययन करने के पश्चात् यह धारणा बनाई है कि वैदिक साहित्य का सृजन एक साथ न होकर एक दीर्घ यात्रा करने के उपरान्त हुआ है, यही नही, स्वय ऋग्वेद के कुल मण्डलो (Family books) की अपेक्षा अन्य मण्डलो की भाषा मे भी अन्तर है। प्राचीन ऋग्वेद के सूक्तो मे रेफ मे प्रचुर प्रयोग है। भाषा तत्ववेत्ताओ की मान्यता है कि सस्कृत भाषा के विकास के साथ ही ऋचाओ मे 'रेफ' के स्थान पर लकार का प्रयोग बढ़ता गया है और लौकिक सस्कृत मे तो उसी का साम्राज्य स्थापित हो गया है। उदाहरण के लिए जलवाचक 'सलिल' शब्द का पूर्व रूप, 'सरिर' था तथा कुल मण्डलो (Family books) मे 'सरिर' का ही प्रयोग हुआ है, किन्तु दशम मण्डल मे लकार युक्त शब्द का प्रयोग होने लगा है। व्याकरण की दृष्टि से भी भाषा-भेद दिखाई पड़ता है। ऋग्वेद के प्राचीन सूक्तो मे पुल्लिङ्ग अकारान्त शब्दो मे प्रथमा द्विवचन का प्रत्यय अधिकाश

में "आ" आता है; उदाहरणार्थ—"द्वासुपर्णा सयुजासखाया"। किन्तु दशम मण्डल में उस (आ) के स्थान पर 'औ' का भी प्रचलन होने लगा है; । जैसे—"मा वामेतौ मा परेतौ रिषाम", "सूर्याचन्द्रमसौ धाता" (१०।१९०।३)। प्राचीन सूक्तों १०।१८।२ की क्रियाओं में तवै, से, असे, अध्यै आदि अनेक प्रत्यय प्रयुक्त होते हैं परन्तु दसवें मण्डल मे अधिकतर "तुमुन्" प्रत्यय का ही प्रयोग मिलता है। प्राचीन कर्त्तवे 'जीवसे', 'अवसे' आदि पदों के स्थान पर अधिकतर "कर्त्तुम्', 'जीवितुम्', अवितुम', आदि तुमुन् प्रत्ययान्त प्रयोगो का चातुर्य है। ऋग्वेद के दशम मण्डल की भाषा ही अवशिष्ट तीनो संहिताओ मे दृष्टिगोचर होती है। इस प्रकार से ऋग्वेद एवं परवर्ती संहिताओ की भाषा मे अन्तर है।

लौकिक तथा वैदिक संस्कृत के परस्पर अन्तर को हम इस प्रकार से देख सकते हैं—

(१) वैदिक संस्कृत में कर्त्ता कर्म में अकारान्त पुल्लिग शब्दों का प्रथमा बहुवचन रूप असस् और अस् दो प्रत्ययो को अन्तर्भूत किये रहता है; जैसे—देवास देवाः, ब्राह्मणास. ब्राह्मणाः मर्त्यासः मर्त्या'; तथा लौकिक सस्कृत मे अस् से निर्मित देवाः मर्त्याः ब्राह्मणाः ये रूप मिलते हैं।

(२) वैदिक संस्कृत मे अकारान्त शब्दो का तृतीया बहुवचन मे भिस् एव ऐस् दो प्रत्ययों को जोडने पर देवेभि. देवैः, पूर्वेभि पूर्वैः रूप मिलते हैं; किन्तु *लौकिक संस्कृत मे प्रायः पूर्वैः देवैः यह अन्तिम रूप ही मिलता है।*

(३) वैदिक संस्कृत में अकारान्त शब्दों का प्रथमा द्विवचन आ प्रत्यय के योग से और इकारान्त स्त्रीलिंग शब्दो का तृतीय एकवचन ई प्रत्यय के योग से बनता है; उदाहरणार्थ—अश्विना तथा सुष्टुती। किन्तु लौकिक सस्कृत मे औं तथा आ प्रत्यय मिलता है। अश्विनौ सुष्टुत्या।

(४) वैदिक सस्कृत मे सप्तमी एकवचन अनेक है; जैसे—परमेव्योमन्, किन्तु लौकिक संस्कृत में यह पर व्योम्नि या व्योमनि लिखा जाता है।

(५) वैदिक संस्कृत में अकारान्त नपुंसकलिङ्ग तथा आनि दो प्रत्ययो से बनता है, जैसे—'विश्वानि मे 'विश्वानि अद्‌भुतानि' होना आवश्यक है।

उत्तर—वैदिक साहित्य सर्वाङ्गपूर्ण साहित्य है। विश्व साहित्य मे इसकी हत्ता अक्षुण्ण है, किन्तु कराल-काल के क्रूर थपेड़ो तथा बर्बर आक्रान्ताओ भयकर आघातो से आज सम्पूर्ण वैदिक साहित्य उपलब्ध नही है, तथापि ाज उपलब्ध वैदिक साहित्य भी अन्य विश्व की भाषाओ के साहित्य की पेक्षा सम्पन्न है।

वैदिक साहित्य का अध्ययन प्रारम्भ करते ही हमे सहिता अथवा शाखा ब्द दृष्टिगोचर होता है। ऋचाओ अथवा मन्त्रो के समूह का नाम ही हिता है। इसी का अपर नाम शाखा है। इसे हम सस्करण शब्द से भी भिहित कर सकते हैं। चारो वेदो के अध्येता विभिन्न वशो के होते थे अथवा ो कहा जाय कि प्राचीन काल मे एक गुरु से अध्ययन करने वाले गुरु-पुत्र अथवा शिष्य या वशजो ने जिस-जिस ज्ञान को अपनी मेधा मे सगृहीत किया था परवर्ती समय मे अपने-अपने शिष्यो को पढाया, क्योकि विशाल वैदिक ाहित्य किसी एक व्यक्ति के पास सुरक्षित नही रह सकता था, न ही विशाल वैदिक साहित्य को एक व्यक्ति पढा ही सकता था इसलिए वेद की अनेक शाखाएँ मिलती हैं। "स्वाध्यायैक देश मन्त्र ब्राह्मणात्मक शाखेत्युच्यते। तयो-र्मन्त्र ब्राह्मणयोरन्यतर भेदेन वेदेऽवान्तरशाखाभेदः स्यादिति चेत्। सत्यम् (महादेवकृत हिरण्य केश भाषा) तथा "प्रवचन भेदात्तानि वेद भिन्ना भूयस्व शाखा" (प्रस्थान-भेद) डा० मगलदेव जी ने शाखा भेद होने के कारणो पर विचार करते हुए लिखा है "शाखा भेद कैसे हुआ ? इसका उत्तर स्पष्ट है। वैदिक परम्परा मे एक ऐसा समय था, जब कि अध्ययनाध्यापन का आधार केवल मौखिक था, उसी काल मे एक ही गुरु के शिष्य-प्रशिष्य भारत जैसे महान् देश मे फैलते हुए, विशेषत गमनागमन की उन दिनो की कठिनाइयों के कारण किसी भी पाठ को पूर्णत अक्षुण्ण नही रख सकते थे। पाठभेद का हो जाना स्वाभाविक था—"एव वेद तथा व्यस्य भगवानृषिसत्तम। शिष्येभ्यश्च पुनर्दत्वा तपस्तप्तु गतो वनम्। तस्य शिष्य प्रशिष्यैस्तु शाखा भेदास्त्वि मे कृता।" वायुपुराण ६१।७७। साथ ही जान-बूझ कर पाठ का कुछ परिवर्तन या परिवर्द्धन भी अवस्था-विशेष मे, सभावना से बाहर की बात नही है। एक ऐसा भी समय था, जब नवीन ऋचाएँ भी बनायी जाती थी। "अग्नि पूर्वेभिर्ऋ-षिभिरीड्यो नूतनैरुत" (ऋग्० १।१।२) "इमामग्नाय शुरूं नवीयसी को ेगम्" (ऋग्० १०।६१।१३) इत्यादि ऋचाओ मे स्पष्टत. प्राचीन और नवीन

घातिक का अर्थ देकर आज 'शत्रु' का वाचक हो गया है। इस प्रकार 'नं' वैदिक साहित्य में इव के अर्थ में प्रयुक्त होता है किन्तु लौकिक संस्कृत में 'नहीं' अर्थ का द्योतक है।

(१४) शब्द-भेद के साथ ही साथ छन्द की दृष्टि से भी वैदिक एवं लौकिक संस्कृत में अन्तर हुआ है। वैदिक संस्कृत में जहाँ तीन-चार अलंकार थे, वहाँ लौकिक संस्कृत में अलंकारों की संख्या लगभग दो सौ है।

(१५) वैदिक संस्कृत में उपसर्ग धातुओं से अलग हैं। लौकिक में धातु के साथ ही सम्बद्ध हैं।

(१६) वैदिक संस्कृत भाषा में उदात्तानुदात्त, स्वरित आदि का प्रचुर प्रयोग है। लौकिक संस्कृत में ऐसी बात नहीं है।

(१७) वैदिक संस्कृत भाषा में सन्धि कार्य नियमानुकूल नहीं है जबकि लौकिक संस्कृत में सन्धि नियम जटिल एवं अनिवार्य हैं।

(१८) लौकिक संस्कृत में वैदिक संस्कृत की अपेक्षा 'स्वरों' की संख्या कम हुई है। 'लृ' स्वर का तो पूर्णतः अभाव हो गया है।

निरुक्तकार द्वारा वैदिक भाषा के अध्ययन होने पर भाषा की एक-रूपता पर बल दिया गया। अतः भाषा विकास एकता की ओर उन्मुख हुआ। पाणिनी ने इसी कार्य को और भी आगे बढ़ाया और अन्त में वैदिक भाषा की शब्द सम्पत्ति संक्षिप्त हो गयी है।

इस प्रकार वैदिक एवं संस्कृत भाषा में एकता होने पर भी हमें कुछ मौलिक अन्तर मिलते हैं।

प्रश्न—वैदिक साहित्य में प्राप्त शाखा शब्द का अर्थ स्पष्ट कीजिए तथा प्राप्त विभिन्न वेदों की शाखाओं का निरूपण कीजिए।

What is the meaning of the word 'Shakha' as applied to Veda? How many Shakhas of the different Vedas were known to antiquity and how many of them have survived to this day?

—आ० वि० वि० ५२

*Or*

What do you understand by the term Shakha as applied to Vedas?

—आ० वि० वि० ५६

उपनिषद्—(१) छान्दोग्योपनिषद् (कौथुमीय),(२) केनोपनिषद् (जैमिनीय)
(३) जैमिनीय उपनिषद्,

सूत्रग्रन्थ—कौथुम शाखा—(१) मशक कल्पसूत्र, (२) लाट्यायन श्रौतसूत्र,
(३) गोभिल गृह्यसूत्र,

राणायनीय शाखा—(१) द्राह्यायण श्रौत सूत्र, (२) खदिर गृह्य सूत्र,
जैमिनीय शाखा—जैमिनीय श्रौत सूत्र, जैमिनीय गृह्य सूत्र।

अथर्ववेद—श्री मद्‌भागवत् एव वायुपुराण आदि के अनुसार वेदव्यास जी ने जिस शिष्य को अथर्ववेद का ज्ञान दिया था, उसका नाम था सुमन्तु। सुमन्तु ने अपने शिष्यो को दो संहिताएँ दी। पहले पट्ट शिष्य का नाम पथ्य था, पथ्य के तीन शिष्य थे—(१) जाजलि, (२) कुमुद, (३) शौनक और दूसरे शिष्य का नाम था देवदर्श। देवदर्श के चार शिष्य थे—(१) मोद, (२) ब्रह्मवलि, (३) पिप्पलाद, (४) शौष्कायनि या शौक्तायनि। शौनक के भी दो शिष्य थे—बभ्रु तथा सैन्धवायन। इन्ही नौ ऋषियो के द्वारा अथर्ववेद की शाखाओ का प्रचार व प्रसार हुआ। पातंजल महाभाष्य के द्वितीय आह्निक मे "नवधाऽथर्वणो वेद." लिखा है जिसमे अथर्ववेदीय नौ शाखाओ की पुष्टि होती है, किन्तु प्रपञ्च हृदय चरणव्यूह तथा सायण भाष्य के उपोद्घात मे शाखाओ की सख्या मे एकता होने पर भी नामों मे भेद मिलता है। कुछ भी सही, आज हमे केवल दो शाखाएँ ही मिलती हैं—एक, शौनक, दूसरी, पिप्पलाद। इनमे शौनक शाखा पूर्ण रूप मे प्राप्त है तथा प्राप्त अथर्ववेद इसी शाखा का है। दूसरी पिप्पलाद संहिता भी जीर्ण-शीर्ण दशा मे कश्मीर-नरेश रणजीतसिंह को प्राप्त हुई थी, उन्होने Roth को भेट कर दी थी। रॉथ की मृत्यु के उपरान्त इस शाखा को Bloomfield एव Garvy ने जीर्ण-शीर्ण स्थिति मे शारदालिपि मे १९०१ मे ५४० चित्रों सहित प्रकाशित करवाया है। शौनक शाखा अधिक प्रचारलब्ध है। पिप्पलाद शाखा के अधिकाश ग्रन्थ लुप्तप्राय है, केवल एक प्रश्नोपनिषद् ही प्राप्त है तथा शौनक शाखा का एक गोपथ ब्राह्मण, मुण्डक, माण्डूक्य नामक दो उपनिषद् तथा दो सूत्र ग्रन्थ वैतान श्रौतसूत्र तथा कौशिक गृह्य-सूत्र आदि सम्बद्ध साहित्य भी उपलब्ध है।

विभिन्न स्थलो पर प्राप्त उल्लेखो के आधार पर वेदो की कुल ११३१ शाखाएँ हैं; किन्तु आज तो हमे लगभग तेरह ही उपलब्ध हैं। कुछ आलोचकों

हजार शाखाओं का उल्लेख मिलता है। चरणव्यूह की टीका में महीदास ने लिखा है कि "आसां षोडश शाखानां मध्ये तिस्त्र शाखा विद्यन्ते, गुर्जरदेशे कौथुमी प्रसिद्धा कर्णाटके जैमिनीया प्रसिद्धा, महाराष्ट्रे तु राणायनीया।" इन सोलह शाखाओं में से अब केवल तीन ही विद्यमान हैं। गुर्जर देश में कौथुम, कर्णाटक में जैमिनीय, महाराष्ट्र में राणायनीय प्रसिद्ध हैं। वैसे तो अन्यान्य ग्रंथों के विभिन्न उद्धरणों में इस वेद की एक हजार शाखाओं का उल्लेख मिलता है और दिव्यावदान में तो १०८० शाखाओं का उल्लेख है। बलदेव उपाध्याय वैदिक साहित्य एवं संस्कृति में लिखते हैं कि "आजकल प्रपञ्चहृदय, दिव्यावदान, चरणव्यूह तथा जैमिनिगृह्यसूत्र। १।१४ के पर्यालोचन के १३ शाखाओं के नाम मिलते हैं। सामतर्पण के अवसर पर इन आचार्यों के नाम तर्पण का विधान मिलता है "राणायन—सत्यमुग्र—व्यास—भागुरि—औलुण्डि—गौल्मुलवि—भानुमानौपमन्यव—काराटिमशक गार्ग्य—वार्षगण्य—कौथुमि—शालि होत्र—जैमिनि त्रयोदशैते मे सामगाचार्याः स्वस्ति कुर्वन्तु तर्पिताः॥ इन तेरह आचार्यों में से आजकल केवल तीन आचार्यों की शाखाएँ मिलती हैं— (१) कौथुमीय, (२) राणायनीय, (३) जैमिनीय। ये तीनों ही शाखाएँ प्रकाशित भी हैं। इन तीनों शाखाओं में सर्वाधिक प्रचार कौथुमीय शाखा का है। इसका प्रचलन गुजरात के श्रीमाली एवं नागर ब्राह्मण तथा बंगाली ब्राह्मणों में है। राणायनीय शाखा प्रथम की अपेक्षा कम प्रचार लब्ध हैं; इसका प्रचार महाराष्ट्र में है। इस शाखा के मन्त्र आदि कौथुमीय से भिन्न नहीं हैं। दोनों मन्त्रगणना के हिसाब से समान ही हैं। केवल यत्र-तत्र उच्चारण में भिन्नता मिलती है। जैमिनीय शाखा भी प्रकाशित है तथा इसका प्रचार कर्णाटक में है किन्तु इसके अनुयायियों की संख्या कौथुमों की अपेक्षा अल्प है। सामवेद संहिता की कौथुम शाखा में गेय ऋचाओं का ही संकलन हुआ है। इस शाखा की ऋचाओं की कुल संख्या १८७५ है जो कि पूर्वार्चिक एवं उत्तरार्चिकों में विभक्त हैं। सामवेद से सम्बद्ध अन्य साहित्य में चार ब्राह्मण दो आरण्यक तथा तीन उपनिषद्; सात सूत्र ग्रन्थ हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं—

ब्राह्मण—(१) तांड्य ब्राह्मण (कौथुमीय), (२) षड्विंश ब्राह्मण, (३) साम विधान ब्राह्मण, (४) जैमिनीय ब्राह्मण

आरण्यक—(१) छन्दोग्य आरण्यक (कौथुमीय), (

गो ही अपनाया है। पूर्ववर्ती भाष्यकारो की परम्पराओं का
ो हुए पाणिनी व्याकरण, अनुक्रमणी, प्रातिशाख्य और ब्राह्मण
न्थों से सायण ने पूरी-पूरी सहायता ली है। सायण का भाष्य
ा के अनुरूप है। यह भारतीय दृष्टिकोण तथा पाश्चात्य विद्वानो
Winston Jacobe आदि के मत से भी सर्वथा विश्वसनीय
। सायण के वेद-भाष्य कार्य का मूल्यांकन करते हुए हम कह
इन्होंने ऋग्वेदीय मन्त्रो के आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा
तीनो ही प्रकार के अर्थों का यथास्थान उल्लेख किया है।
र होने वाली समाधि-भाषा, परकीय भाषा तथा लौकिक तीनो
भाषाओं का रहस्य सायण ने स्पष्ट किया है। इसलिए यह
ोने केवल अधियज्ञ परक वेदभाष्य किया है, उचित नही है।
य सहिताओ पर क्रमश कृष्ण यजुर्वेदीय तैत्तिरीय सहिता,
ा सहिता, शुक्ल यजुर्वेदीय काण्व सहिता, सामवेदीय कौथुम
*अथर्ववेद शौनक सहिता पर भाष्य लिखे हैं, यही नही, सायण*
ति मानकर ही चले हैं। वैसे तो सायण ने आध्यात्मिक, आधि-
ैविक—तीनों ही प्रकार मे अर्थ किये हैं, किन्तु सायण की दृष्टि
िक रही है। अत यज्ञपरक भाष्य का प्राधान्य है ऐसा होना भी
क्योकि सायण के समय मे कर्मकाण्ड का बोलबाला था। सायण
लिखने मे यास्क के निरुक्त से पर्याप्त सहायता ली है प्राय प्रत्येक
की व्युत्पत्ति सिद्धि तथा स्वराघातो का पूर्ण विवेचन प्रामाणिक
र पर किया है। यास्क के सामने उन्होने शब्दो के कई अर्थ दिये
भी खूब जमकर प्रयोग किया है। यास्क द्वारा व्याख्यान मन्त्रो
उन्होंने मन्त्रों के आने पर अविकल उद्धृत किया है। सायण
ो व्याख्या एव भाष्य करने से पूर्व विनियोग, ऋषि, देवता आदि
न प्रामाणिक ग्रन्थो के आधार पर करते हैं। किसी भी सूक्त मे
के आने पर उसको वे पूर्णत स्पष्ट करते हुए आख्यायिका को
देते हैं। एक बात और है, वह यह कि प्रत्येक ग्रन्थ के भाष्य से
रान मे विश्लेषणात्मक दृष्टि से विचार करते हैं।

ने भारतीय भाष्यकारो की पूर्व परम्परा के अनुरूप ही भाष्य
उनकी पुष्टि मे पुराण, इतिहास तथा महाभारत आदि ग्रन्थो से

ने सामवेद के "सहस्र वर्त्मा पद" पर लिखा है कि वर्त्म शब्द शाखावाची न होकर केवल सामगायन की विभिन्न पद्धतियों का सूचक है। अतः यह संख्या कल्पित ही है। इसी प्रकार स्वामी दयानन्द जी ने भी शाखाओं के सम्बन्ध में लिखा है कि (१) शाकल, (२) राणायनीय, (३) माध्यन्दिन, और (४) शौनक; ये चारों शाखाएँ शाखा न होकर मूल वेद हैं तथा शेष शाखाएँ इन्हीं संहिताओं की व्याख्याएँ हैं। अस्तु, किन्तु हमारा तो अपना विचार यह है कि वेदों की बहुसंख्यक शाखाएँ अवश्य थीं, भले ही उन्हें आप मूल वेद कह लीजिए या व्याख्याएँ। वेदों की शाखाओं की अनेकता भारतीय अध्ययनाध्यापन प्रणाली की सूक्ष्मता एवं गम्भीरता की द्योतक है।

*प्रश्न—निम्नलिखित वेद भाष्यकारों के कार्य का मूल्यांकन कीजिए—*
**यास्क, सायण, दयानन्द और रॉथ।**

***Assess the value of the contribution made to the Vedic exagesis by Yask, Sayan, Dayanand and Roth.***

—आ० वि० वि० ५८, ६६, ६७

उत्तर—प्राचीनतम कृति का अर्थ समझना सहज कार्य नहीं है। क्योंकि प्राचीनता के साथ भावों में गम्भीरता, भाषा में परिवर्तन एवं काठिन्य जाने पर यह समस्या और भी जटिल बन जाती है। भारतीय संस्कृति के अ ग्रन्थ वेदों के अर्थानुशीलन के सम्बन्ध में यही समस्या है इसीलिए पाश्च विद्वान् वेदों की भाषा एवं भाव को दुरूह कहकर उसके अर्थ समझने में अ को असमर्थ मान लेते हैं; किन्तु वैदिक साहित्य में प्राप्त वेदांग साहित्य (शि कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष) वेदों के भाष्य एवं अर्थ को समझने हमारे मार्ग-प्रदर्शक बनते हैं; इन्हीं की सहायता से हम वैदिक शब्दों के गूढ़ गूढ़ अर्थ को समझने में समर्थ हो जाते हैं; प्रायः समस्त भारतीय भाष्यकारों उपर्युक्त वेदांग साहित्य की सहायता से वेदों के अर्थों को समझा है औ समझाया है।

यास्क—वेदों के गम्भीर एवं सूक्ष्म अर्थ को बतलाने वाला प्रथम ग्रंथ कौन ा है? यह कहना कुछ कठिन है। आजकल हमें निघण्टु नामक एक वैदिक शब्द ग्रह मिलता है, निरुक्त जिसकी विस्तृत टीका है। यास्क निरुक्त शास्त्र के ाप्त आचार्यों में अन्यतम हैं जिनकी कृति आज हमें समग्र रूप में उपलब्ध

है। निरुक्तकारों मे यास्क तेरहवें आचार्य हैं। अनेकशः यास्क के स्वयं के उद्धरणों से चौदह नैरुक्तों की सत्ता का आभास मिलता है। यास्क निघण्टु के व्याख्याकार हैं, स्वयं कर्त्ता नहीं, जैसा कि कुछ लोगों का कहना है। निरुक्त मे बारह अध्याय हैं जिसमे एक से तीन अध्याय तक का भाग निघण्टु कहलाता है, चार से छः अध्याय तक का अंश नैगम काण्ड कहलाता है तथा ७ से १२ अध्याय तक का अंश दैवतकाण्ड के नाम से अभिहित किया जाता है।

यास्क प्राचीनतम हैं, इनका काल पाणिनी से भी पूर्ववर्त्ती है। इनकी भाषा मे वैदिक अपाणिनीय प्रयोग अनेकश मिलते हैं। महाभारत के उल्लेख के अनुसार यास्क का समय विक्रम से सात सौ या आठ सौ वर्ष पूर्व माना जा सकता है, किन्तु मैक्डानल यास्क का समय पंचम शतक ई० पू० मानते हैं।

यास्क का महत्त्व वैदिक व्याख्याकारों मे मूर्धन्य है। ब्राह्मण ग्रन्थों के उपरान्त वेद की कल्पना करने वाला यह प्रथम ग्रन्थ है। यास्क का महत्त्व परवर्ती प्रत्येक वेद व्याख्याकार ने स्वीकार किया है। प्रत्येक भाष्यकार के ऊपर उनका प्रभाव परिलक्षित होता है। सायण जो कि वेद भाष्यकारों मे प्रसिद्धतम हैं, वे तो पूर्णतः यास्क के ऋणी हैं, यत्र-तत्र अपने अर्थ की रक्षा के लिए वे यास्क के अर्थ को उद्धृत कर यास्क की दुहाई देते चलते हैं। आधुनिक भारतीय वेद व्याख्याकार स्वामी दयानन्द ने भी यास्क का महत्त्व स्पष्टतः स्वीकार किया है। यही नहीं, यास्क की वेद भाष्य-पद्धति को पाश्चात्य वेदानुसन्धानकर्त्ताओं ने भी अप्रत्यक्ष यास्क की महत्ता को स्वीकार किया है।

यास्क ने वेद मन्त्रों के भाष्य करते समय दो शैलियों को अपनाया है—१—नैरुक्त शैली, २—ऐतिहासिक शैली। प्रथम नैरुक्त शैली में शब्दों की निरुक्ति करके धातु प्रत्यय आदि का निर्देश किया जाता था और पुनः अर्थ को स्पष्ट किया जाता था, जैसे-दुहिता शब्द की निरुक्ति-दुहिता दूरेहिता भवति दोग्धेर्वा" दुहिता क्यों कही जाती है क्योंकि वह (पुत्री) दूर ब्याही जाती है और जब तक घर में रहती है तब तक वह अन्न का दोहन भी करती है। दूसरी ऐतिहासिक शैली मे किया इतिहास की कल्पना की गई है। देवताओं को ऐतिहासिक पुरुष स्वीकार किया गया है। उनके मत से "वेद में इतिहास अनु-

त्वाध्याय को ही अपनाया है। पूर्ववर्ती भाष्यकारों की परम्पराओं का अनुसरण करते हुए पाणिनी व्याकरण, अनुक्रमणी, प्रातिशाख्य और ब्राह्मण तथा निरुक्त ग्रन्थों मे सायण ने पूरी-पूरी सहायता ली है। सायण का भाष्य वैदिक परम्परा के अनुरूप है। यह भारतीय दृष्टिकोण तथा पाश्चात्य विद्वानों में H. Winston Jacobe आदि के मत से भी सर्वथा विश्वसनीय एवं उपादेय है। सायण के वेद-भाष्य कार्य का मूल्यांकन करते हुए हम कह सकते हैं कि इन्होंने ऋग्वेदीय मन्त्रों के आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक तीनों ही प्रकार से अर्थों का यथास्थान उल्लेख किया है। ऋग्वेद मे प्राप्त होने वाली समाधि-भाषा, परकीय भाषा तथा लौकिक तीनों ही प्रकार की भाषाओं का रहस्य सायण ने स्पष्ट किया है। इसलिए यह कहना कि इन्होंने केवल अधियज्ञ परक वेदभाष्य किया है, उचित नही है। सायण ने समस्त संहिताओं पर क्रमश कृष्ण यजुर्वेदीय तैत्तिरीय संहिता, ऋग्वेदीय शाकल संहिता, शुक्ल यजुर्वेदीय काण्व संहिता, सामवेदीय कौथुम संहिता और अथर्ववेद शौनक संहिता पर भाष्य लिखे हैं, यही नही, सायण वेद को दैवी कृति मानकर ही चले हैं। वैसे तो सायण ने आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक—तीनों ही प्रकार से अर्थ किये है, किन्तु सायण की दृष्टि कर्मकाण्डीय अधिक रही है। अत यज्ञपरक भाष्य का प्राधान्य है ऐसा होना भी आवश्यक था, क्योंकि सायण के समय मे कर्मकाण्ड का बोलबाला था। सायण ने अपने भाष्य लिखने मे यास्क के निरुक्त से पर्याप्त सहायता ली है प्राय प्रत्येक महत्वपूर्ण शब्द की व्युत्पत्ति सिद्धि तथा स्वराघातों का पूर्ण विवेचन प्रामाणिक ग्रन्थो के आधार पर किया है। यास्क के सामने उन्होंने शब्दो के कई अर्थ दिये हैं। निरुक्त का भी खूब जमकर प्रयोग किया है। यास्क द्वारा व्याख्यात मन्त्रो को भी यत्र-तत्र उन्होंने मन्त्रो के आने पर अविकल उद्धृत किया है। सायण सूक्त के मन्त्रों को व्याख्या एव भाष्य करने से पूर्व विनियोग, ऋषि, देवता आदि तथ्यों का निर्देश प्रामाणिक ग्रन्थो के आधार पर करते हैं। किसी भी सूक्त मे Mythology के आने पर उसको वे पूर्णत स्पष्ट करते हुए आख्यायिका को भी उद्धृत कर देते हैं। एक बात और है, वह यह कि प्रत्येक ग्रन्थ के भाष्य से पूर्व वे उपोद्घात मे विश्लेषणात्मक दृष्टि से विचार करते हैं।

सायण ने भारतीय भाष्यकारो की पूर्व परम्परा के अनुरूप ही भाष्य किया है। उनकी पुष्टि मे पुराण, इतिहास तथा महाभारत आदि ग्रन्थो से

का विधान लिखा है सो ज्ञान के पश्चात् होत् कर्त्ता की प्रवृत्ति यथाव है सकती है तथा सामवेद से ज्ञान और आनन्द की उन्नति और अथर्ववेद से स संशयों की निवृत्ति होती है इसलिए उनके चार भाग किये हैं। निरुक्त प्रमाणों से वेद मन्त्रो की प्रयोग शैली बतलाते हुए गान विद्या सम्बन्धी वैदि स्वर का वर्णन किया है फिर वैदिक व्याकरण के उन नियमो को जिनसे कि वे मन्त्रो के अर्थ जानने से विशेष सहायता मिलती है, प्रमाणपूर्वक दर्शाते हैं इनके आगे वैदिक अलकारो का वर्णन है।

स्वामी जी ने अपने वेदभाष्य मे वेदो को अनादि सिद्ध किया है, आपव दृष्टि मे वेदो मे लौकिक इतिहास का सर्वथा अभाव है तथा वेदो के सभी शब् यौगिक तथा योगरूढ हैं। इसी आधारशिला पर स्वामी जी के भाष्य का भव खडा हुआ है। इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि देवता वाचक शब्द परमात्मा वाचक हैं, निरुक्तकार ने भी इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन इन शब्दो मे कि है, जितने भी देवता हैं, वे सब एक महान् देवता परमेश्वर की शक्ति के प्रती मात्र हैं—

महाभाग्यात् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते
एकस्यात्मनो ऽन्ये देवा प्रत्यङ्गानिभवन्ति ॥

ऋग्वेद मे भी—इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यो सुपर्णवान् ।

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः स्वामी ज आध्यात्मिक शैली को अपना कर चल रहे हैं। यह वस्तुत ठीक है। वेदों आये हुए नाम भौगोलिक या ऐतिहासिक नही हैं अपितु यौगिक हैं। वेद आया हुआ वशिष्ठ शब्द ऋषि के लिए नही है अपितु वह प्राण का बोध है, इसी तरह भारद्वाज का अर्थ ऋषि भारद्वाज न होकर मन और विश्वामि का अर्थ ऋषि न होकर कान है। स्वामी जी के मत का समर्थन मनु भगवान् भी किया है—

सर्वेषां स तु नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक्। वेद शब्देभ्य एवा पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥ अर्थात् "वैदिक शब्दो के आधार पर ही सभ के प्राणियो के नाम, कर्म और व्यवस्थापन अलग-अलग किये गये।" इ प्रकार वेदोल्लिखित सम्बद्ध उर्वशी, पुरुरवा, नहुष, यम, सुदास आदि के ना एव कर्म नित्य है और वेदो मे नित्य इतिहास है, पौराणिक इतिहास नहीं

आवश्यक रूप मे सहायता ली है। समग्र वेद भाष्यों मे इनकी विद्वता, व्यापक पाण्डित्य एवं अध्यवसाय की सर्वत्र छाप है। परवर्ती भाष्यकार क्या भारतीय और क्या ही पाश्चात्य सभी ने सायण का ही अचल पकड कर वेदभाष्य रूपी वैतरणी को पार करने का उपक्रम किया है।

वेद भाष्यकर्त्ताओ मे आचार्य दयानन्द को स्मरण न किया जाय, यह सम्भव नहीं है। आधुनिक युग मे देव दयानन्द ने वेदों के उत्थान के लिए पर्याप्त कार्य किया है। स्वामी जी ने वेद-भाष्य करते समय रावण, उव्वट सायण और महीधर के भाष्यों का उपयोग नही किया है, अपितु वेद, वेदांग, ऐतरेय, शतपथ आदि ब्राह्मणो के अनुसार उन्होंने अपने भाष्य लिखे हैं। स्वामी जी की दृष्टि से उव्वट, सायण, महीधर के भाष्य मूलार्थ और सनातन वेद व्याख्यानो के विरुद्ध हैं तथा आधुनिक विद्वानों द्वारा किये जाने वाले भाष्य भी अपूर्ण हैं। सायणाचार्य ने क्रियाकाण्ड को ही प्रधानता दी है, कहीं-कहीं सायण ने अर्थ भी ठीक नही किये हैं, महीधर का भाष्य मूल वेद के विरुद्ध है। इन्ही सभी कारणों का उल्लेख करते हुए स्वामीजी ने अपने भाष्य को लिखने से पूर्व अपने भाष्य लिखने की आवश्यकता पर विचार करते हुए लिखा है कि—

"इस भाष्य मे पद-पद का अर्थ पृथक्-पृथक् क्रम से लिखा जायेगा कि जिससे नवीन टीकाकारों के लेख से जो वेदो मे अनेक दोषों की कल्पना की गई है, उन सबकी निवृत्ति होकर उनके सत्य अर्थों का प्रकाश हो जायगा तथा जो-जो सायण, माधव, महीधर और अंग्रेजी अन्य भाषा मे उल्ये वा भाष्य किये जाते व किये गये हैं तथा जो-जो देशान्तर भाषाओ मे टीकाएँ हैं, उन असत्य व्याख्यानों का निवारण होकर मनुष्यों को वेदों के सत्य अर्थों के देखने से अत्यन्त सुख लाभ पहुँचेगा, क्योंकि बिना सत्यार्थ प्रकाश के देखे मनुष्यो को भ्रम निवृत्ति कदापि नही हो सकती। जैसे प्रमाण्या-प्रामाण्य विषय मे सत और असत् कथाओं के देखने से भ्रम की निवृत्ति हो सकती है ऐसे ही यहाँ भी समझ लेना चाहिए इत्यादि प्रयोजनो के लिए इस वेदभाष्य का बनाने का आरम्भ किया है।"

महर्षि आगे लिखते हैं कि 'वेदों के चार भाग भिन्न-भिन्न विद्याओ के कारण हैं। ऋग्वेद मे सब पदार्थों के गुणो का प्रकाश किया है जिससे उनमे प्रीति बढ़कर उपकार लेने का ज्ञान प्राप्त हो सके तथा यजुर्वेद में क्रिया-काण्ड

-दो प्रचार किया है, वेदों के जो मौलिक भाष्य किए हैं, वे अद्वितीय हैं। जीजी ने कृत्रिम मतवादों से हटाकर वेद को उनके मौलिक स्वरूप में मौम और उदात्त मानव धर्म के प्रतिपादक की जो प्रतिष्ठा की है, वह ों में पूर्ण है।

रुडाल्फ रॉथ—यूरोप के साथ भारत के सम्बन्ध हो जाने के उपरान्त चात्य विद्वानों की दृष्टि भारतीय वैदिक साहित्य की ओर गई। यूरोपीय ानों ने पूर्ण लगन के साथ वैदिक साहित्य के अध्ययन में अपने को लगा ा। विभिन्न प्रकार के ग्रन्थों का सम्पादन तथा अनुवाद वे करने लगे, परन्तु यूरोपीय विद्वानों की दृष्टि, पद्धति और उद्देश्य उस वैज्ञानिक के समान जो एक रसायनशाला में किसी पदार्थ का विश्लेषण करता है अथवा खुदाई प्राप्त किसी एक शिलालेख का अध्ययन करता है।

पाश्चात्य भाष्यकर्त्ताओं ने वेदभाष्य में दो शैलियों को अपनाया—प्रथम ली वह थी जो भारतीय विद्वानों के भाष्यों की उपेक्षा कर उन्हीं के अनुरूप ाष्य करते थे—उन भाष्य-कर्त्ताओं का कहना था कि भारतीय विद्वान् हमारी पेक्षा वेदों के अधिक निकट हैं। ठीक इसके विपरीत उन पाश्चात्य विद्वानों ा मत है जो भारतीय विद्वानों के भाष्यों की उपेक्षा करते हैं और निरुक्तकार को भी यह मानते हैं कि उनके समय तक वेदों का ठीक अर्थ लुप्त हो चुका था। भाषा-विज्ञान और भाषा-शास्त्र की सहायता से वे वेदों का भाष्य और अर्थ करना चाहते हैं, इस मत के प्रवर्त्तक का ही नाम रुडाल्फ रॉथ है जो कि जर्मन विद्वान् हैं, इनकी वेद विषय पर अपनी स्वतन्त्र वेद व्याख्याएँ हैं, उनका कहना है कि वेदोत्पत्ति के पर्याप्त समय पश्चात् आज एक भारतीय जैसा अर्थ कर सकता है, उससे अच्छा अर्थ पाश्चात्य देशीय भाषा-विज्ञान की समालोचना पद्धति पर वेद-भाष्य कर सकता है। रॉथ की भाष्य पद्धति के सम्बन्ध में हम कह सकते हैं कि—

तुलनात्मक भाषा-शास्त्र तथा इतिहास के साथ-साथ भारतेतर देशों के धर्म तथा रीतिरिवाज का भी अधिक ध्यान करते हैं। इस प्रकार ऐतिहासिक-तुलनात्मक पद्धति को अपनाते हैं, केवल अन्धानुकरण नहीं करते हैं। वैज्ञानिक पद्धति को अपनाकर विभिन्न शब्दों के अर्थ निर्धारित करने की चेष्टा करते हैं; रन्तु दुःख इस बात का है कि रॉथ महोदय दुराग्रहवश अपनी अहम्मन्यता के भारतीय टीकाओं की उपेक्षा करते हैं और इसी कारण भारतीय भाष्यों

पुराणादि में इन नामों को लेकर इतिहास रचना की गई है। वेदों मे अनित्य इतिहास का अभाव है।

किन्तु स्वामीजी के वेदभाष्य के ऊपर विद्वानों का कुछ मतभेद है उनका कहना है कि यास्क ने वेद के मन्त्रों के तीन प्रकार से अर्थ किये हैं—आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक। तीनो वस्तुतः यथार्थ हैं। अतः इन्द्रादि देवों से केवल परमेश्वर का अर्थ लिया जाना उचित नही है। इसी प्रकार अग्नि भौतिक अग्नि के साथ उस देव का भी सूचक है जो इस भौतिक अग्नि का अधिष्ठाता है साथ ही साथ परमेश्वर के अर्थ को भी स्पष्ट करता है; किंतु स्वामी जी ने केवल आध्यात्मिक अर्थ को ही स्वीकार किया है, वह एकाङ्गी विचार है। वैदिक विज्ञान और भारतीय सस्कृति, (पृ० १८-१९) के लेखक स्वामीजी के वेदभाष्य पर विचार करते हुए लिखते हैं कि—

"वैज्ञानिक युग मे उत्पन्न होने के कारण इनकी दृष्टि विज्ञान पर थी, वह स्वाभाविक ही था। साथ ही वैज्ञानिक अर्थ प्रकट करने का इन्होने यत्न भी किया।''''''' स्वामी जी के समय मे भी एक बडी अडचन यह थी कि अन्य विद्वानों की दृष्टि वेदो पर नही थी तब बिना सहायता और बिना गुरु-परम्परा के ज्ञान के, केवल व्याकरण-ज्ञान के बल पर स्वामी जी जो कुछ कर सके, वह भी बहुत किया। दूसरी बात यह थी कि स्वामी जी ने कई कारणों से अपने कुछ सिद्धान्त नियत कर लिए थे। उन पर ठेस लगने देना नही चाहते थे। स्वतन्त्र देवताओं की स्तुति-प्रार्थना वेदो मे स्वीकार कर लेने पर कहीं प्रतीकोपासना सिद्ध न हो जाय, इस भय से इन्द्र, अग्नि, वरुण आदि देवता वाचक शब्दों का अर्थ उन्होने बहुधा 'ईश्वर' ही कर दिया है और इस प्रकार देवता-विज्ञान उनके भाष्य मे अप्रकाशित ही रह गया।''' '''मन्त्रो मे विष्णु आदि शब्दो का अर्थ श्री स्वामीजी ने परमात्मा ही किया है।'''' यह भी देखा जाता है कि विज्ञान के मूल सिद्धान्तों को प्रकट करने की अपेक्षा सामाजिक बातो को, अपने अभिमत आचरणो को और प्रचलित उपभोग की सामग्री को वेद-मन्त्रो मे दिखाने का उन्हें विशेष ध्यान था। इसीलिए जिन मन्त्रो का स्पष्टतया वैज्ञानिक अर्थ हो सकता था, उनको भी उन्होने सामाजिक प्रक्रिया पर ही लगाया है।"

किन्तु निःसन्देह यह सच है कि स्वामी जी ने आधुनिक काल में वेदों के लिए जो कार्य किया है, वेदो की जो पुनः प्रतिष्ठा की है, उसके पठन-पाठन

का जो प्रचार किया है, वेदो के जो मौलिक भाष्य किए हैं, वे अद्वितीय हैं। स्वामीजी ने कृत्रिम मतवादो से हटाकर वेद को उनके मौलिक स्वरूप मे सार्वभौम और उदात्त मानव धर्म के प्रतिपादक की जो प्रतिष्ठा की है, वह अपने मे पूर्ण है।

रुडाल्फ रॉथ—यूरोप के साथ भारत के सम्बन्ध हो जाने के उपरान्त पाश्चात्य विद्वानो की दृष्टि भारतीय वैदिक साहित्य की ओर गई। यूरोपीय विद्वानो ने पूर्ण लगन के साथ वैदिक साहित्य के अध्ययन मे अपने को लगा दिया। विभिन्न प्रकार के ग्रन्थो का सम्पादन तथा अनुवाद वे करने लगे, परन्तु इन यूरोपीय विद्वानो की दृष्टि, पद्धति और उद्देश्य उस वैज्ञानिक के समान है जो एक रसायनशाला मे किसी पदार्थ का विश्लेषण करता है अथवा खुदाई मे प्राप्त किसी एक शिलालेख का अध्ययन करता है।

पाश्चात्य भाष्यकर्त्ताओ ने वेदभाष्य मे दो शैलियो को अपनाया— प्रथम शैली वह थी जो भारतीय विद्वानो के भाष्यो की उपेक्षा कर उन्ही के अनुरूप भाष्य करने थे—उन भाष्य-कर्त्ताओ का कहना था कि भारतीय विद्वान् हमारी अपेक्षा वेदो के अधिक निकट हैं। ठीक इसके विपरीत उन पाश्चात्य विद्वानो का मत है जो भारतीय विद्वानो के भाष्यो की उपेक्षा करते हैं और निरुक्तकार को भी यह मानते हैं कि उनके समय तक वेदो का ठीक अर्थ लुप्त हो चुका था। भाषा-विज्ञान और भाषा-शास्त्र की सहायता से वे वेदो का भाष्य और अर्थ करना चाहते हैं, इस मत के प्रवर्त्तक का ही नाम रुडाल्फ रॉथ है जो कि जर्मन विद्वान् हैं, इनकी वेद विषय पर अपनी स्वतन्त्र वेद व्याख्याएँ हैं, उनका कहना है कि वेदोत्पत्ति के पर्याप्त समय पश्चात् आज एक भारतीय जैसा अर्थ कर सकता है, उससे ... देशीय भाषा-विज्ञान की समालोचना पद्धति पर

की अच्छाइयों को ग्रहण नहीं कर पाते। फलस्वरूप वे न तो परम्पर मार्ग ही दे पाते हैं और न समन्वयात्मक दृष्टिकोण ही। इसलिए मानते हैं कि जहाँ इनके भाष्य की अच्छाई तुलनात्मक-ऐतिहासिक वहाँ परम्परा प्राप्त भारतीय दृष्टिकोण का अभाव एक दोष भी है

रॉथ की शिष्य परम्परा में ग्रासमान जैसे विद्वानों ने वेद का पद्यानुवाद किया है। रॉथ ने सन् १८४६ में 'वेद का साहित्य तथा नामक पुस्तक लिखी। इसमें इन्होंने अपनी भाष्य-शैली के सम्बन्ध किया है। रॉथ ऐतिहासिक परम्परा के अनुकूल ही सेन्ट पीटर्स ब जर्मन महाकोश की रचना करते हैं। इस कोश के निर्माण में शब्द विकास-क्रम से दिया गया है तथा इसमें वैदिक साहित्य से लेकर साहित्य के ग्रंथों तक की सहायता ली गई है।

उत्तर—वैदिक संहिताओं के पश्चात् वैदिक वाङ्मय के क्षेत्र में ब्राह्मण संहिता ही महत्त्वपूर्ण स्थान का अधिकारी है। ब्राह्मण साहित्य से हमारा अभिप्राय यज्ञ-विशेष पर किसी विशिष्ट आचार्य के मत या कथन से है। ब्राह्मण ग्रन्थ सामूहिक रूप से यज्ञ-विधान पर विद्वान् पुरोहितों द्वारा की गई व्याख्याएं ही है। ब्राह्मण शब्द ब्रह्मन् के व्याख्या करने वाले ग्रन्थों को भी कहते हैं। ब्रह्म शब्द स्वयं अपने अर्थों में प्रयुक्त होता है। उन अनेक अर्थों में एक अर्थ मन्त्र है—'ब्रह्म वै मन्त्रः'; (शतपथ ७।१।१।५) इस प्रकार वैदिक मन्त्रों या ऋचाओं की व्याख्या करने वाले ग्रंथों का नाम ब्राह्मण है। ब्रह्म शब्द का दूसरा अर्थ यज्ञ है, याज्ञिक कर्मकाण्ड की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत करने के कारण भी इन ग्रन्थों को ब्राह्मण-ग्रन्थ कहते हैं। श्री बलदेव उपाध्याय ब्राह्मण ग्रन्थों पर विचार करते हुए लिखते है—

"इस प्रकार ब्राह्मणों में मन्त्रों, कर्मों की तथा विनियोगों की व्याख्या है। ब्राह्मणों की अन्तरंग परीक्षा करने पर यह स्पष्ट है कि ब्राह्मण ग्रन्थ यज्ञों की वैज्ञानिक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक मीमांसा प्रस्तुत करने वाला एक महनीय विश्वकोश है।"[१]

ब्राह्मण शब्द का अर्थ करते हुए विन्टरनित्ज् ने अपने इतिहास में लिखा है-*Explanation of utterance of a learned priest of a Doctor of the Science of sacrifice, upon any point of the ritual, used collectively, the word means. Secondly a collection of such utterance and discussions of the priest upon the science of sacrifice.* ब्राह्मण शब्द का अर्थ यह है कि यज्ञ के विधि-विधानों में कुशल विद्वान् पुरोहितों द्वारा यज्ञों के अवसर पर प्रयोग की जाने वाली संहिता भाग की विधियों का संकलन। समष्टि रूप में इस शब्द का अर्थ है, यज्ञगत पुरोहितों के उच्चारणों एवं विवादों का संग्रह। गम्भीर विवेचन करने पर हम यह

नेष्कर्ष सहज ही निकाल लेते हैं कि ब्राह्मण ग्रन्थों की विषय-वस्तु का सीधा म्बन्ध वैदिक संहिताओं से है। मेरा तो अपना विश्वास यह भी है कि विश्व साहित्य में कर्मकाण्ड और याज्ञिक विधि-विधानों का इतना साङ्गोपाङ्ग वतन्त्र एवं मौलिक विवेचन अन्यत्र दुर्लभ है। इन ब्राह्मण नामक ग्रन्थों में याज्ञिक विषयों पर उदीयमान समस्याओं का समाधान है, इसलिए हम इन्हें यज्ञ-विज्ञान की संहिता भी कहें तो अनुपयुक्त न होगा, क्योंकि यज्ञ का क्रिया-कलाप भी स्वयं अपने में एक विज्ञान है। इस प्रकार यज्ञ-विज्ञान का गम्भीर विवेचन करने वाले ग्रन्थ ही ब्राह्मण हैं। The Texts which deal with the science of sacrifice.

ब्राह्मण साहित्य के सर्वाङ्गीण विवेचन करने पर हम इस समग्र 'साहित्य' को दो रूपों में विभक्त कर सकते हैं—एक, विधि और दूसरा, अर्थवाद। इस सम्बन्ध में विचार व्यक्त करते हुए प्रो० विण्टरनित्ज ने लिखा है, "प्राचीन ब्राह्मण ग्रन्थों के विषय को हम विधि और अर्थवाद इन दो भागों में रख सकते हैं। विधि का अर्थ होता है, नियम और अर्थवाद का अभिप्राय है, प्रशस्तिपूर्ण व्याख्या। ब्राह्मण ग्रन्थों में हमें कर्म अनुष्ठान विधि मिलती है और इन विधियों पर यज्ञ, कर्म तथा प्रार्थनाओं के अर्थ और उद्देश्य के ज्ञान के लिए भाष्य और व्याख्याएँ मिलती है जैसा कि पाश्चात्य अनुसंधान-शास्त्रियों को भी मान्य है।"[1]

शबर स्वामी ने ब्राह्मण-ग्रन्थों की विषय-सामग्री को इस श्लोक में संग्रहीत किया है—

> हेतुर्निर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः
> परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारण-कल्पना।
> उपमानं दशैते तु विधयो ब्राह्मणस्य तु॥
>
> —शाबर भाष्य २।१।८

अर्थात् यज्ञ का विधान क्यों किया जाय, कब किया जाय, कैसे किया जाय, किन साधनों से किया जाय, इस यज्ञ के अधिकारी कौन हैं और कौन नहीं; आदि विभिन्न विषयों का निर्देश इन ब्राह्मण ग्रन्थों में होता है। अर्थवाद में निन्दा तथा प्रशंसा का योग रहता है, योग में निषिद्ध एवं उपयोगी वस्तुओं की निन्दा एवं प्रशंसा, द्वितीय विधि की सोपयुक्तता—अन हेतु का

---

1. वैदिक साहित्य की रूपरेखा : पाण्डेय एवं जोशी, पृ० १६३

उत्तर—वैदिक सहिताओ के पश्चात् वैदिक वाङ्मय के समग्र क्षेत्र मे ब्राह्मण सहिता ही महत्त्वपूर्ण स्थान का अधिकारी है। ब्राह्मण साहित्य से हमारा अभिप्राय यज्ञ-विशेष पर किसी विशिष्ट आचार्य के मत या दृष्टि से है। ब्राह्मण ग्रन्थ सामूहिक रूप से यज्ञ-विधान पर विद्वान् पुरोहितो द्वारा की गई व्याख्याएं ही है। ब्राह्मण शब्द ब्रह्मन् के व्याख्या करने वाले ग्रन्थों को भी कहते है। ब्रह्म शब्द स्वय अपने अर्थों मे प्रयुक्त होता है। उन अनेक अर्थों मे एक अर्थ मन्त्र है—'ब्रह्म वै मन्त्रः'; (शतपथ ७।१।१।५) इस प्रकार वैदिक मन्त्रो या ऋचाओं की व्याख्या करने वाले ग्रथो का नाम ब्राह्मण है। ब्रह्म शब्द का दूसरा अर्थ यज्ञ है, याज्ञिक कर्मकाड की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत करने के कारण भी इन ग्रन्थो को ब्राह्मण-ग्रन्थ कहते हैं। श्री बलदेव उपाध्याय ब्राह्मण ग्रन्थो पर विचार करते हुए लिखते हैं—

"इस प्रकार ब्राह्मणो मे मन्त्रो, कर्मों की तथा विनियोगो की व्याख्या है। ब्राह्मणो की अन्तरग परीक्षा करने पर यह स्पष्ट है कि ब्राह्मण ग्रन्थ यज्ञों की वैज्ञानिक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक मीमासा प्रस्तुत करने वाला एक महनीय विश्वकोश है।"[१]

ब्राह्मण शब्द का अर्थ करते हुए विन्टरनिट्ज़ ने अपने इतिहास मे लिखा है–Explanation of utterance of a learned priest of a Doctor of the Science of sacrifice, upon any point of the ritual, used collectively, the word means. Secondly a collection of such utterance and *discussions* of the priest upon the science of sacrifice. ब्राह्मण शब्द का अर्थ यह है कि यज्ञ के विधि-विधानों मे कुशल विद्वान् पुरोहितो द्वारा यज्ञो के अवसर पर प्रयोग की जाने वाली सहिता भाग की विधियो का सकलन। समष्टि रूप मे इस शब्द का अर्थ है, यज्ञगत पुरोहितों के उच्चारणों एव विवादो का सग्रह। गम्भीर विवेचन करने पर हम यह

निष्कर्ष सहज ही निकाल लेते हैं कि ब्राह्मण ग्रन्थो की विषय-वस्तु का सीधा सम्बन्ध वैदिक संहिताओ से है। मेरा तो अपना विश्वास यह भी है कि विश्व साहित्य मे कर्मकाण्ड और याज्ञिक विधि-विधानो का इतना साङ्गोपाङ्ग स्वतन्त्र एव मौलिक विवेचन अन्यत्र दुर्लभ है। इन ब्राह्मण नामक ग्रन्थों मे याज्ञिक विषयो पर उदीयमान समस्याओ का समाधान है, इसलिए हम इन्हे यज्ञ-विज्ञान की संहिता भी कहे तो अनुपयुक्त न होगा, क्योंकि यज्ञ का क्रिया-कलाप भी स्वय अपने मे एक विज्ञान है। इस प्रकार यज्ञ-विज्ञान का गम्भीर विवेचन करने वाले ग्रन्थ ही ब्राह्मण है। The Texts which deal with the science of sacrifice.

ब्राह्मण साहित्य के सर्वाङ्गीण विवेचन करने पर हम इस समग्र 'साहित्य' को दो रूपो मे विभक्त कर सकते है—एक, विधि और दूसरा, अथवाद। इस सम्बन्ध मे विचार व्यक्त करते हुए प्रो० विण्टरनिट्ज ने लिखा है, "प्राचीन ब्राह्मण ग्रन्थो के विषय को हम विधि और अर्थवाद इन दो भागो मे रख सकते है। विधि का अर्थ होता है, नियम और अथवाद का अभिप्राय है, प्रशस्तिपूर्ण व्याख्या। ब्राह्मण ग्रन्थो मे हमे कर्म अनुष्ठान विधि मिलती है और इन विधियो पर यज्ञ, कर्म तथा प्रार्थनाओ के अर्थ और उद्देश्य के ज्ञान के लिए भाष्य और व्याख्याएँ मिलती है जैसा कि पाश्चात्य अनुसधान-शास्त्रियो को भी मान्य है।"[1]

शबर स्वामी ने ब्राह्मण-ग्रन्थो की विषय-सामग्री को इस श्लोक मे संग्रहीत किया है—

> हेतु निर्वचनं निन्दा प्रशसा सशयो विधिः
> परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारण-कल्पना।
> उपमान दशते तु विधयो ब्राह्मणस्य तु॥
>
> —शाबर भाष्य २।१।८

अर्थात् यज्ञ का विधान क्यो किया जाय, कब किया जाय, कैसे किया जाय, किन साधनो से किया जाय, इस यज्ञ के अधिकारी कौन है और कौन नही; आदि विभिन्न विषयो का निर्देश इन ब्राह्मण ग्रन्थो मे होता है। अर्थवाद मे निन्दा तथा प्रशसा का योग रहता है, योग मे निषिद्ध एव उपयोगी वस्तुओ की निन्दा एव प्रशसा, यज्ञीय विधि की सोपयुक्तता—अत हेतु का

---

१. वैदिक साहित्य की रूपरेखा : पाण्डेय एवं जोशी, पृ० १६०

निर्देश; अनुष्ठेय विधान की पुष्टि के लिए प्राचीन इतिहास तथा आख्यान के उद्धरण; शब्द-विशेष की व्युत्पत्ति प्रदर्शन; विविध विधियों का विधान आदि ब्राह्मण ग्रन्थों के विषय हैं; किन्तु यह सर्वांश में सत्य है कि इन ग्रन्थों में विधि का प्राधान्य है। अन्य सभी विषय उस यज्ञीय विधि के उपकारक, व्याख्यात्मक तथा विधि को पूर्णता प्रदान करते हैं।

ब्राह्मण काल की संस्कृति में वैदिक याज्ञिक कर्मकाण्ड चरम विकास को प्राप्त हो चुका था, मानव मात्र का अनुष्ठेय कर्म यज्ञ ही था, समस्त सुखों के वैभव की उपलब्धि भी यज्ञकर्म से होती थी। यज्ञ ही देवता था वही विष्णु भी था "यज्ञो वै विष्णुः" तथा यज्ञ ही देवपूजा, सगति, दान आदि का आधार था, उन्हीं यज्ञों का सर्वाङ्गीण विवेचन इन ब्राह्मण ग्रन्थों का उद्देश्य है। वैदिक एवं ब्राह्मण संस्कृति के मूलभूत सिद्धान्तों की विवेचना इन ग्रन्थों में है इनका महत्त्व इसी मे निहित है। वैसे तो विण्टरनिट्ज़ के लिए ब्राह्मण ग्रन्थ यज्ञ कर्म रूपी नीरस झाड-झकाड़ तथा व्यर्थ की बकवाद ही है तथा मैक्समूलर की दृष्टि मे भारतीयों के लिए भले ही इनका कुछ महत्त्व हो; किन्तु भारतीय धर्म एवं संस्कृति पर जिसकी आस्था नहीं है, उसके लिए ये निरर्थक ही हैं क्योंकि इनमे न तो विचारों की व्यापकता है और न कलागत प्रौढ़ता ही। "ब्राह्मण ग्रन्थ का एक बहुत बड़ा भाग केवल निरर्थक प्रलाप मात्र है जब आध्यात्मिक प्रलाप आरम्भ होता है तो वह अंश और भी अधिक निरर्थक प्रतीत होता है। कोई भी पाठक इनके कुछ पृष्ठ पढ़कर ही उद्विग्नता का अनुभव करने लगता है।" परन्तु भारतीय साहित्य के तत्व जिज्ञासु के लिए भारतीय धर्म के अध्ययन के लिए इनकी अपरिहार्यता निश्चित है। श्री पाण्डे एवं जोशी लिखते हैं कि—

भारतीयों के पीछे के काल के सम्पूर्ण धार्मिक और दार्शनिक साहित्य के ज्ञान के दृष्टिकोण से ब्राह्मण ग्रन्थ अत्यन्त ही उपादेय हैं और एक धर्म के विज्ञान के इतिहास का अध्ययन करने वाले विद्यार्थी को अत्यन्त ही आनन्द प्रदायक भी हैं। "ये ब्राह्मण ग्रन्थ पौरोहित्य धर्म के इतिहास के लिए धर्म के विद्यार्थी के पास बहुमूल्य प्रमाण हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे कि प्रार्थना के इतिहास के लिए यजुर्वेद की संहिताएँ बहुमूल्य प्रमाण हैं।"[1]

---

१. वैदिक साहित्य की रूपरेखा, ८

ब्राह्मण साहित्य मे अपने-अपने विषय के आधार पर भिन्नता है। जहाँ ऋग्वेद के ब्राह्मणो मे 'होता' नामक ऋत्विज के कार्यों की विवेचना है जो कि यज्ञो मे ऋचाओ का उच्चारण करता है। सामवेदीय ब्राह्मण 'उद्गाता' नामक ऋत्विज के कार्यों का परिचायक है तथा यजुर्वेदी ब्राह्मण 'अध्वर्यु' के कर्मकाण्ड की व्याख्या करते हैं। अथर्ववेद के ब्राह्मण 'ब्रह्मा' नामक ऋत्विज के याज्ञिक कार्यों का निर्देशक एव उपस्थापक है। इस प्रकार विषय-वस्तु की दृष्टि से भिन्नता होने पर भी उनमे समानता यह है कि वे सब परस्पर अविरुद्ध हैं। सभी मे एक ही विषय पर एक ही प्रकार की चर्चा है। एक ही आदर्श है। समस्त कृतियो मे भावात्मक एकता है। ब्राह्मण साहित्य का स्थान सहिताओं के उपरान्त आता है। ब्राह्मण ग्रन्थ यज्ञ-यागादि के प्रामाण्यवाद क प्रतिपादक हैं, कर्मकाण्डीय विधि-विधान के मूल स्रोत हैं, भारतीय एवं ब्राह्मण सस्कृति के अमर चित्र हैं। जहाँ वह अपने भव्यरूप म देदीप्यमान है। भारतीय सस्कृति के तथा भारतीय विचार-परम्पराओ के अनुवर्त्ती विद्वान् के लिए गौरव ग्रन्थ हैं। इनका वैदिक साहित्य मे महत्त्वपूर्ण स्थान है।

ब्राह्मण साहित्य के विकास की ओर दृष्टि निक्षेप करने पर हमे यह आभास होने लगता है कि किसी समय इस प्रकार के अनेक ग्रन्थो की सत्ता रही होगी, क्योंकि आज उपलब्ध ब्राह्मण ग्रन्थो म इस प्रकार क अनेक अन्य ब्राह्मण ग्रन्थो का उल्लेख मिलता है जो आज अनुपलब्ध है। चारो वैदिक सहिताओ के अपने-अपने ब्राह्मण है। मूल यजुर्वेद मे एक अश एसा उपलब्ध होता है जिसमे मन्त्रो के अतिरिक्त यज्ञो की क्रियाओ के अर्थ, उनकी प्रयोग-विधि एव मत-मतान्तरो की समीक्षा भी है। कृष्ण यजुर्वेद क इन स्थलो को जिनमे यज्ञ-क्रियाओ का निर्देश तथा तत्सम्बद्ध विचार व्यक्त किये गये है, उनको हम निश्चय ही ब्राह्मण साहित्य के प्रारम्भिक रूप स्वीकार कर सकते हैं। यह भी कह सकते है कि यही वे अश हैं जिन्होने ब्राह्मण साहित्य के उदय को विकास प्रदान किया है। इस प्रकार के ग्रन्थो का किसी काल मे अत्यधिक निर्माण हुआ, निर्माण होने के अनन्तर उन्हे प्रत्येक वेद से सम्बद्ध कर दिया गया, विभिन्न शाखाओ से उनका सम्बन्ध जोड दिया गया। पाश्चात्य विद्वानो की दृष्टि से इन ग्रन्थो का बहुत-सा अश वाग्जाल के अतिरिक्त कुछ नहीं है। इनके से कुछ ग्रन्थ तो अन्त.-बाह्य किसी भी दृष्टि से पढ़ने के योग्य नही हैं, उदाहरण के लिए, सामवेद के कुछ ब्राह्मणो को लिया जा सकता है। मेरे विचार से उन्हे वेदाङ्ग कहना ही

निर्देश; अनुष्ठेय विधान की पुष्टि के लिए प्राचीन इतिहास
उद्धरण; शब्द-विशेष की व्युत्पत्ति प्रदर्शन; विविध विधियों का
ब्राह्मण ग्रन्थो के विषय हैं; किन्तु यह सर्वांश मे सत्य है कि इन ग्रन्थो मे
का प्राधान्य है। अन्य सभी विषय उस यज्ञीय विधि के उपकारक,
तथा विधि को पूर्णता प्रदान करते हैं।

ब्राह्मण काल की सस्कृति मे वैदिक याज्ञिक कर्मकाण्ड चरम विकास को
प्राप्त हो चुका था, मानव मात्र का अनुष्ठेय कर्म यज्ञ ही था, समस्त सुखों के,
वैभव की उपलब्धि भी यज्ञकर्म से होती थी। यज्ञ ही देवता था वही वि
भी था "यज्ञो वै विष्णु" तथा यज्ञ ही देवपूजा, सगति, दान आदि का आधार
था, उन्ही यज्ञो का सर्वाङ्गीण विवेचन इन ब्राह्मण ग्रन्थो का उद्देश्य है।
वैदिक एव ब्राह्मण सस्कृति के मूलभूत सिद्धान्तो की विवेचना इन ग्रन्थो मे है।
इनका महत्त्व इसी मे निहित है। वैसे तो विण्टरनिट्ज़ के लिए ब्राह्मण
ग्रन्थ यज्ञ कर्म रूपी नीरस झाड़-झकाड़ तथा व्यर्थ की बकवाद ही है तथा
मैक्समूलर की दृष्टि मे भारतीयों के लिए भले ही इनका कुछ महत्त्व हो; कि
भारतीय धर्म एव सस्कृति पर जिसकी आस्था नहीं है, उसके लिए ये निरर्थक
ही हैं क्योंकि इनमे न तो विचारो की व्यापकता है और न कलागत शोभा
ही। "ब्राह्मण ग्रन्थ का एक बहुत बड़ा भाग केवल निरर्थक प्रलाप मात्र है।
जब आध्यात्मिक प्रलाप आरम्भ होता है तो वह भाग और भी अधिक निरर्थक
प्रतीत होता है। कोई भी पाठक इनके कुछ पृष्ठ पढ़कर ही उद्विग्नता का
अनुभव करने लगता है।" परन्तु भारतीय साहित्य के तत्त्व जिज्ञासु के लिए
भारतीय धर्म के अध्ययन के लिए इनकी अनिवार्यता निर्विवाद है। श्री पाण्डेय
एव जोशी लिखते हैं कि—

ता है। इस ब्राह्मण के तृतीय अध्याय की सातवीं पंचिका मे शुनःशेप एवं नरेय ब्राह्मण का आख्यान चर्चित है।

**सामवेदी ब्राह्मण**—सामवेद से सम्बद्ध चार ब्राह्मण मिलते हैं। इनमें थम महत्त्वपूर्ण ब्राह्मण का नाम **तांड्य ब्राह्मण** है। यह पच्चीस अध्यायों ी रचना है। इसलिए इसे **पञ्चविंश ब्राह्मण** भी कहा जाता है। रचना की ष्टि से यह प्रौढ़ एवं प्राचीनतम है। इसमे सामान्यत. सोमयज्ञ का वर्णन । एक दिन से लेकर वर्षों तक चलने वाले यज्ञो की चर्चा इसमे है। अनेक ाख्यानो का समावेश है, सरस्वती एवं दृषद्वती के तट पर होने वाले यज्ञ नके कर्ता तथा काल आदि का भी इसमे उल्लेख मिलता है। इस ब्राह्मण मे *ात्य-स्तोम नामक एक अन्य यज्ञ का भी विधान है जिसके माध्यम से व्रात्यो भ्रष्टो)* को शुद्ध करके आर्यों अथवा ब्राह्मण जाति मे उन्हे स्वीकार किया ाता था।

**षड्विंश ब्राह्मण**—यद्यपि रचना की दृष्टि से यह पूर्णत स्वतन्त्र होने पर ी **तांड्य ब्राह्मण** का अगभूत ब्राह्मण स्वीकार किया जाता है। इसके न्तिम अध्यायो को अद्भुत ब्राह्मण कहा जाता है इसमे इन्द्रजाल तथा लौकिक घटनाओ का उल्लेख है। इसमे देवो के हास्य एवं रोदन का भी केत है।

**जैमिनीय ब्राह्मण**—तवलकार शाखा का यह ब्राह्मण ताड्य की अपेक्षा प्राचीन रचना है। इसमें पाँच मण्डल हैं। प्रथम तीन मण्डलो मे याज्ञिक विधि का वर्णन है। चौथा मण्डल उपनिषद् ब्राह्मण कहलाता है। इसका विषय केनोपनिषद् जैसा ही है। पाँचवें मण्डल का नाम **आर्षेय ब्राह्मण** है। इसमे साम-वेदीय ऋषीय की एक लम्बी सूची है। 'जैमिनीय ब्राह्मण' धर्म व आख्यान के इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, किन्तु यह जीर्ण-शीर्ण स्थिति मे ही उपलब्ध है। डा० रघुवीर ने इस महत्त्वपूर्ण ब्राह्मण को पूर्ण रूप से प्रकाशित किया है। यह 'जैमिनीय ब्राह्मण' शतपथ ब्राह्मण के समान ही वैदिक विपुलकाय यागानु-ष्ठानों के रहस्य दर्शन के लिए नितान्त महत्त्वपूर्ण रचना है।

**सामविधान**—कुमारिल भट्ट के अनुसार निर्दिष्ट आठ ब्राह्मणो में से यह एक अन्यतम रचना है। इसकी विषय-सामग्री ब्राह्मण ग्रन्थों मे वर्णित सामग्री से नितान्त भिन्न है। इस ब्राह्मण ग्रन्थ में जादू-टोना तथा शत्रु-विनाश, धनो-पार्जन, नाना उपद्रवो की शान्ति के लिए सामगायन के साथ कुछ अनुष्ठानो

अधिक ठीक होगा। अथर्ववेद का प्रारम्भ में कोई ब्राह्मण नहीं था, उसका बाद मे निर्माण हुआ जिसका नाम 'गोपथ ब्राह्मण' है। गोपथ ब्राह्मण समस्त ब्राह्मण साहित्य की अन्तिम कड़ी के रूप में प्रतिष्ठित है।

अब हम क्रमशः प्रत्येक वेद से सम्बद्ध विभिन्न ब्राह्मण ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय देंगे।

ऋग्वेद—इस वेद के ब्राह्मणो पर दृष्टि निक्षेप करने पर हमे दो ब्राह्मण ग्रन्थ मिलते हैं; प्रथम—ऐतरेय ब्राह्मण, द्वितीय—कौषीतकी ब्राह्मण। 'ऐतरेय ब्राह्मण' ऋग्वेद का महत्त्वपूर्ण ब्राह्मण है। इस ग्रन्थ में चालीस अध्याय हैं जिन्हे आठ पचको मे विभक्त किया गया है। इस ब्राह्मण के लेखक या सम्पादक कर्त्ता के रूप मे महीदास ऐतरेय का नाम लिया जाता है। प्रस्तुत ब्राह्मण मे सोमयज्ञ का सविस्तार वर्णन मिलता है। प्रारम्भिक सोलह अध्यायों में एक दिन मे समाप्त होने वाले अग्निष्टोम नामक सोम यज्ञ का वर्णन है। सत्तरह एव अठारहवे अध्याय मे ३६० दिन मे पूर्ण होने वाले गवामयन नामक सोम यज्ञ का वर्णन है। उन्नीसवे अध्याय से लेकर चौबीसवें अध्याय तक बारह दिन मे पूर्ण होने वाले द्वादशाह नामक सोम यज्ञ का वर्णन है। अवशिष्ट अध्यायो मे अग्निष्टोम यज्ञ तथा अन्य विषयो का उल्लेख है। तेईस से लेकर चालीसवें अध्याय तक राज्याभिषेक तथा राजपुरोहित आदि की स्थिति का भी दिग्दर्शन किया गया है। इस ब्राह्मण के अन्तिम दस अध्यायो की रचना परवर्त्ती मानी गई है।

ऋग्वेद के दूसरे ब्राह्मण का नाम कौषीतकी है। इसे सांख्यायन ब्राह्मण भी कहा जाता है। यह ब्राह्मण ग्रन्थ ऐतरेय ब्राह्मण के प्रथम पांच अध्यायों का ही परिवर्द्धित रूप है। प्रारम्भिक छ अध्यायो मे विविध (अन्न, यज्ञ, अग्निहोत्र यज्ञ, पौर्णमासेष्टि यज्ञ, ऋतु यज्ञ आदि) यज्ञों का वर्णन है। सातवें से लेकर तीसवें अध्याय तक ऐतरेय ब्राह्मण मे वर्णित सोमयज्ञ का सविस्तार विवेचन किया गया है। इसमें ऐतरेय की अपेक्षा अधिक नवीनता विद्यमान है। ऐतरेय ब्राह्मण मे यत्र-तत्र संग्रह प्रवृत्ति को देखकर यह पता चलता है कि यह एक व्यक्ति की कृति नही है; किन्तु कौषीतकी ब्राह्मण की भावभूमि मे एकता विद्यमान है। प्रो० वेबर ने ईशान एव महादेव से असम्बद्ध प्रमाणित किया है कि यह ब्राह्मण शुक्ल यजुर्वेद के अ[illegible] काल में ही बन चुका था। इस ब्राह्मण की एक अपनी वि[illegible]

का विधान है। इस ब्राह्मण के तीन प्रकरण हैं जिनमें धर्मसूत्रों में वर्णित दोष, अपराध, उनके प्रायश्चित्त का प्रतिपादन है। इन आधारों पर हम इस ग्रन्थ को सूत्र रचना कह सकते हैं। ऊपर निर्दिष्ट ब्राह्मणों के अतिरिक्त दैवत ब्राह्मण, उपनिषद् ब्राह्मण, संहितोपनिषद् ब्राह्मण, वंश ब्राह्मण का भी नाम कुछ ग्रन्थों में मिल जाता है जो कि स्वल्पाकार रचनाएँ हैं।

**कृष्ण यजुर्वेद—तैत्तिरीय ब्राह्मण**—इस वेद का 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' ही एकमात्र उपलब्ध ब्राह्मण है। एक दूसरे 'काठक ब्राह्मण' का भी नाम सुना जाता है किन्तु वह प्राप्त नहीं है। तैत्तिरीय ब्राह्मण शतपथ ब्राह्मण के समान प्राचीन रचना प्रतीत होता है। यह ग्रन्थ तीन भागों में विभक्त है जिन्हें काण्ड कहते हैं। प्रथम काण्ड में अग्न्याधान, गवामयन, वाजपेय, सोम, नक्षत्रेष्टि तथा राजसूय का वर्णन है। द्वितीय काण्ड में अग्निहोत्र, सौत्रामणि, बृहस्पतिसव, वैश्यसव आदि सवों का वर्णन है। तृतीय काण्ड अर्वाचीन रचना है जिसमें नक्षत्रेष्टि का वर्णन है। पुरुषमेध का वर्णन है।

**शुक्ल यजुर्वेदीय ब्राह्मण**—'शतपथ ब्राह्मण ग्रन्थों में शीर्ष स्थानीय है। यह ब्राह्मण सर्वाधिक प्रसिद्ध स्पष्ट विषयवस्तु-युक्त एवं सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इस ब्राह्मण में सौ अध्याय हैं अतः इसे 'शतपथ' के नाम से अभिहित किया जाता है। इस सुगठित ब्राह्मण का वैदिक साहित्य में ऋग्वेद के उपरान्त ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। वाजसनेयी संहिता की भाँति ही इस ब्राह्मण की भी दो शाखाएं हैं—प्रथम का नाम काण्व एवं द्वितीय का नाम माध्यन्दिनीय। माध्यन्दिनीय शाखा के इस ब्राह्मण में सौ अध्याय हैं, इन अध्यायों का विभाजन चौदह काण्डों में हुआ है। इसके प्रारम्भिक नौ काण्ड यजुर्वेदीय वाजसनेयी संहिता के प्रथम अठारह अध्यायों की विस्तृत व्याख्या है। यह अंश अन्तिम पांच अध्यायों से प्राचीनतर है। प्रथम से लेकर पंचम काण्ड तक विषय की दृष्टि से एकरूपता है। इन अध्यायों में याज्ञवल्क्य एकमात्र आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित हैं। याज्ञवल्क्य ही चौदहवें काण्ड में शतपथ के लेखक के रूप में उल्लिखित हैं; किन्तु ६ से ९ तक के काण्डों में जिनमें अग्नि-चयन का वर्णन है, याज्ञवल्क्य का कहीं उल्लेख नहीं है। इनके स्थान पर शाण्डिल्य नामक आचार्य को मान्यता प्राप्त है। यही आचार्य शाण्डिल्य दसवें काण्ड में वर्णित अग्निरहस्य के उपदेशक हैं। ग्यारहवें से लेकर तेरहवें काण्ड उपनयन स्वाध्याय, अन्त्येष्टि, अश्वमेध, पुरुषमेध, सर्वमेध आदि यज्ञों का

तथा सोदहवें काण्ड मे प्रवर्ग्य उन्नत का वर्णन है। इसी काण्ड के अन्त मे हम उस महत्त्वपूर्ण बृहदारण्यक उपनिषद् को प्राप्त करते हैं जो दार्शनिक तत्वज्ञान के लिए अन्यतम है।

प्रश्न—वैदिक साहित्य में 'शतपथ ब्राह्मण' का क्या महत्त्व है, स्पष्ट कीजिए।

What is the importance of Sata Path Brahmana in the History of Vedic literature. —आ० वि० वि० ५६

उत्तर—'शतपथ ब्राह्मण' के ऊपर प्रदत्त परिचय से उसके महत्त्व का भी आभास मिल जाता है। शतपथ ब्राह्मण का काल याज्ञिक विधि-विधान के पूर्ण विकास का है। 'शतपथ ब्राह्मण' के वर्ण्य-विषयो के विस्तार, विचार-परम्परा या विवरण के कारण यह ब्राह्मण ब्राह्मण-ग्रन्थो मे मूर्धन्य स्वीकार किया जा सकता है। यह प्राचीनतम ब्राह्मणो मे से एक ब्राह्मण है यद्यपि इसकी प्राचीनता के सम्बन्ध मे पाश्चात्य विद्वानो मे दो मत हैं—पहला डा० वाकरनागेल का है जो ऐतरेय और शतपथ की अपेक्षा पञ्चविंश और तैत्तिरीय को प्राचीन मानते हैं। इस मत का समर्थन डा० ओल्डनवर्ग ने भी सस्कृत के विकास के इतिहास प्रसग मे किया है। जहाँ प्रचीन गद्य का उदाहरण 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' से तथा अर्वाचीन ब्राह्मण गद्य का उदाहरण 'शतपथ ब्राह्मण' से देकर किया है; किन्तु डा० कीथ का विचार कुछ इससे भिन्न है। उसके मत मे 'शतपथ ब्राह्मण' अन्य ब्राह्मणों की अपेक्षा प्राचीनतर है। 'शतपथ ब्राह्मण' स्वरांकित रूप मे मिलता है यह उसकी प्राचीनता का द्योतक पुष्ट प्रमाण - तैत्तिरीय ब्राह्मण को प्राचीन स्वीकार करने का एक तर्क यही . . है। याज्ञिक विधि-विधानो का इस ब्राह्मण मे पूर्ण प्रकर्ष . . यज्ञ के आध्यात्मिक रहस्य का पर्यालोचन करने के कारण भी इसका . . महत्त्वपूर्ण स्थान है। आख्यान साहित्य की दृष्टि से भी यह ब्राह्मण महत्त्वपूर्ण ब्राह्मण है। प्राचीन आख्यानो मे मनु की कथा बडी मार्मिक तथा सरस है इसमे निबद्ध है। पुराणो के मत्स्यावतार की गाथा भी इसी ब्राह्मण सर्वप्रथम निहित मिलती है। जहाँ प्रलयङ्कर बाढ के आने पर इसी मत्स्य ने मनु की रक्षा की थी। यह कथा इसी रूप मे बाइबिल मे भी मिलती है। इस ब्राह्मण मे सांख्य दर्शन के आचार्य आसुरी, कुरुपति जनमेजय, पाण्डव

का विधान है। इस ब्राह्मण के तीन प्रकरण हैं जिनमे धर्मसूत्रों मे वर्णित दोष, अपराध, उनके प्रायश्चित्तो का प्रतिपादन है। इन आधारो पर हम इस ग्रन्थ को नूतन रचना कह सकते हैं। ऊपर निर्दिष्ट ब्राह्मणो के अतिरिक्त दैवत ब्राह्मण, उपनिपद् ब्राह्मण, संहितोपनिपद् ब्राह्मण, वेश ब्राह्मण का भी नाम कुछ ग्रन्थों मे मिल जाता है जो कि स्वल्पाकार रचनाएँ हैं।

**कृष्ण यजुर्वेदीय—तैत्तिरीय ब्राह्मण**—इस वेद का 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' ही एकमात्र उपलब्ध ब्राह्मण है। एक दूसरे 'काठक ब्राह्मण' का भी नाम सुना जाता है किन्तु वह प्राप्त नही है। तत्तिरीय ब्राह्मण शतपथ ब्राह्मण के समान अर्वाचीन रचना प्रतीत होता है। यह ग्रन्थ तीन भागो मे विभक्त है जिन्हे काण्ड कहते है। प्रथम काण्ड मे अग्न्याधान, गवामयन, वाजपेय, सोम, नक्षत्रेष्टि तथा राजसूय का वर्णन है। द्वितीय काण्ड मे अग्निहोत्र, सौत्रामणि, बृहस्पतिसव; वैश्यसव आदि सबो का वर्णन है। तृतीय काण्ड अर्वाचीन रचना है जिसमे नक्षत्रेष्टि का वर्णन है। पुरुषमेध का वणन है।

**शुक्ल यजुर्वेदीय ब्राह्मण**—'शतपथ ब्राह्मण ग्रन्थो मे शीर्ष स्थानीय है। यह ब्राह्मण सर्वाधिक प्रसिद्ध स्पष्ट विपयवस्तु-युक्त एव सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इस ब्राह्मण मे सौ अध्याय है अतः इसे 'शतपथ' के नाम से अभिहित किया गया है। इस सुगठित ब्राह्मण का वैदिक साहित्य मे ऋग्वेद के उपरान्त ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। वाजसनेयी संहिता की भाँति ही इस ब्राह्मण की भी दो शाखाएं हैं—प्रथम का नाम काण्ड एव द्वितीय का नाम माध्यन्दिनीय। माध्यन्दिनीय शाखा के इन ब्राह्मण मे सौ अध्याय हैं, इन अध्यायों का विभाजन चौदह काण्डो मे हुआ है। इसके प्रारम्भिक नौ काण्ड यजुर्वेदीय वाजसनेयी संहिता के प्रथम अठारह अध्यायो की विस्तृत व्याख्या है। यह अन्तिम पाँच अध्यायो से प्राचीनतर है। प्रथम से लेकर पचम काण्ड तक ... की दृष्टि से एकरूपता है। इन अध्यायों मे याज्ञवल्क्य एकमात्र ...र्य के रूप म प्रतिष्ठित है। याज्ञवल्क्य ही चौदहवें काण्ड मे शतपथ के ... के रूप मे उल्लिखित हैं; किन्तु ६ से ९ तक के काण्डो मे जिनमे अग्नि... का वर्णन है, याज्ञवल्क्य का कहीं उल्लेख नहीं है। इनके स्थान पर ...ल्य नामक आचार्य को मान्यता प्राप्त है। यही आचार्य शाण्डिल्य दसवें ... मे वर्णित अग्निरहस्य के उपदेशक है। ग्यारहवें से लेकर तेरहवें काण्ड ...न स्वाध्याय, अन्त्येष्टि, अश्वमेध, पुरुषमेध, सर्वमेध आदि यज्ञों का

तथा चौदहवें काण्ड मे प्रवर्ग्य उन्मव का वर्णन है । इसी काण्ड के अन्त मे हम उस महत्त्वपूर्ण बृहदारण्यक उपनिषद् को प्राप्त करते हैं जो दार्शनिक तत्वज्ञान के लिए अन्यतम है ।

प्रश्न—वैदिक साहित्य में 'शतपथ ब्राह्मण' का क्या महत्त्व है, स्पष्ट कीजिए ।

What is the importance of Sata Path Brahmana in the History of Vedic literature. —आ० वि० वि० ५६

उत्तर—'शतपथ ब्राह्मण' के ऊपर प्रदत्त परिचय से उसके महत्त्व का भी आभास मिल जाता है । शतपथ ब्राह्मण का काल याज्ञिक विधि-विधान के पूर्ण विकास का है । 'शतपथ ब्राह्मण' के वर्ण्य-विषयो के विस्तार, विचार-परम्परा तथा विवरण के कारण यह ब्राह्मण ब्राह्मण-ग्रन्थो मे मूर्धन्य स्वीकार किया जा सकता है । यह प्राचीनतम ब्राह्मणो मे मे एक ब्राह्मण है यद्यपि इसकी प्राचीनता के सम्बन्ध मे पाश्चात्य विद्वानो मे दो मत हैं—पहला डा० वाकरनागेल का है जो ऐतरेय और शतपथ की अपेक्षा पञ्चविंश और तैत्तिरीय को प्राचीन मानते हैं । इस मत का समर्थन डा० ओल्डनवर्ग ने भी सस्कृत के विकास के इतिहास प्रसग मे किया है । जहाँ प्रचीन गद्य का उदाहरण 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' से तथा अर्वाचीन ब्राह्मण गद्य का उदाहरण 'शतपथ ब्राह्मण' से देकर किया है; किन्तु डा० कीथ का विचार कुछ इससे भिन्न है । उसके मत मे 'शतपथ ब्राह्मण' अन्य ब्राह्मणों की अपेक्षा प्राचीनतर है । 'शतपथ ब्राह्मण' स्वराकित रूप मे मिलता है यह उसकी प्राचीनता का द्योतक पुष्ट प्रमाण है; क्योकि तैत्तिरीय ब्राह्मण को प्राचीन स्वीकार करने का एक तर्क यही स्वराकन पद्धति है । याज्ञिक विधि-विधानों का इस ब्राह्मण मे पूर्ण प्रकर्ष मिलता है तथा यज्ञ के आध्यात्मिक रहस्य का पर्यालोचन करने के कारण भी इसका एक महत्त्वपूर्ण स्थान है । आख्यान साहित्य की दृष्टि से भी यह ब्राह्मण महत्त्वपूर्ण ब्राह्मण है । प्राचीन आख्यानो मे मनु की कथा बडी मार्मिक तथा सरस रूप मे इसमे निबद्ध है । पुराणो के मत्स्यावतार की गाथा भी इसी ब्राह्मण मे सर्वप्रथम निहित मिलती है । जहाँ प्रलयङ्कर बाढ़ के आने पर इमी अपूर्व मत्स्य ने मनु की रक्षा की थी । यह कथा इसी रूप मे बाइबिल मे भी मिलती है । इस ब्राह्मण मे साख्य दर्शन के आचार्य आसुरी, कुरुपति जनमेजय, पाण्डव

प्रमुख अर्जुन तथा जनक उपाधिधारी राजाओं का उल्लेख मिलता है।
में याज्ञवल्क्य के गुरु उद्दालक आरुणि का व्यक्तित्व एवं पांडित्य आकर्ष
से उपन्यस्त है। अतः हम कह सकते हैं कि ऐतिहासिक तथ्यों के उद्घा
लिए भी इस ग्रन्थ की महत्ता अक्षुण्ण है। आर्यों के प्रसार के इतिवृत्तात्मक
प्रदान करने में भी यह ब्राह्मण अपना योगदान करता है। शतपथ ब्रा
के विधि-विधान एवं विविध आख्यान तत्कालीन सामाजिक जीवन के नै
स्तर एवं चारित्रिक विशेषताओं का पूर्ण ज्ञान प्रदान करने में समर्थ है।
नहीं, धर्म-शास्त्र एवं धर्म-विज्ञान के जिज्ञासु के लिए यह ब्राह्मण अनु
आकर ग्रन्थ है। भाषा-शास्त्रीय दृष्टि से भी भाषा के विकास की गाथा
अध्ययन यहाँ किया जा सकता है। शतपथ ब्राह्मण के भौगोलिक उल्लेखो
स्पष्ट है कि उस समय कुरु पाञ्चाल देश ब्राह्मण सभ्यता के केन्द्र बन चु
थे। सभ्यता एवं संस्कृति के विकास की गाथा जानने के लिए भी यह ग्रन्
रत्न परम उपादेय है। यही नहीं, सांस्कृतिक एवं धार्मिक दृष्टि से वैदि
संहिता एवं परवर्ती काल का विकास भी इस ब्राह्मण साहित्य में दर्शनीय है
जाति-प्रथा का विकास इन ग्रन्थो में चरमावस्था पर दिखाई देता है। ब्राह्मणो
के भुसुरत्व की यहाँ प्रतिष्ठा की जाती है। श्री बलदेव उपाध्याय ने समग्र
ब्राह्मण साहित्य के महत्त्व का मूल्याङ्कन करते हुए जो विचार व्यक्त किए हैं,
उनको हम शतपथ ब्राह्मण के महत्त्व के रूप में भी देख सकते हैं क्योंकि शतपथ
ब्राह्मण, ब्राह्मण साहित्य का प्रतिनिधि ग्रन्थ है। (क) यज्ञो के नाना रूपो
तथा विभिन्न अनुष्ठानो के इतिहास का पूर्ण परिचय देता है। ब्राह्मणों में यज्ञ
एक वैज्ञानिक संस्था के रूप में हमारे सामने आता है। (ख) हम उन निर्वचनो
से परिचय पाते हैं जो निरुक्त की निरुक्ति का मौलिक आधार है। (ग) उन
सुन्दर आख्यानो का मूल रूप हमें यहाँ मिलता है जिनका विकास अवान्तर
कालीन पुराणो में विशेषतः दृष्टिगोचर होता है। (घ) कर्म-मीमांसा के उत्थान
तथा आरम्भ का रूप जानने के लिए ब्राह्मण पूर्व पीठिका का काम करता है।
ब्राह्मणों के अध्ययन से हम इन विविध-शास्त्रो के उदय की कथा जान सकते
हैं और स्वयं देख सकते हैं कि यज्ञ की आवश्यकता [illegible]

त हैं : १—पूर्व गोपथ, २—उत्तर गोपथ। प्रथम भाग में पाँच अध्याय हैं
था द्वितीय में ६ अध्याय। रचना-काल की दृष्टि से ब्राह्मण साहित्य में यह
र्वाचीन रचना है। इसका रचना काल वैतानिक सूत्र के पश्चात् माना जाता
। प्रस्तुत ब्राह्मण में प्राप्त 'लिङ्' शब्द तथा व्याकरण परिष्कृत शब्दावली इस
न्थ के द्योतक हैं कि यह रचना वास्तव में अर्वाचीन है। विषय-वस्तु की दृष्टि
पूर्वार्द्ध मौलिक है। किन्तु शेष भाग पर शतपथ ब्राह्मण की छाया अङ्कित है।
स परवर्ती रचना में ऋग्वेदीय ऐतरेय कौषीतकी तथा पञ्चविंश ब्राह्मण से
ी विषय-सामग्री का चयन किया गया है।

सम्पूर्ण ब्राह्मण साहित्य के अध्ययन के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ऋग्वेद के ब्राह्मण 'होता' के कार्यों की विशेष व्याख्या प्रस्तुत करते हैं जबकि सामवेदीय ब्राह्मण 'उद्गाता' नामक ऋत्विज के कार्यों के व्याख्याता हैं। यजुर्वेद ब्राह्मण 'अध्वर्यु' के कर्मकाण्ड की व्याख्या करते हैं तो अथर्व का ब्राह्मण सभी ब्राह्मणों की विषय-सामग्री एवं ऋत्विज के कार्यों को अपना लेता है। वैसे भी 'ब्रह्मा' नामक प्रधान ऋत्विज का कार्य भी सम्पूर्ण यज्ञ का निरीक्षण है। समस्त ब्राह्मण ग्रन्थों के स्वरूप पारस्परिक अन्तर होते हुए भी इन ग्रन्थों में अन्तत पारस्परिक समानता है।

**ब्राह्मण-ग्रन्थों का रचना-काल**—यह निःसन्देह सत्य है कि जिस प्रकार वेदों के निर्माण एवं सकलन में शताब्दियाँ लगी हैं, उसी प्रकार ब्राह्मण साहित्य भी सहस्रों वर्षों के चिन्तन का परिणाम है। इस बात की पुष्टि हम सामवेद के एक ब्राह्मण में प्राप्त पचास गुरुओं के नामों के उल्लेख से कर सकते हैं। इन पचास गुरुओं की लम्बी परम्परा को एक हजार वर्षों का समय सहज ही दिया जा सकता है। वैसे तो विद्वान् कभी-कभी इनकी ऐतिहासिकता पर भी सदेह करने लगते हैं, किन्तु उनका सन्देह तो समग्र वैदिक साहित्य की ऐतिहासिकता पर भी है जो कि किसी भी स्थिति में स्वीकार नहीं। साथ ही इन आचार्यों के नामों का उल्लेख हम अन्य ग्रन्थों में भी देखते हैं, पुराणों में भी इन आचार्यों का नाम मिलता है, ब्राह्मण ग्रन्थों के अध्ययन से तात्कालिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक क्षेत्र के उत्कर्ष का ज्ञान हमें होता है। वह उत्कर्ष काल प्राय बौद्धकालीन है। क्योंकि निकट परवर्ती बौद्ध-साहित्य में ब्राह्मणों को अच्छी दृष्टि से नहीं देखा गया है और तो और सत्य तो यह है कि वह बौद्धधर्म वास्तव में ब्राह्मणों के उत्कर्ष की प्रतिक्रियास्वरूप ही था।

नचिकेता का उपाख्यान है। जहाँ नचिकेता यम से तीन प्रश्न करता है और अन्त मे मृत्यु क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर प्राप्त कर ही लेता है। जहाँ तक जन्म और मरण को जीवन-चक्र के दो छोर बताता है और यथार्थ ज्ञान होने पर मृत्यु के बन्धन से मुक्ति एवं ब्रह्म की प्राप्ति का उपदेश देता है। ज्ञान के प्रति इस श्रद्धा से विश्व से घृणा की भावना का उदय हुआ। फलत. निराशावादी प्रवृत्तियो को जन्म मिला। मैत्रायणी उपनिषद् में वर्णन मिलता है कि राजा बृहद्रथ अपने पुत्र को सत्ता देकर वनवास ले लेता है। वहाँ वह शाकयायन से आत्मज्ञान प्राप्त करता है। इस मल-मूत्र के नश्वर घट रूपी शरीर मे ज्ञान कहाँ ? इस प्रकार हम कह सकते है कि वेदो मे जहाँ पुरुषार्थ की भावना प्रबल है वहाँ उपनिषदो मे निराशावाद के कीटाणु भी जन्म ले लेते हैं। श्री दिनकर "संस्कृति के चार अध्याय" मे उपनिषदो के प्रभाव के विवेचन के अवसर पर इसी विचार की पुष्टि करते हुए लिखते हैं "आत्म-परमात्मा, पुनर्जन्म और कर्मफलवाद के विषय में वेद मे जो हल्की महीन कल्पनाएँ थी, उपनिषदो मे आकर उनका विपुल विकास हो गया और भारतवासी यह मानने लगे कि धर्म का जो असली सूक्ष्मतत्त्व है, वह यज्ञवाद और पशुहिंसा से उपलब्ध नहीं हो सकता। सारी सृष्टि ब्रह्म से व्याप्त है और जड़-चेतन सबके भीतर एक ही सत्ता निवास करती है। इस मत के प्रचार से हिंसा की भावना ढीली होने लगी और लोग यह मानने लगे कि मनुष्य के समान ही पशु-पक्षी और पेड़-पौधे भी हिंसा नही, प्रेम और आदर के अधिकारी हैं। चूँकि मोक्ष का सिद्धान्त निरूपित करने मे बार-बार जीवन की दु खपूर्णता की चर्चा की गई इसलिए समाज मे एक प्रकार का निराशावाद फैलने लगा और लोग जीवन में उस उत्साह को खोने लगे जो उत्साह वेदकालीन भारतवासियो की विशेषता थी। उपनिषदो ने सन्यास और वैराग्य की भावना को भी प्रेरित किया। अतएव पहले जहाँ लोग सासारिक सुखो के भोग के लिए डटकर परिश्रम करने मे आनन्द मानते थे, वहाँ अब वे गृहस्थाश्रम को छोड़कर असमय में ही वैराग्य और सन्यास लेने लगे। वैदिक सभ्यता कर्मठ मनुष्य की सभ्यता थी, जो सोचता कम, काम अधिक करता था, जिसे नरक की चिन्ता नहीं, हमेशा स्वर्ग का ही लोभ था, जो जीवन को दु खो का आगार नही, सुख और आनन्द का साधन मानता था। मगर उपनिषदो ने दिमाग के अनेक दरवाजे खोल दिए और [illegible] चक्कर मे पड़ गया। यह सृष्टि क्या है ? जीवमात्र

की एक अपनी विशेषता है। तैत्तिरीय उपनिषद् में गुरु-शिष्य को अतीव मार्मिक शिक्षा देता है। सत्य बोलो, धर्म का आचरण करो, स्वाध्याय से प्रमाद न करो और कुछ इसी प्रकार के नैतिक उपदेश हैं जो समाज एवं धर्म के लिए नितान्त उपयोगी सिद्ध हुए हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् में एक सुन्दरतम नीति कहानी मिलती है। प्रजापति की तीनों सन्तान देव, मानव एवं दानव ब्रह्मचर्यपूर्वक प्रजापति के शिष्य बने। सर्वप्रथम देव, जिज्ञासु भाव से प्रजापति के पास आते हैं। प्रजापति ने "द" वर्ण का उच्चारण किया और पूछा कि तुमने इसका क्या अभिप्राय समझा? देवताओं ने बताया कि "द" से आपका अभिप्राय "दाम्यत" से है जिसका अर्थ है कि अपना दमन करो। इसके पश्चात् मानव जिज्ञासुभाव से उपस्थित हुए प्रजापति ने पुनः "द" वर्ण का उच्चारण किया और पूछने पर मनुष्यों ने बताया कि इससे आपका अभिप्राय "दत्त" से है अर्थात् दान करो। तत्पश्चात् दानव भी प्रजापति के सम्मुख शिष्यत्व भावापन्न होते है, उन्हे भी "द" का उपदेश किया जाता है जिसका अर्थ वे "दयध्वम्" समझते है। प्रजापति ने अपनी तीनों सन्तानों के अभिप्राय को ठीक बतलाया। इस प्रकार उपनिषद् में मानवीय नैतिक तत्त्वों का भी पूर्ण उपदेश किया गया है।

उपनिषदों के अनुसार जीवन का महान् उद्देश्य ब्रह्म के साथ एकता प्राप्त करना था और यह अज्ञान के नाश होने पर ही सम्भव है। जिसने ब्रह्म व आत्मा की एकता को जान लिया है, वही मुक्ति प्राप्त कर सकता। इसके लिए कर्मसन्यास आवश्यक है। यज्ञादि पुनर्जन्मवाद के समर्थक हैं। किन्तु केवल सत्य ज्ञान ही मुक्तिदाता है। जो इस सिद्धान्त को जानता है; वह 'पद्मपत्रमिवाम्भसः' कमल का पत्ता जिस तरह से जल से ऊपर रहता है उसी प्रकार कर्म से दूर रहता है। ब्राह्मण साहित्य का भी तो कहना है कि या तो इस रहस्य को जानो अन्यथा यज्ञ करो। सम्पूर्ण उपनिषदों में कहा गया है कि ज्ञान केवल शक्ति नहीं है अपितु वह एकमात्र मुक्ति का मार्ग है। इन्द्र एक सौ वर्ष तक प्रजापति का शिष्य रहता है; केवल ज्ञान के लिए। इसीलिए साधारण जन गुरुओं की सेवा करते है। राजा सहस्र गायें व स्वर्ण दान करते है, केवल आत्मज्ञान के लिए। आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए ब्राह्मण भी राजाओं के सामने, धनी मनुष्य भी भिक्षुओं के सामने, राजा भी निर्धन के सामने विनम्र होते हैं। इस ज्ञान विषयक उत्कण्ठा का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण ...

रहस्यवादी एरखार्ट Eckhart टन्लर Tanlar तथा १६वी शती के रहस्यवादी शापेनहावर तक खोज की जा सकती है। शापेनहावर प्लेटो, कान्ट तथा उपनिषदो को अपना गुरु मानता था। वह उपनिषद् साहित्य को The Greatest Gift of Century कहता था और भविष्यवाणी करता था कि भारतीय देवतावाद का विश्व मे प्रसार होगा। यदि लुडविग आधुनिक दर्शन को अद्वैतवाद मानता है तो हजारो वर्ष पूर्व उपनिषदो ने इसे खोज निकाला था। संक्षेप मे उपनिषदों के मौलिक सिद्धान्तो को इस प्रकार देखा जा सकता है—

(१) उपनिषदें आत्मा एव ब्रह्म मे एकत्व प्रतिपादन करने के के साथ उसका पार्थक्य प्रतिपादित करती हैं। अद्वितीय एव सर्व व्यापक मानती हैं। "ब्रह्म वह समस्त जीवन का स्रोत है और जीवन की हर वस्तु जाती है क्योंकि जिससे इन वस्तुओ की उत्पत्ति होती बाद मे वे जिनमे वास करती है और मृत्यु के बाद जिसमे वही ब्रह्म है, वही सत् है और वही आनन्द है।"

(२) ऋग्वेदीय प्रजापति के सृजन तत्त्व को ब्रह्म मे

(३) विश्व के मायामयत्व का प्रतिपादन तथा ब्रह्म के का निधान।

(४) आत्मा के गमन-प्रत्यागमन का सिद्धान्त।

(५) कर्म एव ज्ञान के अनुरूप विभिन्न योनियो मे क्षणिकत्व का निरूपण।

) सम्यक् ज्ञान के अभाव मे मुक्ति अलभ्य आदि कुछ ऐसे द्भावना उपनिषद् साहित्य मे हुई है।

उपनिषद्-साहित्य की विषय-सामग्री का निरूपण कीजिए।

short account of upanishadas literature.

—आ० वि० वि० ५२

Or

उद्भव एवं विकास का परिचय दीजिए।

रहस्यवादी एरवार्ट Eckhart टन्लर Tanlar तथा १९वीं शती के रहस्यवादी शापेनहावर तक खोज भी जा सकती है। शापेनहावर प्लेटो, काण्ट तथा उपनिषदों को अपना गुरु मानता था। वह उपनिषद् साहित्य को The Greatest Gift of Century कहता था और भविष्यवाणी करता था कि भारतीय देवतावाद का विश्व में प्रसार होगा। यदि लुडविग आधुनिक दर्शन को अद्वैतवाद मानता है तो हजारों वर्ष पूर्व उपनिषदों ने इसे खोज निकाला था। संक्षेप में उपनिषदों के मौलिक सिद्धान्तों को इस प्रकार देखा जा सकता है—

(१) उपनिषदें आत्मा एवं ब्रह्म में एकत्व प्रतिपादन करने के साथ शरीर के साथ उसका पार्थक्य प्रतिपादित करती हैं। उपनिषदें आत्मा को अखण्ड, अद्वितीय एवं सर्व व्यापक मानती हैं। *"ब्रह्म वह अनन्त दिव्य शक्ति है।* वह समस्त जीवन का स्रोत है और जीवन की हर वस्तु अन्ततः उसी में विलीन हो जाती है क्योंकि जिससे इन वस्तुओं की उत्पत्ति होती है, उत्पन्न हो जाने के बाद में वे जिनमें वास करती है और मृत्यु के बाद जिसमें विलीन हो जाती हैं, वही ब्रह्म है, वही सत् है और वही आनन्द है।"

(२) ऋग्वेदीय प्रजापति के सृजन तत्त्व की ब्रह्म में स्वीकृति।

(३) विश्व के मायामयत्व का प्रतिपादन तथा ब्रह्म के द्वारा उसके कर्त्तव्य का निधान।

(४) आत्मा के गमन-प्रत्यागमन का सिद्धान्त।

(५) कर्म एवं ज्ञान के अनुरूप विभिन्न योनियों में जन्म तथा विश्व के क्षणिकत्व का निरूपण।

(६) सम्यक् ज्ञान के अभाव में मुक्ति अलभ्य आदि कुछ ऐसे तत्त्व हैं जिनकी उद्भावना उपनिषद् साहित्य में हुई है।

**प्रश्न—उपनिषद्-साहित्य की विषय-सामग्री का निरूपण कीजिए।**

**Give a short account of upanishadas literature.**

—आ० वि० वि० ५२

**Or**

**उपनिषद् साहित्य के उद्भव एवं विकास का परिचय दीजिए।**

कि उस काल में जातिप्रथा इतनी कड़ी नहीं थी, जितनी कि परवर्ती स्मृतिकाल में हो जाती है। स्मृतिकाल में तो कहा गया था कि केवल ब्राह्मण ही वेद पढ़ सकता है, द्विज ही वेद पढ़ सकता है। उपनिषद् साहित्य के अध्ययन से यह सिद्ध हो जाता है कि क्षत्रिय ब्रह्मविद्या के ज्ञाता थे, ब्राह्मण तक उनके पास शिक्षा प्राप्त करने के लिए जाते थे। इसी प्रकार श्वेतकेतु के पिता गौतम प्रवाहण नामक राजा के पास शिक्षा प्राप्त करने जाते हैं। राजा प्रवाहण गौतम को आवागमन (पुनर्जन्म) के सिद्धान्त की शिक्षा देते हैं। उपनिषदों के प्रमुख सिद्धान्त आत्म विषयक ही हैं। इन सभी सिद्धान्तों का प्रादुर्भाव ब्राह्मणेतर वर्ग में हुआ है। पाँच विशिष्ट विद्वान् ब्राह्मणों को उद्दालक आरुणि अपने को ज्ञानदान देने में असमर्थ पाकर महाराज अश्वपति के पास भेज देता है। इन स्थलों से सिद्धप्राय है कि उपनिषद् काल में ज्ञान का कोश ब्राह्मणेतर वर्ग (विशेषत क्षत्रिय) में था। इसी काल में आश्रमप्रथा का उदय भी हुआ था, इस प्रकार उपनिषद् काल में आश्रमप्रथा पर्याप्त विकसित हो चुकी थी, यद्यपि प्राचीन उपनिषदों में आश्रमप्रथा इतनी स्पष्ट नहीं है जितनी कि परवर्ती उपनिषदों या महाभारत व धर्मसूत्रों में है।

## उपनिषदों का रचनाकाल

प्राचीनतम उपनिषदों में ऐतरेय, वृहदारण्यक, छान्दोग्य, तैत्तिरीय, कौषीतकी तथा केनोपनिषद् है। इनमें वेदान्ततत्व मौलिक रूप में निहित है। कुछ उपनिषदें जो कि पूर्णरूपेण या अधिकतर पद्य में लिखी गई हैं, ये परवर्त्ती सिद्ध होती हैं परन्तु फिर भी प्राक्बौद्धकालीन हैं। ये भी किसी न किसी वैदिक शाखा से सम्बन्धित हैं, परन्तु आरण्यकों के भाग नहीं है। इनमें से कठोपनिषद् कृष्ण यजुर्वेदीय काठक शाखा से सम्बन्धित है। श्वेताश्वतर तथा महानारायणोपनिषद् भी कृष्ण यजुर्वेदीय तैत्तिरीय आरण्यक से सम्बद्ध है। ईशोपनिषद् शुक्ल यजुर्वेदीय चालीसवाँ अध्याय है। मुण्डकोपनिषद् तथा प्रश्नोपनिषद् अथर्ववेद से सम्बद्ध हैं। ये उपनिषदें भी वेदान्त सिद्धान्तों से पूर्ण हैं, परन्तु इनमें साख्ययोग तथा अद्वैतवादी (Monothestic) सिद्धान्त भी निहित है। मैत्रायणी उपनिषद् जो कि गद्य में है किन्तु वैदिक गद्य के अनुरूप नहीं), वह कृष्ण यजुर्वेदीय मैत्रायणी शाखा से सम्बद्ध है तथा बौद्धोत्तरकालीन है; किन्तु विन्टरने इस रचना को लौकिक संस्कृत साहित्य के काल का माना है। अथर्व-

वेदीय माण्डूक्योपनिषद् भी इसी काल की रचना है। शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र भाष्य में बाहर उपनिषदों का उल्लेख किया है; किन्तु उन्होंने मैत्रायणी एवं माण्डूक्य उपनिषदों का उल्लेख नहीं किया है। अतः इन उपनिषदों को परवर्ती वैदिक साहित्य की अन्तिम रचना के रूप में स्वीकृत किया गया है। उपर्युक्त चौदह उपनिषदें भारतीय दर्शन की मूलाधार हैं।

इन उपनिषदों के अतिरिक्त लगभग दो सौ उपनिषदें और भी हैं जो कि सम्प्रहारमक स्वतन्त्र उपनिषदों के रूप में हैं। इन उपनिषदों का भी सम्बन्ध किसी न किसी वैदिक शाखा से मान लिया गया है। वास्तव में सभी तो नहीं, हाँ, कुछ उपनिषदें अवश्य ही वैदिक शाखाओं से सम्बद्ध हैं। ये उपनिषदें दार्शनिक तत्त्व की अपेक्षा धार्मिक तत्त्वों का अधिक विश्लेषण करती हैं तथापि परवर्ती धार्मिक एवं दार्शनिक सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का समावेश इनमें मिलता है। ये उपनिषदें पौराणिक एवं तान्त्रिक युग की रचनाएँ प्रतीत होती हैं। उद्देश्य और विषयवस्तु के आधार पर इन उत्तरकालीन उपनिषदों का हम इस प्रकार का एक वर्गीकरण कर सकते हैं—

(i) वेदान्त-सिद्धान्तों की प्रकाशिका उपनिषदें,
(ii) योग-सिद्धान्त की प्रकाशिका उपनिषदें,
(iii) सन्यास सम्बन्धिनी उपनिषदें,
(iv) विष्णु महत्त्व प्रदर्शिका उपनिषदें,
(v) शिव-महत्त्व निदर्शिका उपनिषदें,
(iv) शाक्त आदि सम्प्रदाय की उपनिषदें।

इनमें से कुछ उपनिषदें गद्यमय, कुछ गद्य-पद्यमय और कुछ महाकाव्यीय श्लोक शैली में हैं। इनमें कुछ प्राचीन भी हैं जिन्हें हम वैदिक उपनिषदों के समान में रख सकते हैं; जैसे—

(i) जाबाल उपनिषद् (शंकराचार्य द्वारा उल्लिखित) इसमें परमहंस नामक तपस्वी का रोचक वर्णन है।

(ii) परमहंस उपनिषद्—परमहंस का अधिक स्पष्ट वर्णन किया गया है।

(iii) सुबाल उपनिषद् (रामानुज द्वारा उद्धृत) इसमें सृष्टि उत्पत्ति, शरीर-रचना, मनोविज्ञान व दर्शन के तत्त्व निहित हैं।

(iii) गर्भोपनिषद्—इसमे भ्रूणविज्ञान के अतिरिक्त पुनर्जन्म की अप्राप्ति के उपायों का विवेचन है।

(iv) त्रिवोक अथर्वशीर्ष उपनिषद् (धर्मसूत्रो द्वारा उद्धृत) इसमे पापो को दूर करने के उपाय कहे हैं।

(v) वज्रसूचिका उपनिषद्—ब्रह्म वर्णन परक है। इसमे ब्राह्मण उसी को माना गया है जो ब्रह्म का पूर्ण ज्ञान रखता है।

उपनिषद् साहित्य की सर्वाधिक अर्वाचीन प्रामाणिक कृति मुक्तिकोपनिषद् है जिसमे १०८ उपनिषदो के नामो का उल्लेख किया गया है जिनका सम्बन्ध वेदो से जोड़ा है, वे विभिन्न वेदो मे इस प्रकार सम्बद्ध हैं—

| | |
|---|---|
| ऋग्वेद से सम्बद्ध | दस उपनिषदें |
| शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध | उन्नीस उपनिषदें |
| कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध | तेतीस उपनिषदे |
| सामवेद से सम्बद्ध | सोलह उपनिषदे |
| अथर्ववेद से सम्बद्ध | इक्कीस उपनिषदें |

उपनिषद साहित्य का एक विशद वर्गीकरण और भी विद्वानो ने किया है, उसमे उपनिषदो को यथाक्रम चार वर्गों मे बाँटा गया है। वह वर्गीकरण इस प्रकार है—

**पहला वर्ग**—'बृहदारण्यक' छान्दोग्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय और कौषीतकी उपनिषद्। ये सभी गद्यमय हैं।

**दूसरा वर्ग**—केनोपनिषद्, काठकोपनिषद, ईशोपनिषद्, श्वेताश्वतरोपनिषद, मुण्डकोपनिषद् व महानारायणोपनिषद्। ये छन्दबद्ध हैं। इनमे सिद्धान्तो का विकास नही होता है अपितु सिद्धान्तो को स्थिरता मिल जाती है। वे उपनिषदें सभी दृष्टियो से महत्त्वपूर्ण हैं।

**तीसरा वर्ग**—इसमे प्रश्न, मैत्रायणी एवं माण्डूक्यादि उपनिषद् आती है। इसका रचना-विधान गद्यमय है।

**चौथा वर्ग**—इस वर्ग मे अथर्ववेद की उपनिषदो की गणना होती है जो कि परवर्ती है तथा जिनकी प्रवृत्ति गद्य-पद्य उभयात्मक है।

वेदीय माण्डूक्योपनिषद् भी इसी काल की रचना है। शंकराचार्य ने
भाष्य में बाहर उपनिषदों का उल्लेख किया है; किन्तु उन्होंने मैत्राय
माण्डूक्य उपनिषदों का उल्लेख नहीं किया है। अतः इन उपनिषदों को
वैदिक साहित्य की अन्तिम रचना के रूप में स्वीकृत किया गया है। उ
चौदह उपनिषदें भारतीय दर्शन की मूलाधार हैं।

इन उपनिषदों के अतिरिक्त लगभग दो सौ उपनिषदें और भी हैं
संग्रहात्मक स्वतन्त्र उपनिषदों के रूप में हैं। इन उपनिषदों का भी सम
किसी न किसी वैदिक शाखा से मान लिया गया है। वास्तव में सभी तो न
हाँ, कुछ उपनिषदें अवश्य ही वैदिक शाखाओं से सम्बद्ध हैं। ये उपनिषदें दा
निक तत्त्व की अपेक्षा धार्मिक तत्त्वों का अधिक विश्लेषण करती हैं तथ
परवर्ती धार्मिक एवं दार्शनिक सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का समावेश इनमें मिल
है। ये उपनिषदें पौराणिक एवं तान्त्रिक युग की रचनाएँ प्रतीत होती हैं।
उद्देश्य और विषयवस्तु के आधार पर इन उत्तरकालीन उपनिषदों का हम इ
प्रकार का एक वर्गीकरण कर सकते हैं—

(i) वेदान्त-सिद्धान्तों की प्रकाशिका उपनिषदें,
(ii) योग-सिद्धान्त की प्रकाशिका उपनिषदें,
(iii) सन्यास सम्बन्धिनी उपनिषदें,
(iv) विष्णु महत्त्व प्रदर्शिका उपनिषदें,
(v) शिव-महत्त्व निदर्शिका उपनिषदें,
(iv) शाक्त आदि सम्प्रदाय की उपनिषदें।

इनमें से कुछ उपनिषदें गद्यमय, कुछ गद्य-पद्यमय और कुछ महाकाव्य
श्लोक शैली में हैं। इनमें कुछ प्राचीन भी हैं जिन्हें हम वैदिक उपनिषदों के
मिलान में रख सकते हैं; जैसे—

(i) जाबाल उपनिषद् (शंकराचार्य द्वारा उल्लिखित) इसमें परम
नामक तपस्वी का रोचक वर्णन है।

(ii) परमहंस उपनिषद्—परमहंस
या है।

(iii) सुबाल
रीर-रचना,

वलवारोपनिषद् या मक्षेप मे ब्राह्मण उपनिषद् भी वह दिया जाता है। इस पनिषद् के प्रथम मन्त्र मे ही शिष्य का प्रश्न है—

> केनेषित पतति प्रेषित मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः ।
> केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति ॥

जिसके द्वारा प्रेरित मन विषयो पर गिरता है ? समग्र चेतनतत्व का नियामक अधिष्ठाता कौन है ? 'केन' प्रश्न वाचक प्रथम शब्द के आधार पर ही समग्र उपनिषद् केनोपनिषद् के नाम से अभिहित की जाती है। केनोपनिषद् मे अत्यन्त कठिन भाषा मे बतलाया गया है कि परमतत्व समस्त इन्द्रियों का इन्द्रिय एव समस्त इन्द्रियो की पहुंच के ऊपर है। वह परमतत्व समस्त देवताओ का भी देवता एव समस्त उपास्यो का भी उपास्य है। उस परम रहस्य का ज्ञाता समस्त पापो से मुक्त होकर शाश्वत अमृतत्व को प्राप्त करता है।

## कृष्ण यजुर्वेदीयोपनिषद्

मैत्रायणीपनिषद्—इस उपनिषद् मे सात अध्याय है। छठे अध्याय का उत्तरार्द्ध एव सप्तम अध्याय परिशिष्ट रचना मानी जाती है। इस उपनिषद् की रचना गद्यमय है किन्तु कहीं-कहीं पद्य के अंश भी मिल जाते हैं। यह परवर्ती काल की रचना मानी जाती है। इसके कई कारण भी हैं—प्रथम तो यह कि इसमे साख्यदर्शन की पूर्ण कल्पना है, दूसरे, इसमे परवर्ती काल मे प्रयुक्त होने वाले अनेक शब्द मिल जाते हैं। तीसरे, अनेक वेद विरुद्ध सम्प्रदायो का इसमे उल्लेख है।

इस उपनिषद् की विषय-सामग्री तीन प्रश्नो के उत्तर मे निहित है। प्रथम प्रश्न यह है कि आत्मा किस प्रकार शरीर मे प्रवेश प्राप्त करता है ? उत्तर मे कहा गया है कि प्रजापति स्वय रचित शरीर-विशेष मे जीवन सचार करने के लिए पच प्राणो के रूप मे प्रविष्ट होता है।

*द्वितीय प्रश्न है—परमात्मा किस प्रकार भूतात्मा बनता है ?* इस प्रश्न का समाधान साख्य मान्यताओ के अनुसार किया गया है जिसके अनुसार आत्मा-प्रकृति के विविध गुणो से पराभूत होकर आत्मस्वरूप को भूल जाता है। इसके पश्चात् आत्मबोध एवं मुक्ति के लिए प्रयास करता है।

तृतीय प्रश्न है—सासारिक दुखो से मुक्ति का मार्ग क्या है ? इस प्रश्न उत्तर साख्य एव वेदान्त की मान्यता को दृष्टि मे रखते हुए स्वतन्त्र रूप से

विभिन्न वेदो से सम्बद्ध उपनिषदों का सामान्य परिचय निम्न प्रकार है—

## ऋग्वेदीयोपनिषद्

(१) ऐतरेय उपनिषद्—यह ऋग्वेद का एक लघुकाय उपनिषद् है। इसमें तीन अध्याय है जिनमे आत्मा एव ब्रह्म से सम्बद्ध विचार उपनिबद्ध हैं। इसके एक अध्याय मे विश्व को आत्मा की कृति बतलाया गया है। इस उपनिषद् की रचना का मूलाधार ऋग्वेदीय पुरुषसूक्त है।

(२) कौषीतकी उपनिषद्—यह अपेक्षाकृत बडी रचना है। इसमे चार अध्याय हैं। उसमे दो मार्गों का विधान है जिनमे से होकर यह आत्मा मृत्यु के उपरान्त गमन करता है। द्वितीय अध्याय मे प्रजा को आत्मा का प्रतीक बतलाया गया है। अन्तिम अवशिष्ट दो अध्यायो मे ब्रह्मसिद्धान्त का विशद निरूपण है। इसमे कुछ ऐसे याज्ञिक विधानो का भी उल्लेख है जिनके द्वारा व्यक्ति अपनी अभिमत कामनाओ की पूर्ति करता है। ज्ञान की अपेक्षा यहाँ कर्म की प्रधानता स्वीकार की गई है।

## सामवेदीय उपनिषद्

छान्दोग्योपनिषद्—इस उपनिषद् के प्रथम दो अध्यायो मे समान एवं उद्गीथ की धार्मिक दृष्टि से व्याख्या की गई है। तृतीय अध्याय मे ब्रह्म को विश्व का सूर्य कहा गया है। चतुर्थ अध्याय मे ब्रह्म, वायु, श्वास आदि के सम्बन्ध मे एक वाद-विवाद है। पचम अध्याय के प्रारम्भ मे आत्मा के गमन एव प्रत्यागमन का निरूपण हुआ है। इस अध्याय के उत्तरार्द्ध मे विभिन्न लोकों की निर्मूलता सिद्ध हो गई है। छठे अध्याय मे सत् के द्वारा उद्भूत अग्नि, जल एवं आहार-तत्त्वो की मीमासा की गई है। तत्त्वमसि सिद्धान्त भी यहाँ व्याख्यात है। सप्तम अध्याय मे ब्रह्म के षोडश रूपों का विधान है। अष्टम अध्याय के पूर्वार्द्ध मे आत्मा का अन्तःकरण एव विश्व मे निवास प्रतिपादित है। उत्तरार्द्ध मे सत् एव असत् आत्मा की व्याख्या है और आत्मा की भौतिक शरीर, स्वप्न एव निद्रागत त्रिविध दशाओं मे स्वप्नगत आत्मा को ही सत्य स्वीकार किया गया है। छान्दोग्योपनिषद् महत्त्वपूर्ण प्राचीन उपनिषदों मे से एक है। साहित्यिक दृष्टि से भी इसका अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है।

केनोपनिषद्—यह उपनिषद् सामवेद के तवलकार ब्राह्मण का भाग है। तवलकार अथवा जैमिनीय ब्राह्मण का अंग होने के कारण ही कभी-कभी इस

वलकारोपनिषद् या सक्षेप मे ब्राह्मण उपनिषद् भी कह दिया जाता है । इस पनिषद् के प्रथम मन्त्र मे ही शिष्य का प्रश्न है—

केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः ।
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्र क उ देवो युनक्ति ॥

जिसके द्वारा प्रेरित मन विषयो पर गिरता है ? समग्र चेतनतत्व का नियाक अधिष्ठाता कौन है ? 'केन' प्रश्न वाचक प्रथम शब्द के आधार पर ही समग्र पनिषद् केनोपनिषद् के नाम से अभिहित की जाती है । केनोपनिषद् मे अत्यन्त ठिन भाषा मे बतलाया गया है कि परमतत्व समस्त इन्द्रियो का इन्द्रिय एव मस्त इन्द्रियो की पहुच के ऊपर है । वह परमतत्व समस्त देवताओ का भी वता एव समस्त उपास्यो का भी उपास्य है । उस परम रहस्य का ज्ञाता मस्त पापो से मुक्त होकर शाश्वत अमृतत्व को प्राप्त करता है ।

## कृष्ण यजुर्वेदीयोपनिषद्

मैत्रायणोपनिषद्—इस उपनिषद् मे सात अध्याय है । छठे अध्याय का उत्तरार्द्ध एव सप्तम अध्याय परिशिष्ट रचना मानी जाती है । इस उपनिषद् की रचना गद्यमय है किन्तु कही-कही पद्य के अश भी मिल जाते हैं । यह परवर्ती काल की रचना मानी जाती है । इसके कई कारण भी हैं—प्रथम तो यह कि इसमे साख्यदर्शन की पूर्ण कल्पना है, दूसरे, इसमे परवर्ती काल मे प्रयुक्त होने वाले अनेक शब्द मिल जाते हैं । तीसरे, अनेक वेद विरुद्ध सम्प्रदायो का इसमे उल्लेख है ।

इस उपनिषद् की विषय-सामग्री तीन प्रश्नो के उत्तर मे निहित है । प्रथम प्रश्न यह है कि आत्मा किस प्रकार शरीर मे प्रवेश प्राप्त करता है ? उत्तर मे कहा गया है कि प्रजापति स्वय रचित शरीर-विशेष मे जीवन सचार करने के लिए पच प्राणो के रूप मे प्रविष्ट होता है ।

द्वितीय प्रश्न है—परमात्मा किस प्रकार भूतात्मा बनता है ? इस प्रश्न का समाधान साख्य मान्यताओ के अनुसार किया गया है जिसके अनुसार आत्मा-प्रकृति के विविध गुणो से पराभूत होकर आत्मरूप को भूल जाता है । इसके पश्चात् आत्मबोध एव मुक्ति के लिए प्रयास करता है ।

तृतीय प्रश्न है—सासारिक दु खो से मुक्ति का मार्ग क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर साख्य एव वेदान्त की मान्यता को दृष्टि में रखते हुए स्वतन्त्र रूप से

दिया गया है। उत्तर में कहा गया है कि ब्राह्मण धर्म की प्राचीन मान्यताओं अनुकूल वर्ण व्यवस्था एवं विभिन्न आश्रमों में निष्ठावान् व्यक्ति ही ब्रह्म एवं मोक्ष के अधिकारी होते हैं। ब्राह्मण काल के प्रमुख तीन देवता अग्नि वायु एवं सूर्य तीन भाव रूप तत्त्वा काल, श्वास एवं आहार और तीन प्रवर्ति देवता ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश आदि सब ब्रह्म का बोध कराने वाले हैं।

**काठकोपनिषद्**—यह कृष्ण यजुर्वेदीय प्रथम उपनिषद् (मैत्रायणीयनिषद्) से प्राचीन है। इनमें एक सुन्दर आख्यान समाहित है। इस उपनिषद् के दो भाग हैं—एक, प्राचीन; दूसरा, अर्वाचीन एवं संयुक्त। प्रथम अंश में आत्मस्वरूप का परिचय देते हुए कहा गया है कि किस प्रकार आत्मा शरीर में प्रविष्ट होता है तथा यौगिक साधना से पुन. लौट आता है। द्वितीय भाग के अध्याय में आत्मविषयक चर्चा है। जहाँ पुरुष एवं प्रकृति को आत्मा का हं माना है। पाचवें अध्याय में आत्मा का विश्व में मुख्यत: शरीर में नि माना गया है। अन्तिम अध्याय में सर्वोच्च ध्येय की प्राप्ति का मार्ग योग माना गया है।

**श्वेताश्वतरोपनिषद्**—इस उपनिषद् का नामकरण स्पष्ट ही एक ऋषि के नाम पर हुआ है। इस उपनिषद् में विश्व को ब्रह्मकृत माया का प्रतिरू माना गया है तथा सवितृ, ईशान एवं रुद्र देवों को ब्रह्मा का प्रतीक माना गया है। इसकी रचना काठकोपनिषद् के बाद की है; क्योंकि इसमें काठक के अनेक अंश यथावत के लिए गए हैं बहुतों को कुछ परिवर्तन के साथ लिया गया है। योग सिद्धान्तों का समावेश भी इसे परवर्ती सिद्ध करता है। साथ ही इसकी रचना-विधान से ऐसा प्रतीत होता है कि यह उपनिषद् अनेक कर्त्ताओं की कृतियों का संग्रह है।

## शुक्ल यजुर्वेदीयोपनिषद्

**बृहदारण्यकोपनिषद्**—यह उपनिषद् एक महत्त्वपूर्ण एवं बड़ी रचना है। यह तीन भागों में विभक्त हैं, प्रत्येक भाग दो-दो अध्यायों में विभक्त है। तीसरे भाग का नाम खिलकाण्ड है, जो कि परिशिष्ट मात्र है। प्रथम भाग मधु काण्ड नामक है, द्वितीय, याज्ञवल्क्य काण्ड। दोनों ही भागों में वंश नामक सूची निबद्ध है। सूचियों के तुलनात्मक अध्ययन से पता चलता है कि दोनों भाग नौ पीढ़ी तक स्वतन्त्र रूप से पृथक्-पृथक् रहे; किन्तु बाद में अग्नि वेश

नामक ऋषि ने दोनो को जोडकर एक कर दिया है। परवर्ती समय मे तीसरा भाग भी जोडकर समग्र ग्रन्थ एक कर दिया गया है।

प्रथम भाग के प्रथम अध्याय मे अश्वमेध यज्ञ की व्याख्या की गई है, प्राण को आत्मा का प्रतीक माना गया है। आत्मा तथा ब्रह्म मे विश्व की उत्पत्ति तथा दूसरे अध्याय मे आत्मा की प्रकृति का निरूपण है। ग्रन्थ के द्वितीय भाग मे चार वाद-विवाद समाहित हैं। निष्कर्ष रूप मे हम इस प्रकार कह सकते हैं—यद्यपि ब्रह्म सिद्धान्तत अज्ञेय है किन्तु क्रियात्मक रूप मे वह ज्ञेय है। तीसरे भाग के प्रथम अध्याय मे पन्द्रह काण्ड हैं जो कि विषयवस्तु की दृष्टि से पर्याप्त भिन्न हैं। द्वितीय अध्याय मे आत्मा का गमनागमन सिद्धात निरूपित है, किन्तु यह याज्ञवल्क्य के पूर्व उक्त सिद्धान्त के अनुरूप नही है।

**ईशोपनिषद्**—इसे वाजसनेयोपनिषद् भी कहा जाता है। यह एक लघुकाय उपनिषद् है जो कि यजुर्वेद का चालीसवाँ अध्याय है। इसमे ईश्वर को सर्वव्यापक स्वीकार किया गया है। आकार मे स्वल्प होते हुए भी ज्ञान की दृष्टि से यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एव गम्भीर उपनिषद् है।

**अथर्ववेदीयोपनिषद्**—अथर्ववेद की उपनिषदो की सख्या निश्चित नही है; किन्तु विभिन्न सूचियो के आधार पर इस वेद से सम्बद्ध सत्ताईस उपनिषदो को माना जाता है। तीन उपनिषदो को छोड कर सभी पुराणकालीन तथा परवर्ती रचनाएँ हैं। इन सत्ताईस उपनिषदो मे से एक अल्लोपनिषद् है, जो कि स्पष्टत यवनो से प्रभावित रचना है। अथर्ववेदीय उपनिषदो का विभाजन विद्वानो ने चार रूपो मे किया है—

**प्रथम**—आत्म स्वरूप निरूपक उपनिषद्।

**द्वितीय**—योगसाधना-सम्बद्ध उपनिषद्।

**तृतीय**—सन्यास साधना प्रतिपादक उपनिषद्।

**चतुर्थ**—वर्ग मे विवाद बहुल उपनिषदें समाहित हैं। इस वर्ग की उपनिषदो मे विविध देवो को आत्मा का ही रूपान्तर माना गया है।

**मुण्डकोपनिषद्**—यह उपनिषद् अथर्ववेद की शौनकीय शाखा के अन्तर्गत आती । सम्पूर्ण [illegible]द् तीन मुण्डको मे और प्रत्येक मुण्डक दो-दो खण्डो मे [illegible] । इ[illegible] का नामकरण 'मुण्ड' नामक साधुओ के आधार पर है [illegible]तीन बौद्ध-भिक्षुओ की भाँति अपना सिर मुण्डाते

**प्रश्नोपनिषद**—यह उपनिषद् अथर्ववेद की पिप्पलाद शाखा के ब्राह्मण भाग के अन्तर्गत है। इसमें पिप्पलाद नामक ऋषि ने भारद्वाज के पुत्र सुकेश, शिवि के पुत्र सत्यकाम, कौशलदेशीय आश्वलायन, विदर्भ निवासी भार्गव, कात्यायन एवं कबन्धी इन छः ऋषियों के छः प्रश्नों का उत्तर दिया गया है। इन्हीं प्रश्नों के कारण यह उपनिषद् प्रश्नोपनिषद् के अभिधान को ग्रहण करती है। इन जिज्ञासुओं के प्रश्न ये है—प्रजा के शरीर धारण करने वाले देवताओं के सम्बन्ध में प्राण के शरीर में प्रवेश एवं निर्गमन के सम्बन्ध में, मन तथा अन्य इन्द्रियों की ग्रहणशीलता के सम्बन्ध में निद्रा, जागरण एवं स्वप्न आदि के विषय में, ओंकार उपासना के सम्बन्ध में तथा षोडश कला सम्पन्न पुरुष विषयक प्रश्न इस उपनिषद् में किये गये हैं। इन्हीं प्रश्नों के उत्तर में आत्मतत्त्व का वर्णन किया गया है। प्रायः सम्पूर्ण उपनिषद् गद्य में है; किन्तु पद्य का सर्वथा अभाव नहीं है।

## माण्डूक्योपनिषद्

माण्डूक्योपनिषद भी अथर्ववेदीय मानी जाती है। यह एक स्वल्पाकार रचना है जिससे कुल मिलाकर बारह मन्त्र हैं। प्रथम मन्त्र में ही ओंकार की महिमा का गान किया गया है जो कुछ भूत, भविष्य एवं वर्त्तमान है, जो कुछ त्रिकालातीत है, सब ओंकार ही है—

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूत भवद्भविष्यदिति सर्वमोंकार एव। यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव ॥

उपनिषद् का उपसंहार करते हुए अन्तिम मन्त्र में भी इसी ओंकार की महिमा का इस प्रकार संकीर्त्तन किया गया है। यह वर्ण मात्रा रहित अव्यवहार्य शिव अद्वैत ओंकार है जो इसे इस प्रकार समझता है, वह स्वतः परमात्मा में संविष्ट हो जाता है—

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोंकार आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद १।१२।

### नवम अध्याय

## सूत्रकाल

प्रश्न—भारतीय साहित्य में प्राप्त समग्र सूत्र-साहित्य (सूत्र ग्रन्थों) का परिचय प्रस्तुत कीजिए। यह भी बतलाइए कि वैदिक साहित्य के अध्ययन में उनका क्या महत्त्व है ?

What do you know about the Kalpasutras ? How are they related to the Brahmans. —आ० वि० वि० ५४

Or

Show the main contents of the sutras covered under the term Kalpasutras. Describe briefly some principle works of that branch of literature. —आ० वि० वि० ५५, ६२

Or

Give a note on the principal Grhjasutras. Discuss their position in the Vedic literature.

उत्तर—वैदिक साहित्य मे दो प्रकार की विद्याओं का उल्लेख मिलता है। एक परा (उत्तम) विद्या जो ब्रह्म ज्ञान से सम्बद्ध है। दूसरी अपरा विद्या ब्रह्म ज्ञान के अतिरिक्त समस्त ज्ञानराशि इसके अन्तर्गत गृहीत की जाती है। वेदाग साहित्य सूत्रात्मक शैली मे निर्मित एक अद्भुत साहित्य है। इसका उदय वेद के स्वरूप तथा उसके अर्थ के सरक्षण के निमित्त ही हुआ है। मुण्डकोपनिषद् मे
और उनका विधिवत् विवेचन सिद्ध करता है कि

इस साहित्य का उदय उपनिषद् काल में ही हो चुका था, इन अंगों के नाम क्रमश: शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष रखे जा चुके थे।

जहाँ उपनिषद् साहित्य में ब्राह्मण साहित्य के विचार पक्ष (ज्ञानकाण्ड) का प्रतिपादन किया गया है वहाँ दूसरी ओर सूत्र साहित्य में उनके धार्मिक क्रिया-काण्डीय-पक्ष को प्राधान्य दिया गया है। यज्ञों की कार्य-विधि को संक्षिप्त, नियमित एव क्रमबद्ध बनाने की दृष्टि से सूत्र साहित्य का उदय होता है। किसी धार्मिक सम्प्रदाय-विशेष का सूत्र साहित्य कल्प सज्ञा से अभिहित किया जाता है—कल्पो वेद विहितानां कर्मणामानुपूर्व्येण कल्पनाशास्त्रम्। कल्प सूत्रों के चार विभाग हैं—

(१) श्रौतसूत्र—इनमे श्रुति प्रतिपादित यज्ञो का क्रमबद्ध विवेचन होता है।

(२) गृह्यसूत्र—इनमे गार्हिक यज्ञो एव उत्सव आदि से सम्बद्ध विविध विधियो का विधिवत् वर्णन किया गया है।

(३) धर्मसूत्र—इन सूत्र ग्रन्थो मे मुख्यतः आचारशास्त्र का निरूपण किया गया है।

(४) शुल्वसूत्र—इन सूत्र ग्रन्थो मे वेदी निर्माण की रीति का वि किया गया है।

श्रौतसूत्रो मे अग्नि होत्र, पौर्णमास्य यज्ञ, चातुर्मास्य एव पशुयज्ञ आदि विधियो का सर्वांगीण विवेचन सूत्र भाषा मे किया गया है। यही नही, यज्ञो मे प्रयुक्त होने वाली तीन प्रकार की अग्नियो का भी विधान एव वर्ण इन सूत्र ग्रन्थो मे है। गृह्यसूत्रो मे अनेक विषयो का प्रतिपादन किया गया है इनमे समस्त क्रिया-कलापो, सस्कारो, उत्सवो एव यज्ञो की विधियो का विश विवेचन किया गया है। शतपथ ब्राह्मण मे वर्णित निम्न पाच यज्ञो का भी वर्णन इन सूत्र ग्रन्थो मे मिलता है—(१) देवयज्ञ—इनमे देवताओ को आहुति दी जाती है। (२) दानवयज्ञ—इनमे दानवो के सन्तोष के लिए बलि देने का विधान है। (३) पितृयज्ञ—इस यज्ञ मे पितरो के लिए आहुति, दान एव तर्पण किया जाता है। (४) मनुष्ययज्ञ—इस यज्ञ मे अतिथियों का सत्कार एव उनका सेवाओ का विधान है। (५) ब्रह्मयज्ञ प्रतिदिन होने वाले यज्ञो का वर्णन है।

ऋग्वेद के श्रौतसूत्र

(१) सांख्यायन श्रौतसूत्र—इनमे राजाओं द्वारा किये जाने वाले यज्ञो का विस्तृत वर्णन है। इस श्रौतसूत्र मे अठारह अध्याय हैं। अन्तिम दो अध्याय परिशिष्ट रूप में है। क्योंकि विषय की दृष्टि से कौषीतकी आरण्यक से मिलते जुलते हैं।

(२) आश्वलायन श्रौतसूत्र—इस पुस्तक मे बारह अध्याय हैं। विषय की दृष्टि से इसका सम्बन्ध ऐतरेय ब्राह्मण से है। इसमे 'होता' द्वारा प्रतिपाद्य यज्ञों के अनुष्ठान का वर्णन है।

सामवेद के श्रौतसूत्र—इस वेद के तीन श्रौतसूत्र हैं। इनमे सबसे प्राचीन आर्षेय कल्पसूत्र हैं। इसका दूसरा नाम इसके रचयिता के नाम पर मशक-कल्पसूत्र है। इसमें सामगानो की विशिष्ट अनुष्ठानो मे विहित क्रियाओ का वर्णन है। दूसरा श्रौतसूत्र लाट्यायन है। इसका विषय पञ्चविंश ब्राह्मण से सम्बद्ध है। तीसरा सामवेद का श्रौतसूत्र द्राह्मायण है।

शुक्ल यजुर्वेद के श्रौतसूत्र

कात्यायन श्रौतसूत्र—इस ग्रन्थ मे छब्बीस अध्याय हैं। इसमे शतपथ के विधि-विधान का पूर्ण पालन किया गया है। इसके बारहवें, तेरहवें और चौदहवें अध्याय मे सामवेद की क्रियाओ का ही अन्तर्भाव किया गया है। यह सूत्र काल के अन्तिम चरण की रचना मानी जाती है।

कृष्ण यजुर्वेदीय श्रौतसूत्र

(१) आपस्तम्ब श्रौतसूत्र—प्रस्तुत सूत्रग्रन्थ मे इस नाम के कल्प सूत्र के तीस प्रश्नो मे से प्रथम बीस प्रश्नो को समाहित किया है। (२) हिरण्यकेशी श्रौतसूत्र—यह सूत्रग्रन्थ आपस्तम्ब श्रौतसूत्र की ही एक शाखा है, इसमें कल्पसूत्र के उन्नीस प्रश्नो मे से अठारह प्रश्नो का समाधान किया गया है। (३) बोधायन श्रौतसूत्र—यह सूत्र-ग्रन्थ आपस्तम्ब से प्राचीन है, परन्तु अद्यावधि अप्रकाशित है। (४) भारद्वाज श्रौतसूत्र—यह सूत्र-ग्रन्थ भी प्रकाशन की प्रतीक्षा मे है। (५) मानव श्रौतसूत्र—इसका सम्बन्ध मैत्रायणी संहिता से है। मनुस्मृतिकार को मनुस्मृति की रचना मे इसी श्रौतसूत्र से प्रेरणा मिली प्रतीत होती है। (६) वैखानस श्रौतसूत्र—इसका उल्लेख बहुत कम उपलब्ध होता है।

इस साहित्य का उदय उपनिषद् काल में ही हो चुका था, इन अंगों के नाम क्रमश. शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष रखे जा चुके थे।

जहाँ उपनिषद् साहित्य में ब्राह्मण साहित्य के विचार पक्ष (ज्ञानकाण्ड) का प्रतिपादन किया गया है वहाँ दूसरी ओर सूत्र साहित्य में उनके धार्मिक क्रिया-काण्डीय-पक्ष को प्राधान्य दिया गया है। यज्ञों की कार्य-विधि को संक्षिप्त, नियमित एवं क्रमबद्ध बनाने की दृष्टि से सूत्र साहित्य का उदय होता है। किसी धार्मिक सम्प्रदाय-विशेष का सूत्र साहित्य कल्प संज्ञा से अभिहित किया जाता है—कल्पो वेद विहितानां कर्मणामानुपूर्व्येण कल्पनाशास्त्रम्। कल्पसूत्रों के चार विभाग हैं—

(१) श्रौतसूत्र—इनमें श्रुति प्रतिपादित यज्ञो का क्रमबद्ध वि होता है।

(२) गृह्यसूत्र—इनमें गार्हिक यज्ञो एवं उत्सव आदि से सम्बद्ध वि विधियों का विधिवत् वर्णन किया गया है।

(३) धर्मसूत्र—इन सूत्र ग्रन्थो में मुख्यत: आचारशास्त्र का निरूपण कि गया है।

(४) शुल्वसूत्र—इन सूत्र ग्रन्थों में वेदी निर्माण की रीति का विवे किया गया है।

श्रौतसूत्रो में अग्नि होत्र, पौर्णमास्य यज्ञ, चातुर्मास्य एवं पशुयज्ञ आदि विधियों का सर्वांगीण विवेचन सूत्र भाषा में किया गया है। यही नहीं, य यज्ञो में प्रयुक्त होने वाली तीन प्रकार की अग्नियो का भी विधान एवं वर्ण इन सूत्र ग्रन्थो में है। गृह्यसूत्रो में अनेक विषयो का प्रतिपादन किया गया है इनमें समस्त क्रिया-कलापो, संस्कारो, उत्सवो एवं यज्ञो की विधियो का विशद विवेचन किया गया है। शतपथ ब्राह्मण में वर्णित निम्न पाच यज्ञो का भी वर्णन इन सूत्र ग्रन्थों में मिलता है—(१) देवयज्ञ—इनमें देवताओ को आहुति दी जाती है। (२) दानवयज्ञ—इनमें दानवो के सन्तोष के लिए बलि देने का विधान है। (३) पितृयज्ञ—इस यज्ञ में पितरो के लिए आहुति, दान एवं तर्पण किया जाता है। (४) मनुष्ययज्ञ—इस यज्ञ में अतिथियो का सत्कार एवं उनकी सेवाओ का विधान है। (५) ब्रह्मयज्ञ प्रतिदिन होने वाले यज्ञो का वर्णन है।

धर्मसूत्र में १८वें अध्याय की विषय-वस्तु का ही विवेचन है। (४) बौधायन गृह्यसूत्र—यह अब तक अप्रकाशित है। अतः इसके विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता है। (५) मानव गृह्यसूत्र—यह गृह्यसूत्र भी इसी नाम के श्रौत सूत्र से विशेष सम्बन्ध रखता है। इसमें 'विनायक पूजा' नामक उत्सव विशेष का भी समावेश किया गया है। (५) काठक गृह्यसूत्र—इसका मानव गृह्यसूत्र से घनिष्ठ सम्बन्ध है और यह विष्णु स्मृति से भी सम्बन्धित है। (६) भारद्वाज गृह्यसूत्र—इसका विशेष परिचय उपलब्ध नहीं है। (७) वैखानस गृह्यसूत्र—आकार प्रकार में यह एक बहुत बड़ी रचना है, किन्तु यह परवर्ती काल की रचना है।

### अथर्ववेद के गृह्यसूत्र

कौशिक गृह्यसूत्र—इसमें वैदिक कालीन सामान्य गृहस्थ की सम्पूर्ण जीवन-चर्या का उल्लेख है। साथ ही इसमें अभिचार, इन्द्रजाल एवं तन्त्र आदि से सम्बद्ध क्रियाओं का भी समावेश है। इस गृह्यसूत्र में मुख्यतः गर्भाधान से लेकर मृत्युपर्यन्त होने वाले घरेलू क्रिया-कलापों से सम्बन्धित कर्मों का समावेश है। प्रमुख संस्कार ये हैं—(१) पुंसवन—पुत्र प्राप्ति के सम्बन्ध में किया जाने वाला संस्कार, (२) जातकर्म—पुत्र जन्म के उपलक्ष में अनुष्ठेय संस्कार, (३) नामकरण संस्कार (४) चौलकर्म, (५) गोदान (६) उपनयन—आठ से सोलह वर्ष पर्यन्त किया जाने वाला वह संस्कार है जिसके बाद द्विज सभा का अधिकारी होता था, (७) समावर्तन—गुरुगृह में विद्या समाप्ति पर होने वाला संस्कार, (८) विवाह, (९) महायज्ञ—दैनिक होने वाला यज्ञ, (१०) वेद यज्ञ—वेद का स्वाध्याय, (११) देवयज्ञ-देवताओं के लिए होम, (१२) पितृ यज्ञ-पितरों के लिए तर्पण, (१३) भूतयज्ञ—विभिन्न विशाखादि के लिए बलि प्रदान करना, (१४) मनुष्ययज्ञ—अतिथि-सत्कार आदि, (१५) दर्शपूर्ण मास्ययज्ञ—इसमें विभिन्न संस्कारों का समावेश एक साथ होता है। जैसे वर्षारम्भ में सर्पों को बलि देना, गृह-निर्माण, गृह-प्रवेश, जनहिताय सांड़ का छोड़ना, कृषि सम्बन्धी उत्सव तथा चैत्यों पर बलि आदि, (१६) अन्त्येष्टि, (१७) श्राद्ध, (१८) पितृमेध।

इस प्रकार प्राचीन भारतीय गृहस्थ के धार्मिक जीवन के अध्ययन की दृष्टि से तथा नृतत्त्वविज्ञान एवं इतिहास के विद्यार्थी के लिए गृह्यसूत्रों की उपयोगिता विशेष महत्त्वपूर्ण है। भारोपीय जाति प्रथाओं का गृह्यसूत्र में उपलब्ध

### अथर्ववेदीय श्रौतसूत्र

वैतानसूत्र—यह रचना न तो प्राचीन है न मौलिक ही। इसका गोपथ ब्राह्मण एव कात्यायन श्रौतसूत्र से बतलाया जाता है।

### गृह्यसूत्र

गृह्यसूत्रो का निर्माण श्रौतसूत्रों के पश्चात् हुआ है। ब्राह्मण-ग्र गार्हिक यज्ञ-क्रिया के अभाव के कारण ही इन सूत्रो का सृजन हुआ है।

### ऋग्वेदीय गृह्यसूत्र

(१) शांखायन गृह्यसूत्र—इसमे छ अध्याय है। प्रथम चार मौलिक शेष को प्रक्षिप्त माना जाता है। (२) शाम्बव्य—शाम्भव गृह्यसूत्र—इ सम्बन्ध कौषीतकी सम्प्रदाय से है। इसकी विषय-सामग्री शाखायन गृह्यसू प्रथम दो अध्यायो से सम्बद्ध है। इसके अतिरिक्त पितृसम्बन्धी एक स्वतन्त्र अ भी प्राप्त होता है। यह भी अप्रकाशित ही है। (३) आश्वलायन गृह्यसूत्र इसमे चार अध्याय है। इसकी विषय-सामग्री ऐतरेय ब्राह्मण से सम्बन्धित है इसमे आश्वलायन श्रौतसूत्र की विषय-सामग्री का विस्तार से उल्लेख है।

### सामवेद के गृह्यसूत्र

गोभिल गृह्यसूत्र—यह सर्वाधिक प्राचीन एव पूर्ण गृह्यसूत्र है। दूसर गृह्यसूत्र खादिर गृह्यसूत्र—यह द्राह्यायण सम्प्रदाय से सम्बन्धित है तथ राणायनीय शाखा ने भी इसका प्रयोग किया है।

### शुक्ल यजुर्वेद के गृह्यसूत्र

इस गृह्यसूत्र का नाम काटेय या वाजसनेय गृह्यसूत्र है। कात्यायन श्रौत-सूत्र से इसका अत्यधिक सम्बन्ध है। याज्ञवल्क्यस्मृति प्रस्तुत गृह्यसूत्र से प्रभा वित प्रतीत होती है।

### कृष्ण यजुर्वेद गृह्यसूत्र

इस वेद के सात गृह्यसूत्र हैं, किन्तु प्रकाशित केवल तीन ही हुए हैं—(१) आपस्तम्ब गृह्यसूत्र-इसमे आपस्तम्ब कल्पसूत्र के २६वें तथा २७वें अध्याय की विषय-सामग्री सगृहीत की गई है। उक्त कल्पसूत्र के २५वें अध्याय मे केवल मन्त्रो का सन्निवेश है। अत. प्रस्तुत सूत्र की वास्तविक विषय-सामग्री का [illegible] गृह्यसूत्र—इसमे इसी नाम के

कल्पसूत्र के २६वें अध्याय की विषय-सामग्री का ही विवेचन है। (४) बौधायन गृह्यसूत्र—यह अब तक अप्रकाशित है। अतः इसके विषय मे कुछ कहा नही जा सकता है। (४) मानव गृह्यसूत्र—यह गृह्यसूत्र भी इसी नाम के कल्प सूत्र से विशेष सम्बन्ध रखता है। इसमें विनायक पूजा नामक उत्सव-विशेष का भी समावेश किया गया है। (५) काठक गृह्यसूत्र—इसका मानव गृह्यसूत्र से स्पष्ट सम्बन्ध है और यह विष्णु स्मृति से भी सम्बन्धित है। (६) भारद्वाज गृह्यसूत्र—इसका विशेष परिचय उपलब्ध नही है। (७) वैखानस गृह्यसूत्र—आकार-प्रकार मे यह एक बहुत बडी रचना है, किन्तु यह परवर्ती काल की रचना है।

## अथर्ववेद के गृह्यसूत्र

**कौशिक गृह्यसूत्र**—इसमे वैदिक कालीन सामान्य गृहस्थ की सम्पूर्ण जीवन-चर्या का उल्लेख है। साथ ही इसमे अभिचार, इन्द्रजाल एव तन्त्र आदि से सम्बद्ध मन्त्रो का भी समावेश है। इस गृह्यसूत्र मे मुख्यत गर्भाधान से लेकर मृत्यु पर्यन्त होने वाले घरेलू क्रिया-कलापो मे सम्बन्धित मन्त्रो का समावेश है। प्रमुख सस्कार ये है—(१) पुसवन—पुत्र-प्राप्ति के लक्ष्य से किया जाने वाला सस्कार, (२) जातकर्म-पुत्र जन्म के उपलक्ष्य मे अनुष्ठेय सस्कार, (३) नामकरण सस्कार (४) क्षौरकर्म, (५) गोदान, (६) उपनयन—आठ से सोलह वर्ष पर्यन्त किया जाने वाला यह सस्कार है जिससे बालक द्विज सज्ञा का अधिकारी होता था, (७) समावर्त्तन गुरुगृह मे विद्या समाप्ति पर होने वाला सस्कार, (८) विवाह, (९) महायज्ञ—दैनिक होने वाला यज्ञ, (१०) वेद यज्ञ—वेद का स्वाध्याय, (११) देवयज्ञ-देवताओ के लिए होम, (१२) पितृ यज्ञ-पितरों के लिए तर्पण, (१३) भूतयज्ञ—विभिन्न पिशाचादि के लिए बलि प्रदान करना, (१४) मनुष्ययज्ञ—अतिथि-सत्कार आदि, (१५) दर्शपूर्ण तास्ययज्ञ—इसमे [illegible] सस्कारो [illegible] समावेश एक साथ होता है। जैसे वर्षारम्भ मे सर्पों को [illegible]

वैवाहिक विधियो के साथ किया जाने वाला अध्ययन इस निष्कर्ष पर ले जाता है कि एक समय इन जातियो का पारस्परिक सम्बन्ध केवल भाषा तक ही सीमित नही था, अपितु दैनिक जीवन की विधियो मे भी अनुस्यूत था। प्रो० विन्टरनिटज ने गृह्यसूत्रो की रचना को प्राच्यभारत का समाचार पत्र बतलाते हुए सम्पूर्ण भारतीय सूत्र साहित्य को विश्व के उपलब्ध वाङ्मय मे सर्वथा अतुलनीय बतलाया है।

## धर्मसूत्र

इस साहित्य में प्राचीन भारतीय गृहस्थ के दैनिक आचार-संहिता का निरूपण किया गया है। इस प्रकार का साहित्य भी सूत्रात्मक शैली मे ही निबद्ध मिलता है। प्रमुख धर्मसूत्र निम्न हैं—

(१) आपस्तम्ब धर्मसूत्र—प्रस्तुत धर्मसूत्र की विषय-सामग्री आपस्तम्ब कल्पसूत्र के अट्ठाइसवे तथा उन्तीसवे अध्याय से सगृहीत है। इसमे ब्राह्मण, क्षत्रिय एव वैश्य के यज्ञ तथा क्रियाओ का विधान है। साथ ही इसमे कतिपय ऐसे भोज्य पदार्थों की चर्चा आती है, जिन्हें अभक्ष्य एव सेवन के योग्य नहीं माना गया है। तप एव शुद्धि का भी विधान है। भाषा पाणिनी से पूर्ववर्ती है। प्रो० बूलर ने समस्त सूत्र साहित्य का रचनाकाल ४०० ई० पू० माना है।

(२) हिरण्यकेशी धर्मसूत्र—प्रस्तुत धर्मसूत्र का आपस्तम्ब धर्मसूत्र से गम्भीर सम्बन्ध है। प्रतीत होता है कि ईसा पूर्व पाँचवी सदी मे प्रस्तुत धर्मसूत्र ने आपस्तम्ब धर्मसूत्र से स्वतन्त्र होकर अपना वर्तमान रूप ग्रहण किया है। जहाँ तक विषय-सामग्री का प्रश्न है, हिरण्यकेशी सम्प्रदाय के कल्पसूत्र के छब्बीस एव सत्ताईसवे अध्यायो की सामग्री को ही इसमे निरूपित किया गया है।

(३) बोधायन धर्मसूत्र—इसकी विषय-वस्तु इसी सम्प्रदाय के कल्पसूत्र से बिना किसी क्रम के उद्धृत की गई है तथा यह आपस्तम्ब धर्मसूत्र से प्राचीन प्रतीत होता है। यद्यपि आज भारत के किसी भी प्रदेश मे बोधायन सम्प्रदाय का अस्तित्व नहीं है, परन्तु प्राचीन समय मे दक्षिण भारत इसका प्रचार क्षेत्र था, ऐसा कहा जाता है।

आचार्य गौतम इसी सम्प्रदाय के [illegible] थे। इसमे आश्रम चतुष्टय के कर्तव्य, विभिन्न जातियों, विवि[illegible] [illegible] [illegible], राजाओ के कर्तव्य, [illegible] का न्याय [illegible] [illegible] [illegible] आदि

अनेक विषयों का अनुशीलन हुआ है। इसका चतुर्थ अध्याय पद्यात्मक है जो कि धर्मसूत्र के बाद की रचना होने का सूचक है।

(४) गौतम धर्मशास्त्र—इसका मौलिक सम्बन्ध यद्यपि किसी कल्पसूत्र से नहीं है तथापि सामवेद की राणायनीय शाखा से इसका साक्षात्सम्बन्ध बतलाया गया है। कुमारिल के मत में तो इसका सामवेद से ही साक्षात् सम्बन्ध है। क्योंकि इसका छब्बीसवाँ अध्याय सामवेद ब्राह्मण की ही अविकल प्रतिलिपि है। यद्यपि धर्मशास्त्र की संज्ञा से इसे अभिहित किया जाता है, परन्तु शैली की दृष्टि से इस धर्मसूत्र की कोटि में परिगणित किया जाना ही उपयुक्त प्रतीत होता है। यह गद्यात्मक रचना है।

(५) वशिष्ठ धर्मशास्त्र—इस रचना में तीस अध्याय हैं। अन्तिम पाँच अध्याय बाद की रचना मानी जाती है। रचना गद्य-पद्य उभयात्मक है। पद्य में त्रिष्टुप् छन्द का ही मुख्यतः इसमें प्रयोग हुआ है। इसकी धर्मसूत्र सम्बन्धी सामग्री प्राचीनतम है। वैवाहिक विधियों में आपस्तम्ब धर्मसूत्र की भाँति केवल ६ विधियों का ही इसमें स्थान दिया गया है।

(६) मानव धर्मसूत्र—इस धर्मसूत्र के अनेक उद्धरण वशिष्ठ धर्मशास्त्र एवं मनुस्मृति में पाये जाते हैं।

(७) वैखानिक धर्मसूत्र—यह कृति चार प्रश्नों में विभक्त है। इसमें आश्रम चतुष्टय के विभिन्न कर्तव्यों की विधिवत् विवेचना है। सन्यास आश्रम का विस्तार से वर्णन है। मान्यता की दृष्टि से विष्णु धर्म-सम्प्रदाय से इनका अधिक सम्बन्ध है। विषय की दृष्टि से इसे धर्मसूत्र की अपेक्षा गृह्य-धर्मसूत्र कहना अधिक सगत होगा। यह ईसा की तृतीय शताब्दी से पूर्व की रचना प्रतीत नहीं होती है।

## शुल्वसूत्र

ये ग्रन्थ नियामक अधिक हैं। इनमें आपस्तम्ब सम्प्रदाय के कल्पसूत्र के अन्तिम ३०वें प्रश्न का ही विवेचन है। इनमें यज्ञवेदिका निर्माण सम्बन्धी विधियों का उल्लेख है।

वैतान सूत्र का अंग भूत 'प्रायश्चित सूत्र' प्राचीनतम सूत्रों में से एक है।

जाती है। व्याक्रियन्ते शब्दाः अनेन-इति व्याकरणम्। पदो की मीमासा करने वाला शास्त्र ही व्याकरण है। व्याकरण को वेदपुरुष का मुख कहा गया। मुख व्याकरण स्मृतम्। ऋग्वेद में व्याकरण का रूपक वृषभ से जोडा गया है। इस व्याकरण वृषभ के चार सीग हैं, नाम आख्यात उपसर्ग तथा निपात। तीनो काल भूत, भविष्य, वर्तमान ही इसके चरण हैं। सुप तिङ् दो सिर हैं। सात विभक्तियाँ ही इसके सात हाथ है। यह व्याकरण वृषभ, उर कण्ठ और सिर तीन स्थानो से बँधा हुआ है।

गोपथ ब्राह्मण के एक अवतरण मे सिद्ध हो जाता है कि व्याकरण शास्त्र का उदय पुरातन है। वहाँ स्पष्ट ही उल्लेख मिलता है—ओंकारः पृच्छामः को धातुः? किम्प्रातिपदिकम्? किमाख्यातम्? किंलिंगम्? किं वचनम्? का विभक्तिः? कः प्रत्यय? क. स्वर? कः उपसर्गो निपातः? किं वै व्याकरणम्? को विकारः? को विकारी? कति मात्रा? कति वर्णा? कतिपदाः? कः संयोगः? किं स्थानानुप्रदायकरणम्? शिक्षकाः किमुच्चारयन्ति? किं छन्द? को वर्णः इति पूर्व प्रश्नाः?

महर्षि शाकटायन ने व्याकरण के उद्भव की चर्चा करते हुए ऋक्तन्त्र मे लिखा है कि ब्रह्मा ने सर्वप्रथम व्याकरण का उपदेश बृहस्पति को दिया, उसने इन्द्र को, इन्द्र ने भारद्वाज को, भारद्वाज ने ऋषियो को और ऋषियो ने ब्राह्मण को दिया। इस सम्बन्ध म निम्नांकित जनश्रुति प्रसिद्ध है—

समुद्रवत व्याकरण महेश्वरे तदर्ध कुम्भोद्धरण बृहस्पतौ। तदंशभागाश्च शतम्पुरन्दरे कुशाग्रमविन्दूत्पतितम् पाणिनौ। उक्त जनुश्रुति इस बात की सूचक है कि लोक विश्रुत ऐन्द्र व्याकरण इन्द्र की रचना है। वर्तमान मे वेदाग का प्रतिनिधित्व करने वाला पाणिनीय व्याकरण भी उपलब्ध है। महर्षि पाणिनी ने अपने व्याकरण की रचना ४००० अल्पाक्षर सूत्रों में की है। पाणिनी की अष्टाध्यायी व्याकरण की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक रचना है। इसके सूत्रो मे अनेक ऋषियो के नामो का भी उल्लेख हुआ है। वैय्याकरणो मे पाणिनी के पश्चात् व्याडि का नाम लिया जाता है। नागेश के कथनानुसार व्याडि ने एक लाख श्लोक प्रमाण व्याकरण की रचना की थी। व्याडि के पश्चात् निरुक्तकार यास्क का प्रादुर्भाव हुआ। यास्क के पश्चात् कात्यायन एव इसके पश्चात पतंजलि का उल्लेख मिलता है।

आचार्य वररुचि ने व्याकरण शास्त्र के महत्त्व का विवेचन करते हुए

(v) छन्द प्रवेश—बत्तीस हज़ार श्लोकयुक्त रचना है।

(vi) छन्दो रत्नाकर—इसमें सात हज़ार श्लोक हैं।

ज्योतिष—ज्योतिष भी एक वेदाग हैं। याज्ञिक विधि-विधान में तिथि, नक्षत्र, पक्ष, मास, ऋतु, सम्वत्सर आदि के ज्ञान की आवश्यकता होती है। यही कारण हैं कि ज्योतिष को वेदांग का एक अंग माना गया है।

वेदाग ज्योतिष के प्रतिनिधि दो ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं—एक, याजुष ज्योतिष—जिसका यजुर्वेद से सम्बन्ध है; दूसरा, ज्योतिष—जिसका ऋग्वेद से सम्बन्ध है। प्रथम में तैंतालिस तथा द्वितीय में छत्तीस पद्य हैं। इनमें वैदिक काल के ज्योतिष की उपलब्धियों का वर्णन है।

वेदाग ज्योतिष के कर्त्ता का नाम लगध बतलाया जाता है। इसमे सत्ताइस नक्षत्रो की गणना दी गई है। परवर्ती काल के ज्योतिष ग्रन्थों में वराहमिहिर का सूर्य सिद्धान्त उल्लेखनीय है। इनके पहले पाराशर एवं गर्ग की प्रख्यात ज्योतिर्विदो मे गणना की जाती रही है और भी बाद के आचार्यों मे आर्यभट्ट, वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त, भास्कराचार्य एवं कमलाकर आदि ने पर्याप्त ख्याति अर्जित की है।

दशम अध्याय

## वैदिक, संस्कृति, सभ्यता एवं समाज

**प्रश्न**—वैदिक संस्कृति के मूल तत्वों की समीक्षा कीजिए।

Describe the essential features of the Vedic Culture as represented in the Rigveda. —आ० वि० वि० ६४

**Or**

वैदिक संस्कृति मे नैतिक मूल्यों पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

**उत्तर**—विश्व के इतिहास पर विहगम दृष्टिपात करने से हम इस निष्कर्ष पर बिना किसी सन्देह के पहुंचते हैं कि विश्व मे प्राप्त होने वाली समस्त संस्कृतियो मे यदि कोई प्राचीनतम संस्कृति है तो वह वैदिक संस्कृति ही है। संसार के अन्य राष्ट्र जब अज्ञानान्धकार मे निमग्न थे, उस समय वैदिक आर्य सम्पूर्ण कला-कौशलो के विशेषज्ञ थे। इस तथ्य को भले ही विश्व के शिक्षाभिमानी दुराग्रह के कारण स्वीकार न करें, किन्तु उन्हे पाश्चात्य आलोचक विन्टरनिट्ज के हृदयोद्गारो को अपनी दृष्टि से ओझल नही करना चाहिए—

If we wish to learn the beginnings of our own culture, if we wish to understand the oldest Indo-European Culture, we must go to India, where the oldest literature of an Indo-European people is preserved

आज भी भारतीय संस्कृति वस्तुत वैदिक संस्कृति के बहुमुखी, व्यापक तथा शाश्वतिक प्रभाव को लेकर जीवन-यात्रा कर रही है। इसके तत्व इतने पुष्ट हैं

कि यह निरन्तर जीवन-यात्रा में कभी पथभ्रष्ट नहीं हुई है। इस संस्कृति के तत्त्व प्राचीनतम वैदिक संस्कृति के तत्त्व हैं, जो कि विश्व की प्राचीनतम कृतियों में से एक है। इस संस्कृति की प्राचीनता की घोषणा विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ वेद स्वयं कर रहे हैं—"सा प्रथमा संस्कृति विश्ववारा"। विश्व के सर्व कल्याण अर्थात् आनन्दप्रदायिनी संस्कृति वैदिक संस्कृति ही है। रवीन्द्र ठाकुर ने भी अपने हृदयोद्गार इस प्रकार अभिव्यक्त किए हैं—

प्रथम प्रभात उदय तव गगने ।
प्रथम सामरव तव तपोवने ॥

संस्कृति का समानान्तर एक अन्य शब्द है—सभ्यता । किन्तु सभ्यता एवं संस्कृति इन दोनों ही शब्दों में अन्तर है। सभ्यता से अभिप्राय मानव की भौतिक विचारधारा से है तथा संस्कृति शब्द मानव के आध्यात्मिक एवं मानसिक क्षेत्र के विकास का सूचक है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि मानव जीवन में अध्यात्म का महत्त्व भी स्वाभाविक है, भौतिक विकास से शारीरिक क्षुधा तृप्त होती है किन्तु आत्मा अतृप्त ही रहती है। इसी आत्मा से सम्बद्ध विकास के लिए किये गये कार्य संस्कृति के अन्तर्गत गृहीत होते हैं। मनुष्य केवल भौतिक परिस्थितियों से सन्तुष्ट नहीं हो सकता है। वह केवल भोजन से ही अपनी जीवन-यात्रा पूर्ण नहीं कर सकता है। शरीर के साथ मन और आत्मा भी है। भौतिक विकास से शारीरिक क्षुधा की तृप्ति तो सम्भव है; किन्तु मन एवं आत्मा सर्वथा अतृप्त ही रहेंगे। मन एवं आत्मा की तृप्ति के लिए मानवीय विकास एवं उन्नति को हम संस्कृति कहें तो अनुपयुक्त न होगा। मानवीय जिज्ञासा का परिणाम धर्म और दर्शन का उदय है, मनुष्य सौन्दर्य तत्व की खोज में लीन होकर संगीत, साहित्य आदि अनेक कलाओं को जन्म एवं विकास प्रदान करता है।

इस प्रकार मानसिक एवं आध्यात्मिक क्षेत्र में उन्नति के द्योतक प्रत्येक तत्व को हम संस्कृति का अंग कहें तो अनुपयुक्त न होगा। पारिभाषिक रूप में इसे हम यों कह सकते हैं—

किसी समाज, देश या राष्ट्र से मानवों के धर्म, दर्शन ज्ञान, विज्ञान से सम्बद्ध क्रियाकलाप तथा आदर्श, सभ्यता, संस्कार इन सभी का जो सामंजस्य है वही संस्कृति है अथवा स्थूल रूप से संस्कारों का नाम ही संस्कृति है जो कि दुर्गुण, दुर्व्यसन, पाप तथा पाप भावनाओं को हृदय से निकालकर निष्पाप

तथा शुभ गुणो से युक्त करती है। संस्कृति शब्द का निर्माण सम् उपसर्ग पूर्वक कृ धातु से क्तिन् प्रत्यय के योग से होता है। इस प्रकार संस्कार, संस्कृत एवं सम्कृति—तीनो शब्दो का मूल एक ही है तथा अर्थ है—संवारना तथा शुद्ध करना।

वैदिक संस्कृति मे मानव का जीवन उल्लासमय तथा आशामय था, निरन्तर आगे बढ़ने की लालसा थी, यत्र-तत्र-सर्वत्र वैदिक मन्त्रो मे यही ध्वनि प्रतिध्वनित होती है। जिस प्रकार परवर्तीकाल मे मानव को निराशावादी एव पलायनवादी तक बनना पडा, उसका वैदिक काल मे नामोनिशान न था "वैदिक विचारधारा के अनुसार जीवन का चरम लक्ष्य दु ख का अभावरूप मुक्ति या मोक्ष जैसा न होकर निश्चित रूप भावात्मक ही है। वह चरम लक्ष्य केवल अमृतत्व आनन्त्य या निश्रेयस् ही कहा जा सकता है" बहुत से विद्वानो को भी यह जानकर आश्चर्य होगा कि वैदिक संहिताओ मे मुक्ति, मोक्ष अथवा दु ख शब्द का प्रयोग एक बार भी हमको नही मिला। हमारी समझ मे उपर्युक्त वैदिक दार्शनिक दृष्टि की पुष्टि मे यह एक अद्वितीय प्रमाण है।" वैदिक ऋषियो ने सर्वदा प्रकृति माता की गोद मे क्रीडा करने की कामना की है, उनके लालन-पालन तथा पोषण मे अमृतत्व मे आनन्द की अनुभूति की है। यही नही, प्रकृति के विभिन्न तत्वो मे निहित प्रसादनी शक्ति को अपने मन मे आविर्भूत होने की कामना की है। अथर्ववेद के एक मन्त्र मे तो बहुत ही स्पष्ट शब्दो मे—

> पश्येम शरदः शतम्। जीवेमशरदः शतम्
> बुध्येमशरदः शतम्। रोहेम शरदः शतम्
> पूषेमशरदः शतम्। भवेम शरदः शतम्
> भूषेमशरदः शतम्। भूयसी शरदः शतात्।

अर्थात् सौ वर्ष से भी अधिक जीने, देखने, सुनने, ज्ञानार्जन करने, बढ़ने, पुष्ट होने और आनन्दमय जीवन की कितनी रमणीय कामना है। "जीवन के विषय मे यह सुखद स्वरूप, भव्य और स्वर्गीय भावना कितनी उत्कृष्ट है। भारतीय संस्कृति की लम्बी परम्परा मे यह नि सन्देह अद्वितीय है और गंगा की लम्बी धारा की परम्परा मे गंगोत्री के जल के समान दिव्य और पवित्र है।"[१]

---

१. भारतीय संस्कृति का विकास : डा० मंगलदेव

कि यह विचार जीवन [illegible] कभी पराभूत नहीं हुई है। इस संस्कृति [illegible] वैदिक संस्कृति [illegible] है, जो कि विश्व को [illegible] संस्कृति [illegible] है। इस संस्कृति का [illegible] को [illegible] विश्व के [illegible] कर रहे हैं [illegible] "सा प्रथमा संस्कृति विश्ववारा"। [illegible] वैदिक संस्कृति ही है। [illegible] ने भी [illegible] इस प्रकार अभिव्यक्त किए हैं—

प्रथम प्रभात उदय तव गगने।
प्रथम सामरव तव तपोवने॥

संस्कृति का समानार्थक एक अन्य शब्द है—सभ्यता। किन्तु सभ्यता एवं संस्कृति इन दोनों ही शब्दों में अन्तर है। सभ्यता में, अधिकतर मानव की भौतिक विचारधारा से है तथा संस्कृति शब्द मानव के आध्यात्मिक एवं मानसिक क्षेत्र के विकास का सूचक है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि मानव जीवन में अध्यात्म का महत्व भी वास्तविक है, भौतिक विकास से शारीरिक क्षुधा पूर्ण होती है किन्तु आत्मा अतृप्त ही रहती है। इसी आत्मा से सम्बद्ध विकास के लिए किये गये कार्य संस्कृति के अन्तर्गत गृहीत होते हैं। मनुष्य केवल भौतिक परिस्थितियों से सन्तुष्ट नहीं हो सकता है। वह केवल भोजन से ही अपनी जीवन-यात्रा पूर्ण नहीं कर सकता है। शरीर के साथ मन और आत्मा भी है। भौतिक विकास से शारीरिक क्षुधा की तृप्ति तो सम्भव है; किन्तु मन एवं आत्मा सर्वथा अतृप्त ही रहेंगे। मन एवं आत्मा की तृप्ति के लिए मानवीय विकास एवं उन्नति को हम संस्कृति कहें तो अनुपयुक्त न होगा। मानवीय जिज्ञासा का परिणाम धर्म और दर्शन का उदय है, मनुष्य सौन्दर्य तत्व की खोज में लीन होकर संगीत, साहित्य आदि अनेक कलाओं को जन्म एवं विकास प्रदान करता है।

इस प्रकार मानसिक एवं आध्यात्मिक क्षेत्र में उन्नति के द्योतक प्रत्येक तत्व को हम संस्कृति का अंग कहें तो अनुपयुक्त न होगा। पारिभाषिक रूप में इसे हम यों कह सकते हैं—

किसी समाज, देश या राष्ट्र से मानवों के धर्म, दर्शन ज्ञान, विज्ञान से सम्बद्ध क्रियाकलाप तथा आदर्श, सभ्यता, संस्कार इन सभी का जो सामञ्जस्य है वही संस्कृति है अथवा स्थूल रूप से संस्कारों का नाम ही संस्कृति है जो कि दर्शन, दर्व्यसन, पाप तथा [illegible] ओं को हृदय से निकालकर निष्पाप

तथा शुभ गुणो से युक्त करती है। सस्कृति शब्द का निर्माण सम् उपसर्ग पूर्वक कृ धातु से क्तिन् प्रत्यय के योग से होता है। इस प्रकार सस्कार, सस्कृत एवं सस्कृति—तीनो शब्दों का मूल एक ही है तथा अर्थ है—सवारना तथा शुद्ध करना।

वैदिक सस्कृति मे मानव का जीवन उल्लासमय तथा आशामय था, निरन्तर आगे बढ़ने की लालसा थी, यत्र-तत्र-सर्वत्र वैदिक मन्त्रो मे यही ध्वनि प्रतिध्वनित होती है। जिस प्रकार परवर्तीकाल मे मानव को निराशावादी एव पलायनवादी तक बनना पड़ा, उसका वैदिक काल मे नामोनिशान न था "वैदिक विचारधारा के अनुसार जीवन का चरम लक्ष्य दुःख का अभावरूप मुक्ति या मोक्ष जैसा न होकर निश्चित रूप भावात्मक ही है। वह चरम लक्ष्य केवल अमृतत्व आनन्त्य या निश्रेयस् ही कहा जा सकता है। बहुत से विद्वानो को भी यह जानकर आश्चर्य होगा कि वैदिक सहिताओं में मुक्ति, मोक्ष अथवा दुःख शब्द का प्रयोग एक बार भी हमको नही मिला। हमारी समझ मे उपर्युक्त वैदिक दार्शनिक दृष्टि की पुष्टि मे यह एक अद्वितीय प्रमाण है।" वैदिक ऋषियो ने सर्वदा प्रकृति माता की गोद मे क्रीडा करने की कामना की है, उनके लालन-पालन तथा पोषण मे अमृतत्व मे आनन्द की अनुभूति की है। यही नही, प्रकृति के विभिन्न तत्वों मे निहित प्रमादनी शक्ति को अपने मन मे आविर्भूत होने की कामना की है। अथर्ववेद के एक मन्त्र मे तो बहुत ही स्पष्ट शब्दो मे—

> पश्येम शरदः शतम् । जीवेमशरदः शतम्
> बुध्येमशरदः शतम् । रोहेम शरदः शतम्
> पूषेमशरदः शतम् । भवेम शरदः शतम्
> भूषेमशरदः शतम् । भूयसी शरदः शतात् ।

अर्थात् सौ वर्ष से भी अधिक जीने, देखने, सुनने, ज्ञानार्जन करने बढ़ने, पुष्ट होने और आनन्दमय जीवन की कितनी कमनीय कामना है। 'जीवन के विषय मे यह सुखद स्वरूप, भव्य और स्वर्गीय भावना कितनी उत्कृष्ट है। भारतीय संस्कृति की लम्बी परम्परा मे यह निःसन्देह अद्वितीय है और गंगा की लम्बी धारा की परम्परा मे गंगोत्री के जल के समान दिव्य और पवित्र है।"[1]

---

१. भारतीय संस्कृति का विकास : डा० मंगलदेव

कि यह विशाल जीवन-धारा में कभी व्यवधान नहीं हुई है। इस संस्कृति के ग्रन्थ प्राचीनतम वैदिक संस्कृति के ग्रन्थ हैं, जो कि विश्व की प्राचीनतम कृतियों में गिने गए हैं। इस संस्कृति की प्राचीनता की घोषणा विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ वेद स्वयं कर रहे हैं- "सा प्रथमा संस्कृति विश्ववारा"। विश्व के द्वारा वरणीय अर्थात् आनन्ददायिनी संस्कृति वैदिक संस्कृति ही है। कवीन्द्र रवीन्द्र ने भी अपने हृदयोद्गार इस प्रकार अभिव्यक्त किए हैं—

प्रथम प्रभात उदय तव गगने ।
प्रथम सामरव तव तपोवने ॥

संस्कृति का समानान्तर एक अन्य शब्द है—सभ्यता । किन्तु सभ्यता एवं संस्कृति इन दोनों ही शब्दों में अन्तर है। सभ्यता से अभिप्राय मानव की भौतिक विचारधारा से है तथा संस्कृति शब्द मानव के आध्यात्मिक एवं मानसिक क्षेत्र के विकास का सूचक है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि मानव जीवन में अध्यात्म का महत्त्व भी स्वाभाविक है, भौतिक विकास में शारीरिक क्षुधा तृप्त होती है किन्तु आत्मा अतृप्त ही रहती है। इसी आत्मा से सम्बद्ध विकास के लिए किये गये कार्य संस्कृति के अन्तर्गत गृहीत होते हैं। मनुष्य केवल भौतिक परिस्थितियों से सन्तुष्ट नहीं हो सकता है। वह केवल भोजन से ही अपनी जीवन-यात्रा पूर्ण नहीं कर सकता है। शरीर के साथ मन और आत्मा की है। भौतिक विकास से शारीरिक क्षुधा की तृप्ति तो सम्भव है;
आत्मा सर्वथा अतृप्त ही रहेंगे। मन एवं आत्मा की तृप्ति के लिए
विकास एवं उन्नति को हम संस्कृति कहें तो अनुपयुक्त न ह
जिज्ञासा का परिणाम धर्म और दर्शन का उदय है, मनुष्य
खोज में लीन होकर संगीत, साहित्य आदि अनेक कलाओं को
प्रदान करता है।

इस प्रकार मानसिक एवं आध्यात्मिक क्षेत्र में उन्नति के
को हम संस्कृति का अंग कहें तो अनुपयुक्त न होगा। पारिभा
हम यों कह सकते हैं—

किसी समाज, देश या राष्ट्र से मानवों के धर्म, दर्शन
सम्बद्ध क्रियाकलाप तथा आदर्श, सभ्यता, संस्कार इन सभी
है वही संस्कृति है अथवा स्थूल रूप से संस्कारों का नाम ही
... भावनाओं को हृदय से

इस सांस्कृतिक अभ्युदय काल में आर्यजाति उत्साहमय, स्वस्थ वातावरण में यशस्वी जीवन की विजय-यात्रा में अग्रसर हो रही थी, उनका जीवन उस काल में वेद था, कर्मकाण्ड की इस युग में प्रधानता थी, इससे आगे क्रमशः विकासशील वैदिक ऋषि परमात्मा के विभूति रूप सूर्य, वायु उषा आदि देवों के साथ सरस भाव से विचरण करते हुए प्रतीत होते हैं। इसी युग में जातीय जीवन को सुव्यवस्थित और सुसंगठित करने की प्रवृत्ति के आधार पर याज्ञिक कर्मकाण्ड का एक विशिष्ट कर्मकाण्ड के रूप में प्रारम्भ हुआ था। इस पृष्ठभूमि के उपरान्त हम वैदिक संस्कृति के कुछ मूलाधार तत्वों का विवेचन संक्षेप में करेंगे जिनसे हमें पता चलेगा कि वर्तमान भारतीय संस्कृति के निर्माण के मूल में किन-किन तत्वों का योग है?

## आध्यात्मवाद

वैदिक संस्कृति की प्रथम विशेषता या मूलाधार ऋतु और सत्य की भावना है, समस्त संसार प्राकृतिक शक्तियों के अधीन नियमानुकूल चलायमान है, इन नियमों में कहीं वैषम्य नहीं है; इसी विषमता के अभाव को ऋत कहा जाता है। मानव जीवन के प्रेरक नैतिक तत्वों का नाम सत्य है। डा० मंगलदेव जी ने लिखा है कि अपने वास्तविक स्वरूप के प्रति सच्चा रहना, यही वास्तविक धर्म है; परन्तु वैदिक आदर्श इससे भी आगे बढ़कर ऋत और सत्य को एक ही मौलिक तथ्य के दो रूप मानता है। इसके अनुसार मनुष्य का कल्याण प्राकृतिक नियमों और आध्यात्मिक नियमों में परस्पर अभिन्नता को समझते हुए उसके साथ अपनी एकरूपता के अनुभव में ही है। इसी ऋत एवं सत्य की भावना का बहुत अधिक स्पष्ट एवं व्यापक रूप में आध्यात्म तत्व में भी देख सकते हैं।

यह आध्यात्मवाद हमें भोगवाद से दूर कर ईश्वर-विषयक ज्ञान की ओर ले जाता है, यह हमें प्रकृति से प्रेम करना भी सिखाता है। ईशोपनिषद के आरम्भ में जगत्तत्व की खोज में लीन ऋषियों ने अपनी विचारधारा को क्या आध्यत्मिक, क्या सामाजिक, क्या आर्थिक तथा क्या ही शारीरिक—सभी क्षेत्रों के मानवीय कर्त्तव्यों को सूत्र रूप में निबद्ध किया है—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्चत् जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्त न भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्। (१)

सम्पूर्ण विश्व ईश्वर से व्याप्त है। इसी भाव को गोस्वामी तुलसीदास जी ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

"जड़ चेतन गुण-दोषमय विश्व कीन्ह करतार।"

इस प्रकार ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करना ही आस्तिकता है। वह त्वर सर्वव्यापक है, यह स्वीकार कर लेने पर अर्थात् पाँचो तत्वों पर एक हान् शक्ति का शासन है, फिर मानव पाप कार्य के लिये जो एकान्त चाहता , उस एकान्त का तो सर्वत्र ही अभाव होगा, क्योंकि ईश्वर सर्वव्यापक है। स प्रकार आत्मिक उन्नति के लिए इस ईश्वर की सर्वव्यापकता के सिद्धान्त ो स्वीकार कर लेना ही होगा, इस सिद्धान्त को हृदयगम कर लेने से आत्मा : शक्ति का आविर्भाव होगा, विश्व की अशान्ति का शमन होगा, विश्व-बन्धुत्व ा प्रसार होगा। यह आस्तिकवाद का सिद्धान्त कि ईश्वर सर्वव्यापक है, गाज भी विश्व के मनुष्यो को अनुप्राणित कर रहा है। कबीरदास के ाब्दो मे :—

"कस्तूरी कुण्डलि बसे, मृग ढूँढे बन माँहि।
ऐसे घट-घट राम हैं, दुनियाँ देखे नाँहि॥"

इस आस्तिकवाद को अर्थात् ईश्वर की सत्ता को पाश्चात्य वैज्ञानिक भी स्वीकार करते हैं। जेम्स जोन्स महोदय सृष्टि की रचना मे आदि कारणभूत एक अनन्त शक्ति को स्वीकार करते हैं। शिकागो विश्वविद्यालय के प्राध्यापक भोस्ट महोदय भी इसी विचारधारा को स्वीकार करते हैं। सन् १९३७ के सितम्बर मास मे होने वाली एक सभा मे जिसका सभापतित्व स्वर्गीय आइन्स्टीन ने किया था, उसमे ईश्वरीय शक्ति को स्वीकार किया गया था, अन्य वैज्ञानिक भी प्लेटो की विचारधारा का समर्थन इस प्रकार करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं—

Beyond all finite existence and secondary cause, laws, ideas and principle there is an intelligence mind

इस प्रकार एक महान् शक्ति की सत्ता भारतीय ही नही, पाश्चात्य वैज्ञानिक भी स्वीकार करते हैं। वैदिक संस्कृति का दूसरा आधार त्यागभाव है। ससार का भोग त्यागभाव से ही करना चाहिए। पदार्थों के उपभोग का इस संस्कृति मे निषेध नही है, अपितु भोगवाद मे लिप्त हो जाने का निषेध है। यह सिद्धान्त जीवन जलयान के लिए प्रकाश-स्तम्भ है, जिससे जीवन जलयान "भोगवाद रूपी चट्टानों से चकनाचूर होने मे बच जाय। फैजी के शब्दों मे, यदि मैं ममता-मोह की मृग-मरीचिका मे फँस जाऊँ, उस समय कर्तव्य की

इस सांस्कृतिक अभ्युदय काल में आर्यजाति उत्साहमय, स्वस्थ वातावरण में यशस्वी जीवन की विजय-यात्रा में अग्रसर हो रही थी, उनका जीवन उस काल में वेद था, कर्मकाण्ड की इस युग में प्रधानता थी, इससे आगे क्रमशः विकासशील वैदिक ऋषि परमात्मा के विभूति रूप सूर्य, वायु उषा आदि देवों के साथ सरल भाव से विचरण करते हुए प्रतीत होते हैं। इसी युग में जातीय जीवन को सुव्यवस्थित और सुसगठित करने की प्रवृत्ति के आधार पर याज्ञिक कर्मकाण्ड का एक विशिष्ट कर्मकाण्ड के रूप में प्रारम्भ हुआ था। इस पृष्ठभूमि के उपरान्त हम वैदिक संस्कृति के कुछ मूलाधार तत्वों का विवेचन संक्षेप में करेंगे जिनसे हमें पता चलेगा कि वर्तमान भारतीय संस्कृति के निर्माण के मूल में किन-किन तत्वों का योग है?

## आध्यात्मवाद

वैदिक संस्कृति की प्रथम विशेषता या मूलाधार ऋतु और सत्य की भावना है, समस्त संसार प्राकृतिक शक्तियों के अधीन नियमानुकूल चलायमान है, इन नियमों में कहीं वैषम्य नहीं है; इसी विषमता के अभाव को ऋत कहा जाता है। मानव जीवन के प्रेरक नैतिक तत्वों का नाम सत्य है। डा० मगलदेव जी ने लिखा है कि अपने वास्तविक स्वरूप के प्रति सच्चा रहना, यही वास्तविक धर्म है, परन्तु वैदिक आदर्श इससे भी आगे बढ़कर ऋत और सत्य को एक ही मौलिक तथ्य के दो रूप मानता है। इसके अनुसार मनुष्य का कल्याण प्राकृतिक नियमों और आध्यात्मिक नियमों में परस्पर अभिन्नता को समझते हुए उसके साथ अपनी एकरूपता के अनुभव में ही है। इसी ऋत एवं सत्य की भावना का बहुत अधिक स्पष्ट एवं व्यापक रूप में आध्यात्म तत्व में भी देख सकते हैं।

यह आध्यात्मवाद हमें भोगवाद से दूर कर ईश्वर-विषयक ज्ञान की ओर ले जाता है, यह हमें प्रकृति से प्रेम करना भी सिखाता है। ईशोपनिषद के आरम्भ में जगत्‌तत्व की खोज में लीन ऋषियों ने अपनी विचारधारा को क्या आध्यत्मिक, क्या सामाजिक, क्या आर्थिक तथा क्या ही शारीरिक—सभी क्षेत्रों के मानवीय कर्त्तव्यों को सूत्र रूप में निबद्ध किया है—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्चत् जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्त न भुञ्जीया मा गृधः कस्यस्विद्धनम्। (१)

सम्पूर्ण विश्व ईश्वर से व्याप्त है। इसी भाव को गोस्वामी तुलसीदास जी ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

सर्वाङ्गीण अभ्युदय का इस संस्कृति में विशेष ध्यान रखा जाता है इसीलिए पुरुषार्थ चतुष्टय धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को समान भाव से महत्व प्राप्त है। धर्म इस संस्कृति का प्राणभूत सिद्धान्त है, धर्म ही उन्नति का मूल है तथा जन्म-जन्मातर का साथी, यह धारणा प्रत्येक भारतीय के हृदय में बद्धमूल है—"धर्मः सखा परमहो परलोक याने" धर्म के बिना कार्य सञ्चालन असम्भव है। काम ही सृष्टि निर्माण का मूल है। मोक्ष भारतीय संस्कृति एवं शिक्षा का मूल हेतु है। इस प्रकार इस संस्कृति में ऐहिक तथा पारलौकिक उन्नति के साथ व्यक्तिगत जीवन में शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक उन्नति को समान महत्त्व प्राप्त है। इसके विपरीत सुकरात ने आत्मा को ही महत्त्व प्रदान किया था। पश्चिम केवल भौतिकवादी विकास के लिए कटिबद्ध है। भारत में सर्वाङ्गीण विकास के लिए ही चार वर्ण एवं चार आश्रमों की व्यवस्था की थी।

आशावाद—भारतीय विचारधारा में दार्शनिक सम्प्रदायों के उदय के साथ ही संसार असार है, जीवन क्षणभंगुर एवं नश्वर है, जैसी निराशावादी भावनाएँ पल्लवित हो चुकी थी, जिन भावनाओं ने मानवीय विकास में एक बड़ा व्याघात उपस्थित किया था, किन्तु वैदिक संस्कृति एवं साहित्य आशावादी भावनाओं से अनुप्राणित है। यत्र-तत्र-सर्वत्र जीवन के अभ्युदय एवं सौ वर्ष जीने की कामना वेदमन्त्रों में मिलती है। वैदिक ऋषियों की जीवन के प्रति सदैव उत्साहपूर्ण धारणा रही है। समस्त वैदिक साहित्य अमृतमय, प्राण संजीवन वचनों से सम्भृत है। यजुर्वेद के मन्त्र में लिखा है कि आत्मरव, या आत्म चेतना कि विस्मृति रूप आत्महत्या (जीवन में आदर्श भावना का अभाव) किसी भी प्रकार की प्रेरणा से विहीन अज्ञानान्धकार में गिराकर सर्वनाश का हेतु है। यजु० ४०।३। यही नहीं, वेद में भी कहा है—"आशा हि परम ज्योति नैराश्य परम तम" तथा "चरैवेति" के रूप में चलते रहने का उपदेश भी वैदिक संस्कृति का ही है। आशय यही है कि दार्शनिक सम्प्रदायों ने निराशावादी भावना का प्रसार यद्यपि किया था, किन्तु वैदिक साहित्य की आशावादी भावना के समक्ष वह पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त न कर सका।

वैदिक संस्कृति में मानव मात्र के कल्याण की भावना का समावेश है, स्वस्तिवाचनप्रकरण के सङ्कलित मन्त्रों में इसी भावना का पल्लवन हुआ है। भगवान् से सर्वत्र इस प्रकार की कामना की गई है कि—भगवान् जो भद्र या कल्याण है, उसे हमें प्राप्त कराइये, भद्र या कल्याणमय मार्ग पर चलते हुए

वैदिक संस्कृति का चतुर्थ आधार आत्मविश्वास है, आत्मा का हनन करना पाप है, यजुर्वेदीय चालीसवें अध्याय का यह मन्त्र भी यही कहता है—

> असुर्य्यानाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
> तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥—ईशो० १।३

वे आत्मघाती हैं, जो स्वार्थ संकुचित वृत्ति तथा भोगपरायण है । आत्म-हननकर्त्ता अन्धकारवृत्त लोकों में जाकर नरक के भागी होते हैं । आत्मविश्वास के बिना जीवन व्यर्थ है । इस बौद्धिक एवं कर्म संघर्षरत युग में मानव की अशान्ति का मूल कारण आत्मविश्वास की उपेक्षा ही है ।

वैदिक संस्कृति का पाचवाँ तत्व पुनर्जन्मवाद है, यह पारलौकिक भावना ही मानव को शुभ आचरण करने का उपदेश देती है । इसी भावना से प्रेरित हो, भारतीय वीर एवं वीराङ्गनाएँ अपने धर्म तथा देश की रक्षा के लिए हँसते हुए प्राणार्पण कर देते थे । पुनर्जन्मवादी यह सोचता है कि 'अयमेव लोक न परः इति' इसका परिणाम होता है कि मानव सदाचार आदि का पालन करता हुआ अगले जीवन को सुखद बनाने की चेष्टा करता है ।

वैदिक संस्कृति में विश्वबन्धुत्व की भावना का भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है, इसी आधार पर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' तथा 'आत्मवत्सर्वभूतेषु' की भावना परवर्ती काल में पल्लवित हुई, जिसका परिणाम राजा एवं रङ्क में स्नेह भावना का संचार करता है । उदाहरणस्वरूप कृष्ण-सुदामा की मैत्री को हम ले सकते हैं, जो कि भारतीय इतिहास में अमर है । विश्वशान्ति और विश्वबन्धुत्व की उदात्त कमनीय भावना का निदर्शन इस मन्त्र में मिलता है । मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे । मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे । इसी प्रकार वैदिक साम्यवाद की उदात्त भावना—

> संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
> देवा भागं यथापूर्वे संजानानामुपासते ॥

अर्थात् हे भगवान् ! हम सभी समान भाव से विश्व में गमन करें, श्रेष्ठ भाषण करें, हमारे हृदय भी कल्याणकारी विचार वाले हों । जिस प्रकार प्राचीन काल में देव कल्याणकारी विचारों की ही उपासना करते थे, ऐसे ही हम भी बनें । यही नहीं, विश्व की कल्याण कामना ही इस संस्कृति का मूल मन्त्र है—

सर्वाङ्गीण अभ्युदय का इस संस्कृति मे विशेष ध्यान रखा जाता है इसीलिए पुरुषार्थ चतुष्टय धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को समान भाव से महत्व प्राप्त है। धर्म इस संस्कृति का प्राणभूत सिद्धान्त है, धर्म ही उन्नति का मूल है तथा जन्म-जन्मातर का साथी, यह धारणा प्रत्येक भारतीय के हृदय मे बद्धमूल है—"धर्मः सखा परमहो परलोक याने" धर्म के बिना कार्य सचालक असम्भव है। काम ही सृष्टि निर्माण का मूल है। मोक्ष भारतीय संस्कृति एव शिक्षा का मूल हेतु है। इस प्रकार इस संस्कृति मे ऐहिक तथा पारलौकिक उन्नति के साथ व्यक्तिगत जीवन मे शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक उन्नति को समान महत्त्व प्राप्त है। इसके विपरीत सुकरात ने आत्मा को ही महत्त्व प्रदान किया था। पश्चिम केवल भौतिकवादी विकास के लिए कटिबद्ध है। भारत मे सर्वाङ्गीण विकास के लिए ही चार वर्ण एव चार आश्रमो की व्यवस्था की थी।

आशावाद—भारतीय विचारधारा मे दार्शनिक सम्प्रदायो के उदय के साथ ही ससार असार है, जीवन क्षणभगुर एव नश्वर है, जैसी निराशावादी भावनाएँ पल्लवित हो चुकी थी, जिन भावनाओ ने मानवीय विकास मे एक बडा व्याघात उपस्थित किया था, किन्तु वैदिक संस्कृति एव साहित्य आशावादी भावनाओ से अनुप्राणित है। यत्र-तत्र-सर्वत्र जीवन के अभ्युदय एव सौ वर्ष जीने की कामना वेदमन्त्रो मे मिलती है। वैदिक ऋषियों की जीवन के प्रति सदैव उत्साहपूर्ण धारणा रही है। समस्त वैदिक साहित्य अमृतमय, प्राण सजीवन वचनो से सम्भृत है। यजुर्वेद के मन्त्र मे लिखा है कि आत्मत्व, या आत्म चेतना कि विस्मृति रूप आत्महत्या (जीवन मे आदर्श भावना का अभाव) किसी भी प्रकार की प्रेरणा से विहीन अज्ञानान्धकार मे गिराकर सर्वनाश का हेतु है। यजु० ४०।३। यही नही, वेद मे भी कहा है—"आशा हि परम ज्योति नैराश्य परम तम." तथा "चरैवेति" के रूप मे चलते रहने का उपदेश भी वैदिक संस्कृति का ही है। आशय यही है कि दार्शनिक सम्प्रदायो ने निराशावादी भावना का प्रसार यद्यपि किया था, किन्तु वैदिक साहित्य की आशावादी भावना के समक्ष वह पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त न कर सका।

वैदिक संस्कृति मे मानव मात्र के कल्याण की भावना का समावेश है, स्वस्तिवाचनप्रकरण के सकलित मन्त्रो मे इसी भावना का पल्लवन हुआ है। भगवान् से सर्वत्र इस प्रकार की कामना की गई है कि—भगवान् जो भद्र या कल्याण है, उसे हमे प्राप्त कराइये; भद्र या कल्याणमय मार्ग पर चलते हुए

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभागभवेत् ॥

विश्व के प्राणीमात्र सुखी हों, प्राणी-मात्र नीरोग हो, सभी मंगलदर्शी हों, सभी सुखी हो । इसी प्रकार "पुमान् पुमांसं परिपातु विश्वतः" मानव मात्र की परस्पर रक्षा और सहायता करना मनुष्य का कर्त्तव्य है । "तत्कृण्मो ब्रह्मवो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः" हम सभी मिलकर मनुष्यों में परस्पर सुमति और सद्भावना के विस्तार की उपासना करे । इस प्रकार की उदार घोषणाएँ वैदिक संस्कृति की हैं । अन्यान्य विश्व की संस्कृतियो मे इसका अभाव ही है । उदाहरणतः यूनान मे सुकरात को जहर का प्याला पीना पड़ा, ईसा को फाँसी के तख्त पर बैठना पड़ा । मय संस्कृति का विनाश भी यूरोपियन ने किया । अतः यह मानना ही पड़ेगा कि वैदिक संस्कृति विश्व को सुपथ का मार्ग अपनाने का ही आदेश देती है—

"असतो मा सद्गमय,
तमसो मा ज्योतिर्गमय
मृत्योर्मा अमृतं गमयेति ।"

समन्वयवाद एवं विचार सहिष्णुता भी भारतीय संस्कृति का एक आधार है जिसमें आर्य-अनार्य संघर्ष के उपरान्त अनार्यों का मिलन सहिष्णुता का ही परिचायक है, यही कारण है कि भारत अनेक जातियों का एक राष्ट्र है तथा अनेक धर्म शैव, शाक्त, वैष्णव, ईसाई, जैन, बौद्ध आदि धर्मों का एक धर्म है, वह उसी प्रकार जैसे समुद्र अनेक नदियो (जल) का घर होता है—

स यथा सर्वासामपां समुद्रमेकायनम् ।

भारत मे सभी धर्म एवं सभी जाति समान भाव से पलती एवं फूलती है। आज की संस्कृति का निर्माण केवल वेदों से ही नहीं हुआ है अपितु आगमों से भी हुआ है । यह निगमागमसम्पन्न संस्कृति है । भारत में प्राचीन काल से ही विचार सहिष्णुता एवं धार्मिक विश्वास तथा पूजा-विधियों को पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त है । इसका स्पष्ट उदाहरण ऋग्वेद के इस उदाहरण में प्राप्त है "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" अर्थात् वह शक्ति एक ही है, किन्तु विद्वान् उसे विभिन्न नामो से अभिहित करते है । गीता में भी इसी विचारधारा का प्रतिपादन हुआ है—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्" अर्थात् जो जिस रूप में भजन करते है, मैं उन्हें उसी रूप में प्राप्त होता हूँ ।

वैदिक सभ्यता के नवोन्मेष काल में मानव मात्र दो वर्गों में विभक्त था—आर्य एवं अनार्य। आर्य धर्म इस काल में एक था उसमें खान-पान, रोटी-बेटी का निकट सम्बन्ध था उनमें पूर्ण स्वाभाविक समरसता थी, जैसा कि एक ऋषि का कहना है— मेरा पिता वैद्य है मेरी माता पीसनहारी है, मैं कविता करता हूँ। यद्यपि कुछ ऐसे तत्व भी प्राप्त होते हैं जो सामाजिक विकास के सिद्धान्त में तथा सामाजिक वर्गीकरण के कारणभूत हैं। ऋग्वैदिक काल में कुछ ऐसी सामाजिक परिस्थितियाँ आईं जिनसे पृथक्-पृथक् वर्गों को जन्म मिला, किन्तु वर्गों में विभक्त होने पर भी एक आस्था एक विश्वास एक उद्देश्य और पूर्ण एकात्मकता थी। Muir ने लिखा है कि ऋग्वेद काल में जातिप्रथा नहीं थी, पुरुष सूक्त में ब्राह्मण राजन्य वैश्य एवं शूद्र चार वर्णों का उल्लेख है। पर यह सूक्त बहुत बाद का है अतः ऋग्वेद के मुख्य भाग के रचनाकाल का चित्रण इसमें नहीं है, परन्तु आर्यों एवं दासों में वर्ण (Colour) के आधार पर जातिप्रथा का उदय होता है। यह भी कहा जाता है कि जिस समय ऋग्वेद के अधिकांश मन्त्रों का सृजन हो रहा था उस विश्वामित्र व वसिष्ठ के समय में पुरोहित-वर्ग या राजन्य-वर्ग परम्परागत न था। विराट् पुरुष द्वारा चार वर्णों की उत्पत्ति का विवरण पुरुष सूक्त में प्राप्त है। उन्हीं के आधार पर इन वर्णों का गुणकर्मानुसार विभाजन परवर्ती काल में इस प्रकार किया गया है—धार्मिक कृत्यव्यवस्था, अध्ययनाध्यापन के लिए एक ब्राह्मण वर्ग बना, होतृ, पोतृ नेष्टृ, प्रशास्तृ, अध्वर्यु, ब्रह्मा आदि सप्त पुरोधा इन्हीं में से होते थे। ब्राह्मण वर्ग के पारस्परिक विवाहादि सम्बन्ध उन्हीं के वर्ग में होते थे। किन्तु कभी-कभी दूसरे वर्गों में भी हो जाया करते थे। द्वितीय वर्ग राजन्य था, धार्मिक कृत्य के लिए ब्राह्मण। राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए, सैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए इस राजन्य वर्ग का निर्माण हुआ वैसे तो आर्यों को भारत में प्रारम्भ से ही युद्ध करने पड़े थे अतः उस काल में सभी सैनिक थे; किन्तु कालान्तर में धार्मिक यज्ञों के कर्त्ता एक वर्ग का आविर्भाव हुआ तो धार्मिक धर्म के यज्ञ-यागादि की रक्षा के लिए द्वितीय राजन्य वर्ग का उदय हुआ। धार्मिक यज्ञों की रक्षा के लिए यह वर्ग शस्त्र धारण करता था, अनार्यों से आर्यों की रक्षा करता था। ऋग्वेद के एक मन्त्र में लिखा है कि आर्य सर्वतः शत्रुओं को घिरे हुए हैं, वे मानव नहीं हैं। इन परिस्थितियों में राजन्य वर्ग की सैनिक वर्ग की आवश्यकता नितान्त अपरिहार्य

हम पूर्ण जीवन को प्राप्त करें। हे देव ! हम कानों से भद्र सुनें और आंखों से भद्र देखें। भगवान् ! हमें प्रेरणा दीजिये कि हमारा मन सदा सन्मार्ग का ही अनुसरण करे तथा भगवान् ! हमें निरन्तर कल्याण की प्राप्ति कराइये।

वैदिक संस्कृति में मानव मात्र का लक्ष्य शिक्षा का लक्ष्य एकमात्र ब्र प्राप्ति है —"ब्रह्मानन्दमुपभुङ्क्ते" तथा उस ब्रह्म की प्राप्ति का साधन है तपसा चीयते ब्रह्म। १।८ तथा तपसा किल्बिषं हन्ति॥

तप के द्वारा पाप नष्ट होते हैं। तप से हमारा तात्पर्य यम नियमा पालन से है। यम-नियम भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्त्व हैं। इनके प किए बिना मानव जीवन-मात्र पशु जीवन ही है। निर्दिष्ट ब्रह्म अन्तरात्मा विषय है।

उपरिनिर्दिष्ट तत्त्व वैदिक संस्कृति के आधारभूत सिद्धान्त हैं जिन स्वामी-पुनरुत्थान में संक्षिप्त परिचय मात्र ही प्रस्तुत किया गया है। वैदि संस्कृति मानव को मानवता का संदेश देती है। वैदिक संस्कृति के ये तत परमोत्कर्ष के द्योतक हैं। इसीलिए यह संस्कृति विश्व की अन्यान्य संस्कृतियं को देखते हुए आज भी जीवित है उसी वैदिक संस्कृति की उत्तराधिकारिणी संस्कृति के लिए महाकवि इकबाल ने ठीक ही लिखा है—

यूनान मिस्र रोमां सब मिट गये जहाँ से।
कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी॥

हमारी यही अमर संस्कृति चिरकाल से विश्व का पथ-प्रदर्शन करती रही है और आज ही नहीं; भविष्य में भी अक्षुण्ण बनी रहकर विश्व का मार्ग प्रदर्शन करे, यही एक कामना है।

प्रश्न—ऋग्वेद कालीन भारत की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं धार्मिक स्थिति तथा नैतिक आदर्शों का विवेचन कीजिए।

उत्तर—

## सामाजिक स्थिति

आर्य-अनार्य संघर्ष, आर्य-आर्य संघर्ष के पश्चात् आर्यों के समाज की जो रूपरेखा तैयार हुई, वही उनकी विकसित सामाजिक व्यवस्था थी। आर्यों के सामाजिक जीवन एवं संगठन पर सर्वाधिक प्रभाव आर्य-अनार्य सम्पर्क का ही पड़ा है

वैदिक सभ्यता के नयनोन्मीलन काल मे मानव मात्र दो वर्गों में विभक्त था—आर्य एव अनार्य । आर्य धर्म इस काल मे एक था, उसमे खान-पान, रोटी बेटी का निकट सम्बन्ध था, उनमे पूर्ण व्यावसायिक स्वतन्त्रता थी, जैसा कि एक ऋषि का कहना है—"मेरा पिता वैद्य है, मेरी माता पीसनहारी है, मैं कविता करता हूँ ।" तथापि कुछ ऐसे तत्त्व भी प्राप्त होते हैं जो सामाजिक विकास के सिद्धान्त मे तथा सामाजिक वर्गीकरण के कारणभूत हैं । ऋग्वैदिक काल मे कुछ ऐसी सामाजिक परिस्थितियाँ आईं, जिनसे पृथक्-पृथक् वर्गों को जन्म मिला; किन्तु वर्गों मे विभक्त होने पर भी एक आस्था एक विश्वास एक उद्देश्य और पूर्णत एकात्मकता थी । Muir ने लिखा है कि ऋग्वेद काल मे जातिप्रथा नही थी, पुरुष सूक्त मे ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य एव शूद्र चार वर्णों का उल्लेख है । पर यह सूक्त बहुलवाद का है अत ऋग्वेद के मुख्य भाग के रचनाकाल का चित्रण इसमे नही है, परन्तु आर्यों एव दासो मे वर्ण (Colour) के आधार पर जातिप्रथा का उदय होता है । यह भी कहा जाता है कि जिस समय ऋग्वेद के अधिकाश मन्त्रो का सृजन हो रहा था उस विश्वामित्र व वशिष्ठ के समय मे पुरोहित-वर्ग या राजन्य-वर्ग परम्परागत न था । विराट् पुरुष द्वारा चार वर्गों की उत्पत्ति का विवरण पुरुष सूक्त मे प्राप्त है । उन्ही के आधार पर इन वर्गों को गुणकर्मानुसार विभाजन परवर्ती काल मे इस प्रकार किया गया है—धार्मिक कृत्यव्यवस्था, अध्ययनाध्यापन के लिए एक ब्राह्मण वर्ग बना, होतृ, पोतृ नेष्टृ, प्रशास्तृ, अध्वर्यु, ब्रह्मा आदि सप्त पुरोधा इन्हीं मे से होते थे । ब्राह्मण वर्ग के पारस्परिक विवाहादि सम्बन्ध उन्हीं के वर्ग मे होते थे । किन्तु कभी-कभी दूसरे वर्गों मे भी हो जाया करते थे । द्वितीय वर्ग राजन्य था, धार्मिक कृत्य के लिए ब्राह्मण । राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए, सैनिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए इस राजन्य वर्ग का निर्माण हुआ वैसे तो आर्यों को भारत मे प्रारम्भ से ही युद्ध करने पड़े थे अत उस काल मे सभी सैनिक थे; किन्तु कालान्तर मे धार्मिक यज्ञो के कर्त्ता एक वर्ग का आविर्भाव हुआ तो धार्मिक धर्म के यज्ञ-यागादि की रक्षा के लिए द्वितीय राजन्य वर्ग का उदय हुआ । धार्मिक यज्ञो की रक्षा के लिए यह वर्ग शस्त्र धारण करता था, अनार्यों से आर्यों की रक्षा करता था । ऋग्वेद के एक मन्त्र मे लिखा है कि आर्य सर्वतः शत्रुओ को घिरे हुए हैं, वे मानव नही हैं । इन स्थियो मे राजन्य वर्ग की सैनिक वर्ग की आवश्यकता नितान्त अपरिहार्य

थी, खेती के बीच मेड़ें बनाई जाती थीं। भूमि वितरण की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि भूमि अधिक थी। सम्पत्ति का अङ्कन जन एवं पशु समुदाय की अधिकता के अनुसार होता था। पिता की सम्पत्ति का अधिकारी पुत्र ही होता था, पुत्री नहीं, किन्तु पिता की एकमात्र सन्तान होने पर वह सम्पत्ति की अधिकारिणी होती थी। दत्तक पुत्र प्रथा थी। एक बात यह विशेष थी कि सम्मिलित परिवार प्रथा थी सामूहिक उत्तरदायित्व वहन करना पड़ता था, जो कि पारिवारिक कलह का कारण बनता था। भ्राता (भरण करने वाला) पिता के बाद पालन का रक्षक होता था भ्रातृहीन बहनों की स्थिति अच्छी नहीं थी, भाई-बहन की शादी निषिद्ध थी बाल विवाह अज्ञात था वर के वरण करने में स्वतन्त्रता थी। एक बात और यह विशेष थी कि परिवार में पुत्र की कामना अधिक थी।

आर्यों का सामाजिक संगठन इस प्रकार का था कि नारी का उसमें महत्त्व पूर्ण स्थान था। कुमारी अवस्था तक वह पिता, भ्राता के संरक्षण में रहती थी। इसके पश्चात् पति के, पति के अभाव में पुत्र के। पर्दा-प्रथा नहीं थी, स्त्रियों को शिक्षा दी जाती थी, वे विदुषी होती थी, विद्या के क्षेत्र में वे पुरुषों से पीछे नही थी, किन्तु रणक्षेत्र में उनका प्रवेश नही होता था, वैसे तो ऋग्वेद में विश्पला नामक एक स्त्री युद्ध में जाती है तथा घायल होने पर अश्विनकुमारों ने उसकी चिकित्सा की थी, का उल्लेख मिलता है। विदुषी एवं वीर स्वभाव की नारियों को पूर्ण स्वतन्त्रता थी, स्वयंवर प्रथा का तो हम उल्लेख ऊपर कर ही चुके हैं इसी के साथ नारी अपने रूप पर गर्व भी किया करती थी; अतः नारी-सौन्दर्य एवं सौन्दर्यानुभूति की प्रधानता थी। आदर्श विवाह केवल एक माना जाता था, विवाह पर आज के समान उत्सव मनाये जाते थे। बरात पुरोहित, अग्निपरिक्रमा आदि सभी कुछ होता था। वधुओं का अत्यधिक सम्मान था, उनकी मङ्गलकामना सर्वत्र होती थी—"हे वधू! अपनी सास-ससुर को वशीभूत कर लो, अपनी ननद तथा देवरों के मध्य रानी की भाँति सुशोभित हो।"

आर्यों के वस्त्र युगानुकूल ही थे, वे तीन प्रकार के वस्त्र धारण करते थे, एक तो नीवी अर्थात् धोती, दूसरा, वास और तीसरा, अधिवास। ऊनी तथा सूती दोनों ही प्रकार के वस्त्रों का प्रचलन था। धनसम्पन्न व्यक्ति स्वर्णग्रथित वस्त्र धारण करते थे। उत्सवों पर उज्ज्वल एवं विशेष वस्त्र धारण करने की प्रथा

थी। आभूषण प्रथा भी प्रचलित थी, आभूषणों में कुण्डल, हार, अंगद, वलय गजरे आदि प्रमुख थे। नारियाँ साज-शृङ्गार भी खूब करती थी क्योंकि तेल-कल्पों सभी का उल्लेख मिलता है। पुरुष भी बड़े-बड़े बाल रखते थे दाढ़ी रखने की प्रथा थी, कुछ व्यक्ति दाढ़ी मुड़वा भी देते थे। सम्पूर्ण आर्य जाति स्वच्छ जीवन बिताना चाहती थी ऋग्वेद में एक स्त्री चार वेणियों को रखती थी।

भोजन में दूध महत्त्वपूर्ण था, दही-घृत का भी प्रयोग होता था "क्षीर-पक्वमोदकम् भी था। पनीर भी भक्ष्य था। रोटियाँ, चावल, घी के साथ खाये जाते थे। सम्भवत बलि आदि के अवसर पर मृत पशुओं—भेड़, बकरी आदि का माँस भक्ष्य था। गाय के लिए तो अघ्न्या शब्द का प्रयोग हुआ है। सुरा-सुन्दरी का भी चमत्कार प्रचलित था। अत यदा-कदा समाज में दुराचार भी सुनने को मिल जाता था। मधुर पेय पदार्थ सोम का जिसके गुणगान में ऋग्वेद का नवम मण्डल भरा हुआ है।

आमोद-प्रमोद के साधनों में रथ-दौड़, घुड़-दौड़, नृत्य, संगीत प्रमुख थे। जुआ भी प्रचलित था। जुआरी की दुर्दशा का वर्णन प्राप्त भी होता है। पुरुष और स्त्रियाँ नृत्य भी किया करते थे। वाद्य-यन्त्रों में दुन्दुभी, कर्करा, वेणु, नाडी आदि का उल्लेख मिलता है।

वैदिक काल की सामाजिक स्थिति का अध्ययन कर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि युगानुकूल आर्यों की सामाजिक स्थिति अच्छी थी, नैतिक स्तर उन्नत था। मनुष्य सदाचारी थे। समाज में सुख-शान्ति थी।

## राजनीतिक स्थिति

भारतीय सभ्यता के इतिहास में राजसंस्था चिरकाल से चली आ रही है। वैदिक काल में भी इसकी महत्त्वपूर्ण स्थिति थी। वेद-मन्त्रों को देखकर हमें यह भी आभास मिलता है कि उस काल में जनतन्त्र की भावना और जनता का भी अपने राज्य-शासन में महत्त्वपूर्ण स्थान था। राष्ट्रीय उन्नति के लिए सर्वाङ्गीण उन्नति की सर्वत्र कामना है। कुल मिलाकर हम यह कह सकते हैं कि वैदिक भारत की शासन-व्यवस्था सुसंगठित थी। राजनीतिक व्यवस्था के अध्ययन के लिए हम समस्त शासन-व्यवस्था पाँच विभागों में विभक्त कर देखेंगे—(१) कुटुम्ब, गृह या कुल, (२) ग्राम, (३) विश, (४) जन, (५) राष्ट्र। कुटुम्ब—ऋग्वैदिक कालीन कौटुम्बिक जीवन अत्यधिक सुगठित

था। कुटुम्ब ही राष्ट्र के शासन की इकाई था। कुटुम्ब का वृद्ध व्यक्ति गृहपति था। प्रत्येक कौटुम्बिक समस्या का समाधानकर्त्ता भी यही था। प्राचीन काल मे प्रायः ग्राम के ग्राम एक ही कुटुम्ब के सदस्य होते है। ग्राम—जब कभी कई कुटुम्ब एक ही स्थान पर रहने लगते थे, तब वे ग्राम कहलाते थे, उन सभी व्यक्तियो की सम्मिलित व्यवस्था के लिए एक नये अधिकारी की नियुक्ति की जाती थी। उसका नाम ग्रामणी था। ग्रामणी के निर्वाचन का आधार क्या था इसका ऋग्वेद मे किसी प्रकार का सकेत नही मिलता है, किन्तु शासन व्यवस्था मे ग्रामीण का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान था। ऋग्वेद मे व्रजपति शब्द का प्रयोग हुआ है। सम्भवत वह ग्रामणी के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। विश—विश के सम्बन्ध मे निश्चयपूर्वक कुछ नही कहा जा सकता है। फिर भी एक स्थान पर यह आभास मिलता है कि विश एक वर्ग-विशेष था। विश का प्रधान विशपति कहलाता था। इसी विश से वैश्य जाति का उद्भव माना जाता है। कई विश मिलकर जन बनते थे। जन—का प्रधान गोप कहा जाता था, गोप का शासन व्यवस्था मे अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान था। देश के लिए राष्ट्र शब्द का व्यापक प्रयोग मिलता है। राष्ट्र शब्द से यह अनुमान सहज ही किया जाता है कि उस समय मे शासन व्यवस्था सुविकसित स्थिति मे थी। सघात्मक सरकार होने की भी सम्भावना की जा सकती है। राजा ही राष्ट्र की शासन-व्यवस्था का सर्वेसर्वा तथा कर्णधार होता था। ऋग्वेद मे राजा शब्द का व्यापक प्रयोग हुआ है। यजुर्वेद के एक उल्लेख के अनुसार राजा की स्थिति प्रजा पर निर्भर होती है "विशिराजा प्रतिष्ठितः" तथा हे राजन्! तुम प्रजाओ द्वारा राज्य शासन के लिए चुने जाओ—'त्वां विशो वृणतां राज्याय' अथर्ववेदीय यह उद्धरण भी इसी भाव को पुष्ट करता है कि राजा ही राष्ट्र का अधिकारी होता था, प्रजा का उसमे महत्त्वपूर्ण स्थान था। राजा शब्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे कोई स्पष्ट उल्लेख नही मिलता है, किन्तु ऐतरेय तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण मे दो कथाएँ आती है जिनसे राजा के सम्बन्ध मे कुछ प्रकाश पडता है। ऐतरेय ब्राह्मण मे लिखा है कि देवासुर सग्राम मे असुर विजयी हुए। उस समय देवो ने कहा कि हमारी पराजय का मुख्य कारण राजा का न होना ही है। इसलिए हमे राजा का निर्वाचन करना चाहिए, यह प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ। तैत्तिरीय ब्राह्मण मे लिखा है कि

देवासुर संग्राम में देव एवं असुर दोनों ने ही अपने-अपने सेनापतियों को नियत किया किन्तु राजा के अभाव में युद्ध कैसे हो सकता था? अतः उपरान्त उन्होंने कहा कि राजा के बिना युद्ध असम्भव है फिर देवों ने सर्व और इन्द्र से राजा होने की प्रार्थना की तथा विजय प्राप्त की। इन दोनों आख्यानों से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्राचीन काल में युद्ध आदि के लिए किसी शक्तिशाली व्यक्ति की आवश्यकता होती थी। वही युद्ध का भार लेकर न केवल सैनिक संगठन अपितु धन सम्पत्, शान्ति स्थापन सुन्दर शासन व्यवस्था भी करता था। ऋग्वेद में मित्र, वरुण, अग्नि आदि देवताओं ने अपने शासन के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, उससे ज्ञात होता है कि वे राजा वैभवशाली होते थे। इनका शासन सर्वत्र अप्रतिहत था ऋग्वेद के मन्त्रों से राजा की महानता, दैवी अधिकार, शक्ति, शासन आदि की पुष्टि होती है। राजा ही न्याय करता था, वही दण्ड देता था, गुप्तचरों का भी अपने शासन के लिए उपयोग करता था। राजा प्रजापालक, दीनबन्धु था, उसे जनता से उपहार भी मिलता था। ऋग्वैदिक काल में ब्राह्मण रह थे। राजा वैभवशाली थे, सहस्र स्तम्भों से निर्मित स्वर्णिम भव्य एवं सुन्दर महल उनके निवास-स्थान थे।

ऋग्वेद के अध्ययन करने पर हमें कुछ अन्य शब्द भी मिलते हैं जिनका राज्य-शासन में योगदान स्वीकार किया जा सकता है। राजन्य—शब्द इसी प्रकार का है, इस शब्द का वेद में अत्यधिक प्रयोग किया गया है जिसका तात्पर्य जमीदार या राजा होता है। राजन्य निश्चित ही राजा के सहायक होते थे, स्वयं भी प्रजाहित में संलग्न रहते हैं। अधिक कहें तो राजन्य ही परवर्ती काल में क्षत्रिय कहे जाने वाले वर्ग के पूर्वज थे। 'सम्राट' शब्द भी अनेकशः वेद में प्रयुक्त हुआ है। सम्भवतः यह किसी चक्रवर्ती राजा के लिए प्रयुक्त हुआ है; किन्तु प्रमाणाभाव में निश्चयात्मक रूप में कुछ नहीं कहा जा सकता है। उस काल में राजाओं को सहायता या मन्त्रणा देने के लिए मन्त्री भी होते हैं। अधिकतर मन्त्री पुरोहित वर्ग के ही थे। इन राजा के सहायकों में सर्वप्रधान पुरोहित होता था, वह राजा के सभी कार्यों में सहायक होता था। यज्ञ कार्य सहायक पुरोहित या पुरोधा होते थे। यही पुरोहित राजा का अभिन्न हृदय, मित्र, पथ-प्रदर्शक, रणक्षेत्र का साथी, मन्त्रद्रष्टा तथा स्तुतिकर्त्ता भी होता था। जहाँ पुरोहित एक ओर धार्मिक कृत्यों में प्रधान सहायक होता था वहाँ

वह युद्ध एव राज्य शासन मे भी राजा का हाथ बँटाया करता था। कीथ ने लिखा है—

"पुरोहित राजा के साथ रणक्षेत्र मे जाता था और अपनी प्रार्थनाओ व मन्त्रो द्वारा राजा की विजय का यत्न करता था, अपनी इस सेवा के लिए अनेकश पुरस्कृत भी होता था।" इसलिए यह कहा जा सकता है कि पुरोहित एक प्रतिष्ठालब्ध सम्पन्न व्यक्ति होता था। युद्ध-सचालन के लिए एक सेनानी या सेनाध्यक्ष की सत्ता का भी सकेत हमे वेद-मन्त्रो मे मिलता है जिसकी नियुक्ति सम्भवत राजा स्वयं ही करता था। ऊपर हमने ग्रामणी का सकेत किया है। ग्रामणी के कुछ अन्य सहायक या उसी वर्ग के 'उपस्थि' तथा 'इभ्य' नामक पदाधिकारी भी होते थे। राज्य शासन-व्यवस्था के लिए समाचार वाहक दूत भी होते थे जो कि बुद्धि-सम्पन्न एव कार्य-कुशल तथा राजा के प्रिय जन थे। अस्तु, हम कह सकते है कि उस सभ्यता के स्वर्णिम प्रभात मे आर्यों ने अपनी राजनैतिक स्थिति दृढ बनाने के लिए सुशासन के लिए समुचित व्यवस्था कर रखी थी। वेद के मन्त्रो मे हम सभा, समिति एव सभ्य तीन शब्दो का और भी उल्लेख मिलता है जो कि प्रजा का प्रतिनिधित्व करने वाली इकाइयाँ थीं। इन सभा एव समिति के प्रधान पद का अधिकारी राजा ही होता था। सुडविग ने लिखा है कि सभा मे उच्च कुल के व्यक्ति भाग लेते थे तथा समिति मे जनसाधारण, किन्तु सिमर की कुछ अपनी भिन्न मान्यता है। उसके अनुसार समिति मे समस्त जनता भाग लेती थी, किन्तु सभा केवल गाँव के लिए होती थी। इस सम्बन्ध मे कीथ ने अपने उद्‌गार इस प्रकार व्यक्त किये है—

"समिति सम्पूर्ण जाति के कार्यों के लिए जनता की बैठक थी और सभा समिति के एकत्र होने का स्थान था जहाँ सामाजिक बैठके होती थी।" हाँ, एक बात स्पष्ट है कि स । एव समिति के सदस्य को सभ्य कहा जाता था। निष्कर्ष रूप मे हम कह सकते है कि राज्य-सचालन के लिए सभा एव समिति आवश्यक तत्व थे जो कि शासन-व्यवस्था मे अपना योगदान देते थे। निरकुश होते हुए राजा पर कभी-कभी प्रतिबन्ध भी लगाती थी।

वैदिक काल मे राज्यशासन के सचालन के लिए न्याय-व्यवस्था भी था। हाँ, एक बात उस न्याय व्यवस्था की विशेष थी। वह यह कि दण्ड कठोर था, खून का बदला खून ही था। मनुष्य की कीमत भी निश्चित थी। वैदिक न्याय-व्यवस्था की कठोरता का सकेत हमे मनुस्मृति मे मिल जाता है। ऋग्वेद मे

के बाद घोड़े का भी महत्वपूर्ण स्थान था। घोड़े युद्ध के अतिरिक्त रथो के के खीचने के काम मे आते थे।

आर्यों का जीवन कृषक जीवन था। पशुपालन के अतिरिक्त उनकी जीविका का साधन कृषि थी। कुछ ऐतिहासिको का कहना है कि कृषि आर्यों का प्राचीनतम व्यवसाय है जो कि सर्वथा सत्य है। हमे ऋग्वेद मे 'कर्षण' शब्द अनेकश. मिलता है। 'कर्षण' शब्द भारतीय ईरानी आर्य कृष् धातु से निष्पन्न मानते हैं। अत हम यह भी कह सकते हैं कि इन दोनो जातियो के विभाजन से पूर्व भी कृषि-कर्म प्रधानता प्राप्त कर चुका था। यद्यपि आज की भाँति ही बैलो से हल जोते जाते थे, किन्तु हलो मे छ, आठ, बारह बैल तक जोड दिये जाते थे। उस काल मे प्रधान खेती 'यव' तथा 'धान्य' की होती थी। यही आर्यों के प्रिय भोजन के अग थे। सिचाई व्यवस्था के लिए कुँओ का निर्माण किया जाता था। ऋग्वेद के दशम मण्डल के एक मन्त्र मे लिखा है कि कूप से जल निकाल कर एक बड़े तालाब या नहर मे सिचाई के लिए भर दिया जाता था। कुल्य (नाली) तथा झीलो से सिचाई का कार्य होता था। अच्छी फसल पैदा करने के लिए उस समय खाद का भी प्रयोग किया जाता था, खाद को 'करिष' कहते थे। आशय यह है कि अच्छी प्रकार से जुताई-बुआई करके खाद द्वारा खेतो को उर्वर बनाया जाता था, सिचाई की व्यवस्था भी थी और वैदिक आर्य अच्छी खासी फसल पैदा कर लेते थे। फसल तैयार होने पर स्निनी (हसिया) से उसे काटते थे। उसका गट्ठर या बोझ बनाते थे। अन्न को एकत्र कर रोदकर धान्यकृत (ओसाते) करते थे और अपनी फसल तैयार कर घर ले आते थे। यत्र-तत्र फसल को हानि पहुँचाने वाले कीड़े-मकोडो का भी वेद मे उल्लेख मिल जाता है। कभी-कभी अनावृष्टि एव अतिवृष्टि भी शस्य को क्षति पहुँचा देती थी।

निम्न वर्ग के व्यक्ति अपने जीवन-यापन के लिए आखेट भी किया करते थे जो कि उनके जीवन के मुख्य कार्यों मे से एक था। शिकारी धनुष-बाण एव जाल का उपयोग करते थे। जाल से सिह के पकडने का वर्णन भी मिलता है। खन्दक मे हिरन को गिराकर तथा कुत्तो द्वारा सूअर का शिकार भी किया जाता था। चिड़िया जाल मे फसाई जाती थी। हाथियो को वश मे करने के लिए पालतू हाथियो का उपयोग किया जाता था। बाण के द्वारा भैसे का शिकार होता था।

पशुओं के लिए चरागाह भी थे। अपराध-सिद्धि के लिए जल एवं अग्नि सम्बन्धी परीक्षाएँ होती थीं।

वैदिक काल का प्रमुख अपराध पशु चोरी था और कभी-कभी वध, अग्नि, डाके के मामलों का भी उल्लेख मिल जाता है, किन्तु इन अपराधियों का पता लगने पर उन्हें कठोर दण्ड भी दिया जाता था। न्याय-व्यवस्था का यह स्वरूप प्रमाण था या कि समाज सुव्यवस्थित था।

युद्ध—आर्यों को युद्धप्रिय कहा जाता था, यह उनका एक विशिष्ट गुण था। ऋग्वेद में इसका पर्याप्त उल्लेख हुआ है। युद्ध विशेषतः आत्मरक्षा, विजय तथा सांस्कृतिक प्रसार के लिए किया जाता था। सेना में पैदल तथा रथों का प्रमुख स्थान था। रथों में दो, तीन, चार तक अश्व जोड़े जाते थे। ऋग्वेद-कालीन अस्त्रों में धनुष, बाण, कवच, हस्तघ्न (बाहुरक्षक), तलवार, भाला, बर्छी आदि थे, किन्तु इन सामान्य अस्त्रों से भी युद्ध भयंकर तथा दीर्घकालीन होते थे। राजा के नेतृत्व में सेना आक्रमण करती थी, पुरोहित उत्साह-वर्धन एवं अपने पक्ष की विजय के लिए प्रार्थनाएँ करते थे। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि आर्यों ने अपने सुख एवं शान्ति के लिए एक सुगठित शासन व्यवस्था का निर्माण किया था।

## आर्थिक स्थिति

वैदिक आर्यों के समग्र जीवन पर दृष्टि निक्षेप करने पर हम कह सकते हैं कि वे राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन में पर्याप्त विकास कर चुके थे। उनका जीवन सुव्यवस्थित जीवन था। इसलिए वैदिक आर्यों को हम सुसंस्कृत एवं सभ्य जातियों के समान ही आर्थिक जीवन के विकास के लिए पशुपालन, कृषि, गृह-उद्योग-धन्धे तथा व्यापार करते हुए पाते हैं।

आर्यों की आर्थिक अवस्था का मूलाधार पशुपालन ही था, सांड एवं बैलों से कृषि की जाती थी। ये पशु अन्न एवं भोज्य पदार्थों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने का भी कार्य करते थे। अन्य पालतू पशुओं में भेड़, बकरा, बकरी, गदहे तथा कुत्ते प्रमुख थे लेकिन सर्वाधिक महत्व गाय को दिया गया था। इन पशुओं के लिए चरागाह एवं चरवाहों का भी उल्लेख ऋग्वेद में मिल जाता है। इन पशुओं के स्वामित्व के चिन्ह के लिए कानों पर चिन्हांकित रहता था। उस काल में प्रायश: पशुहरण किया जाता था। पशु धन में गाय

बाद घोड़े का भी महत्वपूर्ण स्थान था। घोड़े युद्ध के अतिरिक्त रथो के खीचने के काम मे आते थे।

आर्यो का जीवन कृषक जीवन था। पशुपालन के अतिरिक्त उनकी जीविका ा साधन कृषि थी। कुछ ऐतिहासिको का कहना है कि कृषि आर्यो का ाचीनतम व्यवसाय है जो कि सर्वथा सत्य है। हमे ऋग्वेद मे 'कर्षण' शब्द नेकशः मिलता है। 'कर्षण' शब्द भारतीय ईरानी आर्य कृष् धातु से निष्पन्न ानते हैं। अत. हम यह भी कह सकते है कि इन दोनो जातियो के विभाजन े पूर्व भी कृषि-कर्म प्रधानता प्राप्त कर चुका था। यद्यपि आज की भांति ही ैलो से हल जोते जाते थे; किन्तु हलो मे छ, आठ, बारह बैल तक जोड़ दिये जाते थे। उस काल मे प्रधान खेती 'यव' तथा 'धान्य' की होती थी। यही आर्यों के प्रिय भोजन के अग थे। सिचाई व्यवस्था के लिए कुँओ का निर्माण किया जाता था। ऋग्वेद के दशम मण्डल के एक मन्त्र मे लिखा है कि कूप से जल निकाल कर एक बड़े तालाब या नहर मे सिंचाई के लिए भर दिया जाता था। कुल्य (नाली) तथा झीलो से सिचाई का कार्य होता था। अच्छी फसल पैदा करने के लिए उस समय खाद का भी प्रयोग किया जाता था, खाद को 'करिष' कहते थे। आशय यह है कि अच्छी प्रकार से जुताई-बुआई करके खाद द्वारा खेतो को उर्वर बनाया जाता था, सिचाई की व्यवस्था भी थी और वैदिक आर्य अच्छी खासी फसल पैदा कर लेते थे। फसल तैयार होने पर स्त्रिनी (हसिया) से उसे काटते थे। उसका गट्ठर या बोझ बनाते थे। अन्न को एकत्र कर रोदकर धान्यकृत (ओसाते) करते थे और अपनी फसल तैयार कर घर ले आते थे। यत्र-तत्र फसल को हानि पहुंचाने वाले कीड़े-मकोड़ो का भी वेद मे उल्लेख मिल जाता है। कभी-कभी अनावृष्टि एव अतिवृष्टि भी सस्य को क्षति पहुंचा देती थी।

निम्न वर्ग के व्यक्ति अपने जीवन-यापन के लिए आखेट भी किया करते थे जो कि उनके जीवन के मुख्य कार्यो मे से एक था। शिकारी धनुष-बाण एव जाल का उपयोग करते थे। जाल से सिंह के पकड़ने का वर्णन भी मिलता है। खन्दक मे हिरन को गिराकर तथा कुत्तो द्वारा सूअर का शिकार भी किया जाता था। चिड़िया जाल मे फसाई जाती थी। हाथियो का वध न करने के लिए पालतू हाथियो का उपयोग किया जाता था। बाण के द्वारा भैंसे का शिकार होता था।

वैदिक काल में विभिन्न प्रकार के दस्तकारों का भी उल्लेख मिलता है उस समाज में बढ़ई का आदरपूर्ण स्थान था, क्योंकि वह युद्ध आदि के लिए रथ बनाता था तथा कृषि आदि के लिए गाड़ी व हल बनाता था। वह लकड़ी पर नक्काशी का कार्य भी किया करता था। धातुकार और लोहार को समाज में द्वितीय स्थान प्राप्त था। आग धोंकने के लिए पंखों का प्रयोग होता था। हिरण्यकार हिरण्य से आभूषण बनाता था। ऋग्वेद में यह भी पता चलता है कि सिन्धु जैसी नदियों में स्वर्ण प्राप्त होता था, इसीलिए सिन्धु को स्वर्ण हिरण्यिणी भी कहा है। कभी-कभी भूमि से सोना भी निकाला जाता था। अयस क्या था? यह अनिश्चित है। उस समाज का चौथा व्यक्ति चर्मकार था जिसे चमड़ा पकाने की कला का ज्ञान था, जो कि चमड़े से विभिन्न चीजों का निर्माण करता था। स्त्रियाँ कपड़ा सीने, बुनने तथा चटाई बनाने का कार्य करती थीं। इन सभी कार्यों को करने वालों को हेय दृष्टि से नहीं देखा जाता था जैसा कि आज के समाज में देखा जाता है। विभिन्न प्रकार के कार्य करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र था। वेद में एक स्थान पर वर्णन मिलता है कि—"मैं कवि हूँ, मेरे पिता वैद्य हैं और मेरी माता पीसनहारिन है।" दास अपने स्वामी के कार्यों में सहायता करते थे, चाहे वे कार्य कृषि के हों, औद्योगिक या पशुपालन सम्बन्धी ही क्यों न हों। मत्स्य पालन का स्पष्ट वर्णन वेद में नहीं है और न सामुद्रिक व्यापार में ही आर्य कुशल थे; किन्तु नदी पार करने के लिए नाव का प्रयोग होता था।

व्यापार के क्षेत्र में आर्यों ने उस युग में जो उन्नति की, वह सीमित साधनों के देखते हुए पर्याप्त थी। राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय दोनों ही प्रकार के व्यापार उस युग में चलते थे। आर्यों ने सिक्कों का भी निर्माण किया था। कुछ विद्वानों ने 'निष्क' को एक सिक्का कहा है। दूसरे कुछ व्यक्ति उसे एक आभूषण कहते हैं। अधिकतर विनिमय प्रथा द्वारा ही व्यापार होता था। ऋग्वेद में इन्द्र की एक मूर्ति का मूल्य गायें लिखा है। ऋग्वेद में वणिक शब्द का प्रयोग हुआ है जो कि व्यापारी का ही परिचायक है। ऋग्वेद में एक स्थान पर सौदा तय करने में घटा-बढ़ी करने का सुन्दर वर्णन आया है, जहाँ यह भी लिखा है कि तय किये हुए सौदे का निर्वहण आवश्यक था। ऋण के लेन-देन का भी वर्णन मिलता है। पशु भी धन था, अश्व को भी धन लिखा है। वीर को भी धन की संज्ञा दी है। योग्य पुत्र भी धन बताया गया

है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि वैदिक भारत में आर्थिक विषमता न थी, जन जीवन सुखमय था।

## धार्मिक स्थिति

वैदिक काल भारतीय आर्यों का स्वर्णिम प्रभात है। उस स्वर्णिम काल में ही उन्होंने अध्यात्म जगत् में प्रथम पदार्पण किया था, किन्तु इस स्वर्णिम उदयकाल में ही आर्यों ने जो उन्नति एवं विकास किया था, तदनुरूप उनकी मान्यताएँ—आस्थाएँ आज तक अविचल रूप में प्रतिष्ठित हैं। मेरा तो अपना विश्वास है कि वैदिक काल में आध्यात्मिक क्षेत्र में जो अभ्युत्थान हुआ, उसके पीछे शताब्दियों की शिक्षा, योग्यता एवं मान्यताओं का योग है जिनके योग से आर्यों ने अपनी अद्वितीय प्रतिभा का परिचय दिया है।

वैदिक शिक्षा का आदर्श महान् था, प्राप्त परम्परा, सभ्यता एवं संस्कृति की रक्षा इस शिक्षा का उद्देश्य था, ब्राह्मण गुरु था, शिक्षक था, उनके घर तथा आश्रम शिक्षालय थे। श्रुति का अध्ययन श्रवण करके ही होता था। शिक्षा पद्धति में तप का महत्त्वपूर्ण स्थान था। आत्मशिक्षण, आत्मानुभूति की प्रधानता थी। इस प्रकार गुरुचरण सुश्रूषा, तप एवं त्याग तथा श्रवण, मनन, निदिध्यासन उस शिक्षा के आदर्श थे। इन आदर्शों से निर्मित आर्यों का धर्म एवं दर्शन अद्वितीय था। वैदिक जीवन में पुरोहितों का महत्त्वपूर्ण स्थान था, ऋग्वेद में प्रतिबिम्बित धार्मिक जीवन में आदिवासियों का सा विश्वास नहीं है अपितु पुरोहितों के चिरचिन्तन की साधना की छाप है। मनुष्य प्रकृति के निकट था, अतः सर्वप्रथम प्रकृति की उपासना होती थी। ऋग्वेद में तेतीस देवों का उल्लेख है। परवर्ती संहिताओं में प्रजापति आदि देवों का और भी विकास अवश्य है। मुख्य देवता द्यौ, पृथ्वी, वरुण, इन्द्र की पूजा होती थी। पाँच सौर्य देवता थे—सूर्य, सविता, मित्र, पूषन्, विष्णु। शिव रुद्र के नाम से कथित हैं। अश्विनी, मरुत, वायु, वात, पर्जन्य, उषा भी ऋग्वेदकालीन देवता थे। इन देवों में से इन्द्र, अग्नि, सोम को लक्ष्य कर पर्याप्त सूक्तों का सृजन हुआ है। सूर्य को भी अनेक नामों से याद कर उसे महत्त्व प्रदान किया गया है। कुछ भावात्मक देवता थे, जैसे—श्रद्धा, मन्यु, प्रजापति, आदित्य तथा अदिति। परवर्ती साहित्य में यही भावात्मक देव प्रजापति अत्यधिक महत्त्व प्राप्त करता है। वैदिक Theology की प्रकृति देवताओं को युगल या समूह रूप से कहने की भी रही है; जैसे—मित्रावरुणौ, द्यावा पृथ्वी तथा समूह रूप

सहायक थे—अग्निदेव को रक्षक, घर का स्वामी तथा निकट सम्बन्धी कहा गया है। यही नहीं, वह तो कृपालु, मित्र, पिता, भ्राता, पुत्र तथा सर्वपालक भी है। इसी प्रकार इन्द्र की पिता, रक्षक, धनदाता आदि रूप से प्रशंसा की गई है। मनुष्य अपने देवों को प्रसन्न रखने के लिए प्रार्थनाएँ करते थे। दूध, घृत, सोम तथा अन्य खाद्यान्न उनके नाम से यज्ञों में हविष्य देते थे, यज्ञों को प्रधानता प्राप्त थी, ब्राह्मण काल में तो यज्ञ ही सर्वस्व थे। यज्ञों से होता नामक ऋत्विज मन्त्र पाठ करता था, अध्वर्यु शारीरिक क्रियाएँ करता था, उद्गाता नामक ऋत्विज उच्च स्वर से सामगान करता था, ब्रह्मा नामक ऋत्विज् समस्त क्रिया-कलाप की देखरेख करता था।

दर्शन—भारतीय दर्शन का उदय भी ऋग्वेद के दशम मण्डल में दृष्टिगोचर होता है। बहुदेवतावाद के विषय में प्रश्न उठाया गया है। विश्व की एकता का प्रतिपादन किया गया है। असत् से सत् के उत्पन्न होने की बात कही गई है। सर्वप्रथम जल की उत्पत्ति हुई, फिर तेज की उत्पत्ति हुई है। धीरे-धीरे समग्र सृष्टि उत्पन्न हुई। इस विषय के अनेक मन्त्र लिखते हैं, जिनमें सृष्टि उत्पत्ति की प्रक्रिया की ओर संकेत किया गया है। सृष्टि की रचना विश्वकर्मा या हिरण्यगर्भ से कही गई है। पुरुष सूक्त में पुरुष के यज्ञ से विश्व की उत्पत्ति बतलाई गई है। मृत्यु के उपरान्त शव जलाए जाते थे अथवा गाड़ दिए जाते थे। यदि जलाए भी जाते थे तो उनकी भस्म गाड़ देते थे। सतीदाह नहीं होता था यद्यपि यह अज्ञात न था।

प्रश्न—वैदिक संस्कृति में नैतिक मूल्यों पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

**Give an estimate of moral values in Vedic Culture**

—आ० वि० वि० ६८

उत्तर—

## नैतिक आदर्श

वैदिक साहित्य में नैतिक आदर्शों पर बल दिया गया है। नैतिक आदर्शों की महानता पर ही धर्म की श्रेष्ठता प्रतिष्ठित थी। केवल कोरा दर्शन ही सब कुछ नहीं था, नैतिक आदर्श ही मानवता के निर्माण में सहायक होते थे। ऋग्वेद में लिखा है कि देवता मित्र, वरुण, असृत को जीतकर ऋत का पालन ... है। वरुण असृत से घृणा करते हैं और ऋत की वृद्धि करते हैं। देवता ...दा होते हैं, ऋत को पालते हैं तथा असृत से सर्वथा घृणा करते हैं।

यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय में दूसरे के धन के लिए लालच का निषेध किया गया है, 'मागृधः कस्यस्विद्धनम्'। उपनिषदों में आचार्य शिष्य को जो उपदेश देता है, वह नैतिकता की चरम सीमा का उपदेश है—सत्य बोलो, धर्म का आचरण करो। स्वाध्याय में आलस्य मत करो। सत्य से विचलित नहीं होना चाहिए। धर्म से विचलित नहीं होना चाहिए अर्थात् सत्य एवं धर्म के पालन में प्रमाद नहीं करना चाहिए। स्वाध्याय और उपदेश सुनने में प्रमाद नहीं करना चाहिए। माता के भक्त बनो, पिता के भक्त बनो, आचार्य के भक्त बनो, अतिथि के भक्त बनो अर्थात् इनकी सदा सर्वदा सेवा करो। अन्त में आचार्य बड़े ही मार्के की बात कहता है कि हमारे जो उत्तम कर्म हैं उनका सेवन करना चाहिए, दूसरों (निन्दित) का नहीं। जो हमारे सदाचार हैं उन्हीं को तुम्हें अपनाना चाहिए, दूसरों को नहीं।

सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः।
सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्।
कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्।
स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्।
मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव।
यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि।
यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि।

वैदिक काल में सदाचार की प्रधानता थी—एक ऋषि वरुण से प्रार्थना करता है कि यदि उसने भाई, मित्र, साथी, पड़ोसी या किसी अपरिचित का कुछ अहित किया हो तो वरुण देव उसका पाप हर लें। इसी प्रकार सविता देव से भी अपने समस्त पापों को दूर करने की प्रार्थना है।

प्राचीन आर्यों में अतिथि-सत्कार का महत्त्वपूर्ण स्थान था। प्राचीन सभ्यता के अनुयायी भारतीय ग्रामों में आज भी अतिथि को देवता के समान पूजा जाता है। ऋग्वेद में अग्नि को अतिथि कहा है। उसका आशय यही है कि जिस प्रकार अग्नि पवित्र और उपास्य है। इसी प्रकार अतिथि उपास्य, पूज्य एवं पवित्र है। दिवोदास अतिथि सत्कार में सदैव तत्पर रहता था। अतः उसे "अतिथिग्व" की उपाधि से विभूषित किया गया था। गृह का श्रेष्ठतम प्रकोष्ठ अतिथि के लिए दिया जाता था।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वैदिक आर्यों की धार्मिक, दार्शनिक तथा

नैतिक मान्यतायें उत्कृष्ट थी। निःसन्देह "चिरन्तन काल से वेद भारतीय संस्कृति के प्रकाशस्तम्भ रहे हैं। भारतीय समाज के संगठन और उसकी जीवन चर्या के नियम और व्यवस्थापन के साथ-साथ उसकी आध्यात्मिक तथा अन्य उदात्त भावनाओं की प्रेरणा में भी वेद का प्रमुख स्थान रहा है।"

**प्रश्न—वैदिक समाज में नारी का स्वरूप, स्थान एवं महत्त्व स्पष्ट कीजिए।**

**उत्तर**—ममता की मञ्जूषा, स्नेह का सदन, दया का उद्गम, क्षमामय सुमेरु, विधाता की कलापूर्ण सृष्टि का शृङ्गार, पृथ्वी की कविता, देश के निर्माण की आधारशिला उमा-रमा सरस्वती के समान नारी तेरा इस भारत वसुन्धरा पर सदा-सर्वदा से आदरणीय स्थान रहा है। नारी तुझे ही लक्ष्य कर किसी कवि ने ठीक ही अपने भावोद्गार इस रूप में व्यक्त किये हैं—

**मानवता है मूर्तिमती तू भाग्यभाव भूषण भण्डार।**
**दया क्षमा ममता की आकर विश्व प्रेम की है आधार।।**

किन्तु प्रकृति में सत्य, रज, तम नाम के तीन गुणो का साम्य है। मानव मात्र में इन तीन गुणो का होना परम आवश्यक है। अतः कर्मानुसार कोई सात्विक, कोई राजस और कोई तामस होता है। इसलिए हम कह सकते हैं कि सृष्टि के आदि से आज तक इन तीनो गुणो के आधार पर ही सृष्टि संरचना होती रही है। प्राचीन काल में सात्विक व्यक्तियों की प्रधानता थी अतः समाज में शान्ति थी, व्यक्ति आदर्श चरित्र थे, किन्तु यह कहना सर्वथा असंगत होगा कि उस काल में राजस और तामस प्रकृति से व्यक्ति नहीं थे। इसलिए वैदिक काल में जहाँ मन्त्र द्रष्टा ऋषिकाएँ थी वहाँ क्रूर स्वभाव नारियाँ न हो यह कदापि स्वीकार [illegible] है। संसार में शुभ-अशुभ, अच्छाई-

[illegible] ाम विश्व के प्रतिफलन
[illegible] दोनो की सत्ता रहती
[illegible]
समाज में सद्प्रवृत्तियो
[illegible] के लिए
[illegible] श देता
[illegible] य के लिए
[illegible] हता है—

यमी, तुम किसी अन्य पुरुष का ही भली-भाँति आलिङ्गन करो। जैसे लता वृक्ष का वेष्टन करती है, वैसे ही अन्य पुरुष तुम्हें आलिंगत करें। उसी का मन तुम हरण करो; वह भी तुम्हारे मन का हरण करे, अपने सहवास का प्रबन्ध उसी के साथ करो—इसी मे मगल होगा।

ऋग्वेद का अध्ययन करते पर विदित होता है कि कन्यावस्था से लेकर वृद्धावस्था तक स्त्री जाति का बड़ा सम्मान व सत्कार था। जो कन्या पितृ कुल मे जीवन-भर अविवाहित रहती थी, उसे पितृ कुल मे ही अश मिलता था—"इन्द्र, जैसे आमरण माता-पिता के साथ रहने वाली पुत्री अपने पितृ कुल से ही अश के लिए प्रार्थना करती है" २।१७।७ वैदिक आर्य कमनीय कन्या की प्राप्ति के लिए कामना करते थे। ऋग्वेद के नवम मण्डल मे पूषा देव से कमनीय स्त्री एव कमनीय कन्या की याचना है। ६।६७; १०। १२, ऋग्वेद के अनेक मन्त्रो मे यथाविधि विवाहित और सत्ती महिला की महान् प्रशसा है। वलि के राज्य के समान सती का सतीत्व सुरक्षित माना गया है। उसी सूक्त मे आगे शुद्ध चरित्र नारी की प्रशसा है वहाँ यह भी कहा है कि तपस्या और सच्चरित्रता से निकृष्ट पदार्थ भी उत्तम स्थान को प्राप्त कर सकता है। १०।१०६।

ऋग्वेद मे नारी के विवाह के सम्बन्ध मे अनेक मन्त्र हैं वहाँ लिखा हुआ कि विवाह के समय वधू वस्त्रो से ढँकी रहती है। सूर्य के विवाह का आलकारिक वर्णन है। पति-पत्नी को मिलकर रहने की कामना है। वधू को सौभाग्यवती और सुपुत्र वाली होने की कामना है। पति-गृह मे जाकर गृहिणी बनने का आशीर्वाद भी है। पति-गृह मे सन्तान उत्पन्न करके प्रसन्न होना, वहाँ सावधान होकर कार्य करना, स्वामी के साथ एक हो जाना तथा वृद्धावस्था तक अपने गृह मे प्रभुता करने का सकेत मिलता है। देव ही पति को पत्नी देते हैं, वह इसलिए कि दोनो ही गृहस्थ धर्म का पालन करें। दोनों के लिए सौ वर्ष जीवित रहने की कामना है। सूर्या विवाह सूक्त मे पति-पत्नी को एक माना है। एक मन्त्र मे तो लिखा कि "वधू अपने कर्म से तुम सास-ससुर, ननद और देवरो की साम्राज्ञि (महारानी) बनो, सबके ऊपर प्रभुत्व करो।"

ऋग्वेद काल मे एक पुरुष का एक विवाह आदर्श था, जिस स्त्री का सम्मान उसका पति करता था, वह उस समाज मे अभिनन्दनीय नारी मानी जाती

थी। ऋग्वेद के सूक्तों को पढ़ने से यह विदित होता है कि उस समय स्वयंवर प्रथा प्रचलित थी। ऋग्वेद के १०।२७।२ मन्त्र में लिखा है कि—'कितनी ऐसी स्त्रियाँ हैं जो केवल द्रव्य से प्रसन्न होकर स्त्री चाहने वाले पुरुष के ऊपर आसक्त होती हैं। जो भी भद्र और सभ्य है, जिसका शरीर सुसंगठित है, वह अनेक पुरुषों में से अपने मन के अनुकूल प्रिय पात्र को पति स्वीकार करती है।" इस मन्त्र में धन के लिए शादी करने वाली तथा दूसरी सत्पुरुष को चाहने वाली दोनों स्त्रियों की ओर संकेत मिलता है। इससे पता चलता है कि स्त्रियों को अपने जीवन-साथी के चुनाव के लिए पर्याप्त स्वतन्त्रता थी।

देवरमणियों को यज्ञ में बुलाया जाता था। इला को धर्मोपदेशिका बनाया गया था। पितृ-गृह में वृद्धावस्था तक रहने वाली घोषा नामक स्त्री ब्रह्मवादिनी बनी थी। घोषा आदि अनेक स्त्रियों ने अनेक सूक्तों का स्मरण किया था, वे यज्ञ करने के साथ उपदेश देती थी, वेद पढ़ती थी। एक बात और भी स्पष्ट कर दी जाय, वह यह कि प्राचीन समय में स्त्रियाँ दो प्रकार की थीं—"एक, ब्रह्मवादिनी, दूसरी, साधारण। जो ब्रह्मवादिनी थी, वे हवन करती थी, घर में ही वेदाध्ययन करती थी, भिक्षा माँगकर खाती थी।" यमस्मृति में कहा गया है—"पुराने समय में कन्याओं का उपनयन होता था (गोभिल गृह्यसूत्र २ य प्रपाठक) वे वेद पढ़ती थी, गायत्री भी पढ़ती थी, परन्तु उन्हें पिता, पितृव्य या भ्राता ही पढ़ाते थे, दूसरा नहीं।' —हिन्दी ऋग्वेद पृ० ६८

ऋग्वेद में कुछ मन्त्र ऐसे भी मिलते हैं जो नारी हृदय का दूसरे रूप में चित्रण करते हैं। इन्द्र ने प्रायोगि के सम्बन्ध में कहा था, 'स्त्री के मन का शासन करना असम्भव है। स्त्री की बुद्धि छोटी होती है। (८।३३।१७)।"

राजा पुरुरवा से चिढ़कर एक मन्त्र में उर्वशी कहती है कि स्त्रियों का प्रेम व मैत्री चिरस्थायिनी नहीं होती। स्त्रियों और वृकों का हृदय एक समान होता है। इसलिए हे राजन्! तुम मृत्यु की कामना मत करो। ऋग्वेद में एक मन्त्र में विषयान्ध पुरुष को लक्ष्य कर कहा गया है कि 'स्त्रैण पुरुष स्त्री की प्रशंसा करता है" सौतिया डाह का भी एक स्थान पर उल्लेख मिलता है जिससे यह आभास मिलता है कि किसी किसी व्यक्ति के दो-दो पत्नियाँ थी इसीलिए कहा है कि—'मेरी सपत्नी नीच से नीच हो जाय मैं अपनी सपत्नी का नाम तक नहीं लेती। सपत्नी सबके लिए अप्रिय है। मैं उसे दूर से भी दूर भेज देती हूँ।' (१०।१४५।३-४) ऋग्वेद के एक मन्त्र ७।५५।१ में कुन्ता की निन्द

और पतिव्रता की प्रशंसा है। 'विपथगामिनी, पतिविद्वेषिणी और दुष्टाचरण-शीला स्त्री नरक स्थान को उत्पन्न करती है।' यही नहीं, उपपत्नी (रखैल) का भी एक स्थान पर उल्लेख मिलता है। जार और व्यभिचारिणी स्त्री का भी उल्लेख मिलता है।

किन्तु एक बात विशेष रूप से यहाँ उल्लेखनीय है कि समाज मे इस प्रकार के अपवादस्वरूप स्त्री-पुरुष थे, जिन्हे लक्ष्य कर ही ऋग्वेद मे यत्र-तत्र बुराइयो से बचने व कल्याण की कामना है।

कुल मिलाकर हम कह सकते है कि वैदिक काल मे पितृ-प्रधान सत्ता थी। एक पत्नी प्रथा प्रचलित थी किन्तु राजपरिवारो मे बहुपत्नी प्रथा अज्ञात न थी। घर का स्वामी पति एवं स्वामिनी पत्नी थी। स्त्रियो का चरित्र समष्टि रूप मे बहुत ऊँचे स्तर का था। बहन-भाई पिता-पुत्री का विवाह निषिद्ध था जैसा कि यमयमी सूक्त से संकेत मिलता है। स्वयंवर प्रथा थी, स्त्री अविवाहितावस्था मे पिता व भाईयो के संरक्षण मे रहती थी। दहेज प्रथा थी, कन्या को खरीदा जा सकता था। वैदिक मन्त्रों मे पाणिग्रहण की अत्यधिक प्रशंसा की गई है। विधवा स्त्री अपने देवर के साथ सन्तानहीन होने पर विवाह कर सकती थी, दत्तक पुत्र ग्रहण करने की प्रथा उस काल मे थी, स्त्रियो का सम्मान पूर्ण स्थान उस समाज मे था। वैदिक युग का साहित्य नारी समाज का उज्ज्वल रूप प्रस्तुत करता है।

**प्रश्न—वैदिक संस्कृति के शिक्षा के आदर्श पर अपने विचार लिखिए।**

उत्तर—शिक्षा के ध्येय एव उद्देश्य के विषय मे विचार करते समय हम नि सन्देह यह कह सकते हैं कि अन्त शक्तियो को समुचित रूप मे विकसित कर देना ही शिक्षा का प्रथम एव अन्तिम ध्येय है। इसी आदर्श को हृदयगम कर वैदिक ऋषि अपनी शक्तियों के विकास के लिए परमात्मा से प्रात· साय इस प्रकार से प्रार्थना किया करते थे—हे ईश्वर ! हमारी बुद्धि को सद्मार्ग मे प्रेरित करो—"धियो यो नः प्रचोदयात्" हे अग्निदेव ! हमे आप सद्मार्ग से विश्व मे ले चलें; ले ही नहीं चलें, अपितु आप हमारे हृदयों से दुर्गुण एव पाप भावनाओं को निकाल कर निष्पाप तथा शुद्ध पवित्र बुद्धि प्रदान करें, इसके लिए हम पुन. आपसे प्रार्थना करते हैं—अग्नेनय सुपथा राये अस्मान्वि-श्वानि देव वयुनानिविद्वान् युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्तें नमः उक्ति

विधेम ।। वैदिक ऋषि पवित्र भावभूमि पर स्थित होकर पुनः बुद्धि को मेधावी बनाने के लिए ईश्वर से प्रार्थना करता है—

> यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते
> तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु ।।

इस प्रकार बुद्धि को मेधावी बनाने के लिये ही प्रार्थनाएँ नहीं की जाती थीं, अपितु उस बुद्धि को पवित्र एवं पापुण्य रहित बनाने के लिये भी—

> पुनन्तु मा देवजना पुनन्तु मनसाधियः
> पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेद पुनीहि मा ।।

इस प्रकार वैदिक शिक्षा का मूल आधार मानव की बुद्धि का परिष्कार कर गुण का दर्शन कराना था, वस्तुतः यही प्राचीन शिक्षा का ध्येय था। क्या आज की शिक्षा में यही भी इस प्रकार का पाठ्यक्रम निर्धारित है जो बुद्धि को मानवता के मार्ग का पथिक बना सके जिससे कि हम उच्च स्वर से आयु, प्राण, धन, तेज को प्राप्त करने के लिए प्रार्थना करते हुए अपने बल का सदुपयोग करने के लिए सहनशीलता को प्राप्त करने के लिए प्रार्थना करना न भूलें—

> तेजोऽसि तेजोमयि धेहि
> वीर्यमसि वीर्यमयि धेहि
> बलमसि बलं मयि धेहि
> सहोऽसि सोहमयि धेहि

प्राचीन काल में 'सत्य शिव सुन्दरम्' के अनुसार विश्व की कल्याण कामना ही वैदिक संस्कृति का प्रयोजन था। उसकी सिद्धि के लिए ऐहिक एवं पारलौकिक उन्नति करते हुए ब्रह्म के स्वरूप भारतीय निमग्न हो जाते थे। वह ब्रह्म तप से प्राप्त होता था—'ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते', 'तपसा चीयते ब्रह्म' तथा तप की कसौटी के रूप में यम-नियमों का पालन करने के लिए एक निर्देश प्रत्येक विद्यार्थी को तो दिया जाता था; साथ ही मानव मात्र को इसका पालन करना आवश्यक था। यम के अन्तर्गत—

"तत्राऽहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यम." तथा नियमों में "शौच सन्तोषस्तपः स्वाध्यायेश्वर प्राणिधानानि नियमा." अर्थात् अहिंसा, सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह तथा मन, वचन, कर्म में पवित्रता शौच, सन्तोष तप, स्वाध्याय

और पतिव्रता की प्रशंसा है। 'विपथगामिनी, पतिविद्वेषिणी अं
शीला स्त्री नरक स्थान को उत्पन्न करती है।' यही नहीं, उप
का भी एक स्थान पर उल्लेख मिलता है। जार और व्यभिचारि
भी उल्लेख मिलता है।

किन्तु एक बात विशेष रूप से यहाँ उल्लेखनीय है कि समा
प्रकार के अपवादस्वरूप स्त्री-पुरुष थे, जिन्हे लक्ष्य कर ही ऋग्वेद
बुराइयो से बचने व कल्याण की कामना है।

कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि वैदिक काल मे पितृ-प्रध
थी। एक पत्नी प्रथा प्रचलित थी किन्तु राजपरिवारो मे बहुपत्नी प्र
न थी। घर का स्वामी पति एव स्वामिनी पत्नी थी। स्त्रियो का
समष्टि रूप मे बहुत ऊँचे स्तर का था। बहन-भाई, पिता-पुत्री क
निषिद्ध था जैसा कि यमयमी सूक्त से सकेत मिलता है। स्वयवर प्रथा
अविवाहितावस्था मे पिता व भाईयो के सरक्षण मे रहती थी। दहेज
कन्या को खरीदा जा सकता था। वैदिक मन्त्रों मे पाणिग्रहण की
प्रशसा की गई है। विधवा स्त्री अपने देवर के साथ सन्तानहीन
विवाह कर सकती थी, दत्तक पुत्र ग्रहण करने की प्रथा उस काल
स्त्रियो का सम्मान पूर्ण स्थान उस समाज मे था। वैदिक युग का
नारी समाज का उज्ज्वल रूप प्रस्तुत करता है।

**प्रश्न—वैदिक संस्कृति के शिक्षा के आदर्श पर अपने विचार लिखि**

उत्तर—शिक्षा के ध्येय एव उद्देश्य के विषय मे विचार करते समय
नि.सन्देह यह कह सकते है कि अन्त शक्तियों को समुचित रूप मे विकसि
देना ही शिक्षा का प्रथम एव अन्तिम ध्येय है। इसी आदर्श को हृदयगम
वैदिक ऋषि अपनी शक्तियो के विकास के लिए परमात्मा से प्रातः सा
प्रकार से प्रार्थना किया करते थे—हे ईश्वर! हमारी बुद्धि को सद्मा
प्रेरित करो—"धियो यो नः प्रचोदयात्" हे अग्निदेव! हमे आप सद्मा
विश्व मे ले चलें; ले ही ... न्दयो से
भावनाओं को निर

सदैव तिरस्कृत-सा करता है। यही कारण है कि उन्हीं गुरुजनों से प्रदत्त शिक्षा छात्रों के लिए अभिशाप बनकर दुःखदायी ही सिद्ध हो रही है। अतः छात्रों को तपानुष्ठान का आचरण का श्रद्धाशील बनाना चाहिए। वेद के शब्दों में वह व्रतपालन से ही सम्भव है—

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्
दक्षिणाश्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते॥

अर्थात् व्रत से दीक्षा, दीक्षा से दक्षिणा, दक्षिणा से श्रद्धा, श्रद्धा से सत्य। इस प्रकार क्रमशः मानव को सुपथ पर ले जाने के लिए यह एक पद्धति वेद में निर्दिष्ट है। इसका पालन कल्याण की कामना करने वाले के लिए अत्यावश्यक है।

विद्या स्वयं ही दुष्टाचरण कर्ताओं से भयभीत रहती है अतः उनके पास जाकर भी उनका कल्याण न कर अहित साधन ही करती है। इस सम्बन्ध में निरुक्त के ये वचन द्रष्टव्य हैं—

विद्या आचार्य से कहती है—हे आचार्य! मेरी रक्षा करो मैं तुम्हारी शरण में हूँ। ईर्ष्यालु, कुटिल एवं दुराचारी को मेरा दान न करो

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि,
असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती यथा स्याम।

पुनश्च—विद्या उन्हें भी फलीभूत नहीं होती है जो कि गुरुओं का आदर नहीं करते—

अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा
यथैव ते न गुरोर्भोजनीयास्तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतम्।

विद्या पवित्र सदाचरण कर्ता मेधावी ब्रह्मचारी को अपना कृपा से अनुगृहीत करती है—

यमेव विद्या शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्
यस्ते न द्रुह्येत्कतमच्चनाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय
ब्रह्मन्निति निधि शेवधिरिति।

भगवान् मनु का यह वचन भी द्रष्टव्य है—

उत्पादक ब्रह्म दात्रोर्गरीयान् ब्रह्मदः पिता।
ब्रह्मजन्म हि विप्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्वतम्॥

और ईश्वर प्राणिधान। इन यम एवं नियमों की उपयोगिता, महत्त्व एवं अनिवार्यता के विषय में कुछ कहना उचित न होगा, वस्तुत: ये मानव को पूर्ण मानव बनाने के साधन थे। इनका आज के छात्र समाज में पूर्णत: अभाव-सा ही दृष्टिगोचर हो रहा है। जिस ब्रह्मचर्य का पालन कर देवताओं ने इच्छा मृत्यु प्राप्त की थी, उसका भी धवल यश वैदिक साहित्य में गाया गया है—

"ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नतः
मरणं बिन्दु पातेन जीवनं बिन्दु धारणात्।"

चरित्र की भी प्रशंसा की गई है कि चरित्र से रहित मनुष्य मृतप्राय ही है—

'अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः।

इस प्रकार प्राचीन निर्देशों के अनुसार हम कह सकते हैं कि प्राचीन छात्र व्रती एवं तपस्वी बनकर शिक्षोपार्जन किया करते थे।

प्राचीन काल में शिक्षा के मूल में श्रद्धा की भावना थी, किन्तु आज के छात्र समाज में उसका पूर्णत: अभाव है। वस्तुत: मानव जीवन की सफलता के लिए विभिन्न तत्त्वों में श्रद्धा का प्रधानतम स्थान है। श्रद्धा से समस्त कार्य अनायास ही सम्पन्न हो जाते हैं। श्रद्धा की भावना अपने गुरुजनों को वश में करने का सर्व-सुलभ साधन है—

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः
श्रद्धा भगस्य मूर्धनि वचसावेदयामसि।

श्रद्धा भावना जब ऐश्वर्य तथा कल्याण की प्रदाता है तो क्या आज के छात्रों में श्रद्धा की भावना संचार होने पर गुरु प्रदत्त शिक्षा जीवनोपयोगी नहीं हो सकती है? अवश्य हो सकती है। आज शिक्षा के क्षेत्र में फैली विशृङ्खलता का कारण छात्रों में श्रद्धा का अभाव है। वस्तुत: श्रद्धा ज्ञानार्जन का मूलमन्त्र है, जिस श्रद्धा की भावना ने नचिकेता में यम के मुख में जाकर प्रश्न करने के साहस का संचार किया था। ज्ञानार्जन करने में नचिकेता को समर्थ बनाया था। क्या वही श्रद्धा आज की शिक्षा में जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं करा सकती। संसार में श्रद्धाहीन मानव सदा से पददलित होते आये हैं, उनका सदा विनाश होता रहा है आज विनाश से बचने के लिए छात्र समाज को श्रद्धालु बनाने का उपाय करना चाहिए। लेकिन हम देखते क्या हैं आज का छात्र माता, पिता एवं गुरुजनों के प्रति पूर्णत: अवज्ञा की भावना को लिए

सदैव तिरस्कृत्या करती है। यही कारण है कि उन्हीं दुर्जनों से प्रदत्त शिक्षा छात्रों के लिए अभिशाप बनकर दुष्परिणामों की सिद्ध हो रही है। अतः छात्रों को व्रतानुष्ठान का आचरण का श्रद्धान्वित बनाना चाहिए। वेद के शब्दों में यह व्रतपालन से ही सम्भव है—

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्
दक्षिणाश्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥

अर्थात् व्रत से दीक्षा, दीक्षा से दक्षिणा, दक्षिणा से श्रद्धा, श्रद्धा से सत्य। इस प्रकार क्रमशः मानव को गुरुत्व पद से जाने के लिए यह एक पद्धति वेद में निर्दिष्ट है। इसका पालन कल्याण की कामना करने वाले के लिए आवश्यक है।

विद्या स्वयं ही दुराचरण कर्त्ताओं से भयभीत रहती है अतः उनके पास जाकर भी उनका कल्याण न कर अहित साधन ही करती है। इस सम्बन्ध में निरुक्त के ये वचन द्रष्टव्य हैं—

विद्या आचार्य से कहती है—हे आचार्य ! मेरी रक्षा करो, मैं तुम्हारी शरण में हूँ। ईर्ष्यालु, कुटिल एवं दुराचारी को मेरा दान न करो—

विद्याह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि,
असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती यथा स्याम्।

पुनश्च—विद्या उन्हें भी फलीभूत नहीं होती है जो कि गुरुओं का आदर नहीं करते—

अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा
यथैव ते न गुरोर्भोजनीयास्तथैव तान्नभुनक्ति श्रुततत्।

विद्या पवित्र शुद्धाचरण कर्त्ता मेधावी ब्रह्मचारी को अपनी कृपा से अनुगृहीत करती है—

यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्
यस्ते न द्रुह्येत्कतमच्चनाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय
ब्रह्मन्निति निधि शेवधिरिति।

भगवान् मनु का यह वचन भी दर्शनीय है—

उत्पादक ब्रह्म दात्रोर्गरीयान्ब्रह्मदः पिता।
ब्रह्म हि विप्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥

उत्पादक पिता की अपेक्षा आचार्य अधिक महत्त्व का भागी होता है क्योंकि उत्पादक पिता ने तो केवल एक जन्म प्रदान किया है किन्तु इस भवसागर से उत्तरण करने के लिए आचार्य ही मानव का पूर्ण व पवित्र निर्माण करता है।

योगदर्शन में पञ्चक्लेशों का अर्थात् दुःखों का वर्णन मिलता है जिनमें अविद्या का परिगणन सर्वप्रथम किया गया है—"अविद्याऽस्मिता-रागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः" वस्तुतः अविद्या मानव को पतन के गर्त में ले जाकर नानाप्रकार दुःखों से पीड़ित करती है। अतः इन दुःखों से यदि मुक्ति प्राप्त करनी है तो ज्ञानार्जन करना चाहिए क्योंकि "ऋते ज्ञानान्न मुक्ति" ज्ञान की प्राप्ति का एकमात्र साधन शिक्षा सम्बन्धी भारतीय विचारधारा का अनुपालन ही है। क्योंकि विद्या पात्रापात्र का विचार कर ही अनुग्रह करती है।

अन्ततः यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि शिक्षा का पूर्ण विकास राष्ट्र की संस्कृति के आधार पर ही हो सकता है क्योंकि उसकी पृष्ठभूमि में अपने देश के आदर्शों का वरदहस्त रहता है। जिस प्रकार एक पौधा अपने अनुकूल जलवायु पर एवं मिट्टी से पृथक् हो, अन्य भूमि पर विकसित नहीं हो सकता है उसी प्रकार किसी राष्ट्र की शिक्षा पद्धति अपनी संस्कृति की आधारशिला का परित्याग कर उन्नत नहीं कर सकती है। वैदिक काल की शिक्षा का पूर्ण विकास इसी पृष्ठभूमि पर हुआ है।

प्रश्न—वैदिक शिक्षा पद्धति के गुण-दोषों का विवेचन कीजिए।

उत्तर—वैदिक भारत का निर्माण राजनीतिक, आर्थिक या सामाजिक क्षेत्र में न होकर धर्म के क्षेत्र में हुआ था। सर्वांगीण जीवन में धर्म का प्राधान्य था, धर्म ही यहाँ की जनता की जीवनश्वास के रूप में था, फलस्वरूप प्राचीन भारतीय रीति-नीति स्वार्थमूलक न होकर परमार्थमूलक थी। व्यष्टि का विकास समष्टि के विकास का मूल था, वैदिक सामाजिक संगठन सर्वथा मानवीय उदात्त भावनाओं तथा नैतिक सिद्धान्तों पर आधारित था। जीवन का एक उद्देश्य था, एक आदर्श था और उस आदर्श की उपलब्धि जीवन का चरम लक्ष्य था। वैदिक भारत की शिक्षा के मूल में यही व्यष्टि-समष्टि के उत्थान की भावना थी और इसी भावना के अनुकूल उसका विकास भी हुआ था। वैदिक भारत में शिक्षा तथा ज्ञान की खोज केवल ज्ञान प्राप्त करने

के लिए ही नही हुई थी, अपितु धर्म के प्रशस्त पथ पर चलकर ब्रह्म के साथ तदाकार परिणति के लिए हुई थी। वैदिक ऋषियो ने अदृश्य जगत् और आध्यात्मिक तत्व के मनोहारी गीतो का गान किया है और सम्पूर्ण जीवन को तदनुरूप निर्मित भी किया है। वैदिक ऋषियो ने सर्वदा भौतिकवाद की उपेक्षा करते हुए आध्यात्मिक उत्थान की प्रधानता दी है। इस प्रकार यदि हम यह कहे कि प्राचीन शिक्षा का उद्देश्य ही चित्त वृत्ति का विरोध था तो अनुपयुक्त न होगा। विद्यार्थी इस जगत् के सम्पूर्ण विप्लव, विद्रोह से परे प्रकृति की मनोरम अक मे अपने गुरु के चरणो मे बैठकर आध्यात्मिक समस्याओं की साधना श्रवण, मनन और चिन्तन के द्वारा किया करते थे।

जिज्ञासु शिष्य गुरुगृह मे रहकर उनकी सेवा करता हुआ गुरु के आदर्श गुणो को अपने मे धारण कर लेता था। विद्यार्थी के व्यक्तित्व के सर्वाङ्गीण विकास के लिए यह आवश्यक था, क्योकि गुरु ही आदर्शो, परम्पराओं तथा सामाजिक नीतियो का प्रतीक अथवा प्रतिमूर्ति था। वह शिक्षा प्रणाली जीवनोपयोगी थी। गुरुगृह मे रहते हुए विद्यार्थी समाज के निकट सम्पर्क मे आता था, गुरु के लिए समिधा तथा जल का लाना तथा गृह कार्य करना उसका कर्तव्य समझा जाता था। इस प्रकार गृहस्थ धर्म की शिक्षा के साथ-साथ श्रम का गौरव-पाठ और सेवा का पदार्थ पाठ पढ़ता था। गुरुओ की सेवा से विद्यार्थियो मे विनय तथा अनुशासन का भाव उत्पन्न होता है। इसीलिए आज की तरह उस काल मे शिक्षा के क्षेत्र मे अनुशासन की समस्या कहीं भी उत्पन्न दिखाई नहीं देती थी, इसके साथ-साथ विद्यार्थी जीवनोपयोगी उद्यम, पशुपालन या कृषि आदि मे भी कुशल सहज ही हो जाता था। सादा जीवन और उच्च विचार की भावना उस काल की शिक्षा की प्रमुख देन है। छान्दोग्योपनिषद् मे सत्यकाम गुरु की गायो की सेवा करते-करते उनकी संख्या चार सौ से एक हजार तक पहुंचा देते हैं। कुल मिलाकर हम कह सकते है कि उस काल म शिक्षा केवल सैद्धान्तिक और पुस्तकीय नहीं थी अपितु जीवन की वास्तविकताओं के निकट थी। उस शिक्षा मे शारीरिक श्रम का महत्त्व था। जीवन की गूढ़तम समस्याओं का समाधान जीवन के सामान्य कार्य-क्षेत्रो से ही हो जाता था, वैदिक शिक्षा-पद्धति जीवन की प्रयोगशाला मे ही पल्लवित हुई थी। गुरुगृह मे रहते हुए विद्यार्थी अपने एवं गुरु के भोजन के लिए भिक्षान्न प्राप्त करने के लिए गृहस्थो के पास जाता था, यह प्रथा विद्यार्थी को परमुखापेक्षी बनाने की अपेक्षा त्याग,

दान तथा मानवीय गुणों के विकास का कारण बनती थी। विद्यार्थी अहंकारादि दुर्गुणों से बचकर विनम्र तथा समाज-हित की भावना से युक्त होता था। समाज के सम्पर्क में आने से वह वास्तविक जीवन से भी परिचित हो जाता था। इस प्रकार प्राचीन शिक्षा स्वावलम्बन के पाठ के साथ समाज के प्रति कर्त्तव्यपरायणता तथा कृतज्ञता का पाठ भी पढ़ा देती थी। वैदिक शिक्षा पद्धति का विकास योजनानुसार हुआ था, उसकी जड़े समाज के अन्तरतम मे थी, भले ही शिक्षा देने का स्थान अरण्य और कानन थे। जगलों और कान्नो के अक मे स्थित प्राकृतिक रमणीय छटा से आच्छादित ये शिक्षा-केन्द्र सभ्य सस्कृति एव मानवता के उद्गम-स्थल थे। जब विश्व की अन्य जातियाँ घुट के बल चलना सीख रही थी, उस समय भारतीय ऋषि तत्वज्ञान की मीमां कर रहे थे। वैदिक शिक्षको ने शिक्षा के क्षेत्र मे जो अमूल्य योगदान दिया है वह अविस्मरणीय है। उनकी साधना का एकमात्र लक्ष्य लौकिक, पारलौकि विभूतियो का समन्वय और मानवीय जीवन की पूर्णता ही था।

वैदिक शिक्षा पद्धति की सर्वाङ्गीण जानकारी के लिए हमे समस्त वैदिक साहित्य का परिचय प्राप्त कर लेना चाहिए। ऋग्वेद वैदिक साहित्य का प्रथम ग्रन्थ है, यद्यपि इसमे हमे शिक्षा के विकास का इतिहास देखने को नही मिलता है; किन्तु इसमे सन्देह नही कि इस प्रकार का उच्चतम ज्ञानकोष सहज सृष्टि नहीं, उसके पीछे सहस्त्रो वर्षों का अध्यवसाय एव तप पूत ऋषियों की साधना निहित है। ऋग्वेद भौतिक वातावरण से दूर रहकर परम शान्ति के लिए अन्तर्मुखी प्रकृति अपनाने का सन्देश देता है। ऋग्वेद मे वैदिक देवतावाद का पूर्ण ज्ञान प्रदान किया गया है। अन्य वेदो के समय मे पुरोहितवाद का प्रचुर प्रचार हो जाता है, इसलिए शिक्षा का दृष्टिकोण पुरोहितवाद तथा धर्म के क्रियात्मक रूप की ओर उन्मुख हो जाता है। पूजा तथा यज्ञ के बाह्य उपकरणों का इतना प्रचार हो गया था कि पौरोहित्य के समस्त कार्यजात की शिक्षा लेना अनिवार्य था। पुरोहितो को भी चार वर्णों मे चारो वेदो के अनुसार विभक्त कर दिया था जो कि एक-एक वेद के प्रतिनिधि होते थे।

इस प्रकार इस काल मे शिक्षा का लक्ष्य चारो वेदों का पूर्ण ज्ञान तथा धर्म, दर्शन, पुरोहित्य के कार्य-कलाप का ज्ञान था, चतुर्थ वेद अथर्ववेद भारतीय चिकित्साशास्त्र का प्रथम ग्रन्थ है। इसमें बहुत-सी जड़ी-बूटियों का भिन्न-भिन्न प्रकार के रोग-निवारण के लिए उल्लेख है। चिकित्साशास्त्र की पूर्ण जानकारी

इसमें दी गई है। ज्योतिष विद्या का इसमें उल्लेख है। गृहस्थ जीवन सम्बद्ध संस्कारों का वर्णन है। तत्त्वज्ञान की ओर भी इस वेद की प्रवृत्ति है। राजा तथा राजकर्मचारियों का भी विवेचन है और इस प्रकार इस वेद में लौकिक विषय सामग्री को उपस्थित किया गया है और इस वेद के उदय के साथ हमें शिक्षा पद्धति में इसका दर्शन होने लगता है।

वैदिक काल में आज की तरह मुद्रण कला न थे पुस्तकें न थी, बड़े-बड़े विद्यालय न थे, किन्तु तप की साधना थी। गुरुमुख एवं शिष्य के कर्ण थे। ऋषियों के तप तथा योग द्वारा महान् ज्ञान प्राप्त कर लेने तथा उनके छन्दों और मन्त्रों के रूप में सर्जित होने के उपरान्त ऐसे साधनों का विकास हुआ जिनके द्वारा यह ज्ञान सुरक्षित किया जा सके अथवा आगे की सन्तति को हस्तान्तरित किया जा सके। यहीं से वंश-परम्परा एवं शिष्य-परम्परा का उदय होता है। वैदिक शिक्षा-पद्धति में इन परिवार या कुल शिक्षा-संस्थाओं का यहीं से उदय होता है। आचार्य अपने शिष्य को उच्चारण कर-करके ऋचाएँ कंठाग्र करा देता था, प्रत्येक विद्यार्थी योग्यतानुरूप ज्ञानार्जन करता था। सायण ने तीन प्रकार के विद्यार्थियों का उल्लेख किया है—(१) महाप्रज्ञ, (२) मध्यम प्रज्ञ, (३) अल्प प्रज्ञ। यह वर्गीकरण मानसिक स्तर के अनुरूप किया गया है। इस काल में मन्त्रों का गान होता था। शब्दों, पदों तथा अक्षरों के शुद्ध उच्चारण पर ध्यान दिया जाता था। छन्द की रचना पदों से तथा पदों की अक्षरों द्वारा होती थी। वैदिक ज्ञान का उच्चारण गुरु एक निश्चित रूप से करता था, इस काल में उच्चारण की शुद्धता पर अत्यधिक ध्यान दिया जाता था। यह शिक्षा-पद्धति मौखिक ही थी, क्योंकि इस समय तक लेखन-कला का विकास नहीं हुआ था।

संक्षेप में हम ऋग्वैदिक शिक्षा पद्धति को इस प्रकार देख सकते हैं—गुरु गृह ही विद्यालय था। उपनयन संस्कार के उपरान्त शिक्षा पूर्ण हो जाने तक शिष्य गुरु के समीप ही रहता था। शिक्षक पिता के रूप में उसका संरक्षक होता था और उसके भोजनादि की स्वयं व्यवस्था करता था। गुरुगृह में विद्यार्थी का प्रवेश केवल उसके नैतिक बल और सदाचार के आधार पर ही हो सकता था। सदाचार के दृष्टिकोण से जो विद्यार्थी निम्न स्तर का समझा जाता था। उसके लिए गुरुकुल में रहना निषिद्ध था। ब्रह्मचर्य का जीवन अनिवार्य था विवाहित युवक भी विद्याध्ययन करते थे; किन्तु वे आश्रम में नहीं रह-

गुरुसेवा विद्यार्थी का परम कर्त्तव्य था। आश्रमवासी विद्यार्थी सदैव गुरुसेवा परायण रहता था। वह शिष्य मनसा, वाचा, कर्मणा, गुरुभक्त रहता था। गुरु ही सर्वस्व था।

ऋग्वेद के काल में हमें वर्ण-व्यवस्था के संकेत मिलने लगे थे; किन्तु वह इतनी स्पष्ट एवं जटिल नहीं हुई थी। ज्ञान किसी वर्ण तक सीमित नहीं था वह तो व्यक्ति की साधना पर निर्भर था, अम्बरीष, त्रसदस्यु, सिन्धुद्वीप, मान्धता तथा शिवि आदि क्षत्रिय अपने अध्यवसाय से ही ऋषि परम्परा में आ सके थे। इसी काल में स्त्रियाँ भी ज्ञानार्जन पुरुषों के समान ही करती थी, वे यज्ञों में भी भाग लेती थी, स्त्री सन्तों को ऋषिका और ब्रह्मवादिनी कहकर पुकारा जाता था। रोमसा, लोपामुद्रा घोषा, अपाला, कद्रु, श्रद्धा, उर्वशी देवयानी इत्यादि ऋषिकाओं के नाम विभिन्न वेदों में मिलते हैं। ऋग्वेद में अनार्य ही शूद्र नाम के अधिकारी हैं, इन्हें भी शिक्षा उस समय दी जाती थी।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि वैदिक शिक्षा पद्धति का उद्देश्य महान् था, व्यक्ति का सर्वांगीण विकास ही इसकी आधारशिला थी, गुरु व्यक्तिगत रूप से शिष्य से परिचित रहता था, अतः दैनिक दिनचर्या के परिचय के साथ वह उसके मानसिक स्तर से भी परिचित रहता था। उसका परिणाम विद्यार्थी के सर्वांगीण विकास में होता था। जीवन के तीन ऋण—ऋषिऋण, देवऋण तथा पितृऋण जिनका उल्लेख यजुर्वेद में मिलता है—ब्रह्मचर्य, यज्ञ और सन्तानोत्पत्ति के द्वारा पूरा किया जाता था। गुरु-गृह में निवास करते हुए ब्रह्मचर्यपूर्वक शिष्य शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक पूर्णता को प्राप्त करता था। वैदिक शिक्षा-पद्धति चरित्र-निर्माण, व्यक्तित्व का विकास तथा सामाजिक अभिवृद्धि करने में पूर्ण सफल थी।

किन्तु उत्तर वैदिक काल (ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्) में हम शिक्षा के क्षेत्र में कुछ अन्तर पाते हैं किन्तु मूलाधार तत्त्व इस काल में भी वैदिक ही है। उत्तर वैदिक काल में शिक्षा केवल शिक्षा के लिए नहीं, अपितु शिक्षा जीवन के लिए थी, शिक्षा का उद्देश्य पूर्ण ब्रह्म को प्राप्त करना था यद्यपि यज्ञ और धार्मिक क्रिया-कलाप, ब्रह्मप्राप्ति के साधन थे, किन्तु इन दिनों धर्म-ग्रन्थों के अध्ययन पर बल दिया जाने लगा था। इस शिक्षा को स्वाध्याय कहा जाता था। स्वाध्याय ही ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति का एकमात्र मार्ग था।

वेदों की शिक्षा-पद्धति के समान ही इस काल में विद्यार्थियों के कुछ विशिष्ट

र्तव्य थे, एक तो विद्यार्थी इस काल में आचार्य के कुल का वासी होता था, सरे पालन-पोषण के लिये भिक्षान्न मांगकर लाता था, उसका तीसरा कर्त्तव्य गृह की पवित्र अग्नि को सदा प्रज्ज्वलित रखना था। चौथा कर्तव्य गुरु की ायों की सेवा करना था। इस प्रकार गुरुसेवा इस काल में भी प्रधान स्थान ो लिए हुई थी; किन्तु सम्पन्न शिष्य गुरुदक्षिणा भी इस काल में देने लगे थे। शिक्षा वेद के अध्ययन से प्रारम्भ होती थी, अक्षर, शब्द, उच्चारण-छन्द तथा प्रारम्भिक व्याकरण का ज्ञान भी पूरी तरह से इस काल में कराया जाता था। उच्चारण की शुद्धता पर विशेष ध्यान दिया जाता था। शिक्षा के पूर्ण हो जाने पर गुरु उपदेश देकर शिष्य को गृहस्थ धर्म में प्रविष्ट होने की अनुमति दे देता था। यही आज का दीक्षान्त भाषण उस काल में 'समावर्त्तन' संस्कार के रूप में प्रतिष्ठित था किन्तु इन दोनों दीक्षान्त भाषण तथा समावर्तन संस्कार की क्रियाओं में पर्याप्त अन्तर है।

वैदिक शिक्षा पद्धति में जहाँ गुरु की प्रधानता थी, वहाँ इस काल की शिक्षा में शिष्य की प्रधानता हो जाती है। गुरु-शिष्य परस्पर प्रश्नोत्तर करते हुए ज्ञानार्जन करते थे। यद्यपि लेखनकला का विकास हो रहा था किन्तु शिक्षा का प्रमुख साधन वाणी ही थी। इस काल की शिक्षा में तर्क, चिन्तन, मनन को पूर्ण प्रतिष्ठा हो जाती है।

इस काल की शिक्षा के सिद्धान्तों का संक्षेप में परिचय हम इस प्रकार प्राप्त कर सकते हैं—

इस काल की शिक्षा विद्यार्थी को पूर्ण जीवन के लिए निर्मित करती थी। शिक्षा प्रणाली केवल पुस्तकीय नहीं थी अपितु वह भावी जीवन संघर्ष के लिए व्यावहारिक ज्ञान दान देती थी। शिक्षा के अधिकारी व्यक्ति ही रुचि एवं योग्यतानुसार शिक्षित किये जाते थे। उपनयन संस्कार सभी के लिए अनिवार्य था। तीन ऋणों से मुक्त होने के लिए शिक्षा एक आवश्यक तत्त्व था। अतः शिक्षा प्रत्येक के लिए स्वतः अनिवार्य हो जाती थी। ब्रह्मचर्य एवं तपस्या इस काल का एक परम अनिवार्य उपकरण था। इस काल में शिक्षा पाँच और आठ वर्ष के बालक की अनिवार्यतः प्रारम्भ कर दी जाती थी। इस काल की शिक्षा-पद्धति में हम व्यावहारिक मनोविज्ञान को प्राप्त करते हैं। विद्यार्थी को शारीरिक दण्ड नहीं दिया जाता था। उसे अन्य उपायों से शिक्षा दी जाती थी

हाँ, यदि कभी शारीरिक दण्ड दिया जाता था तो वह अन्तिम उपाय के रू
ही गुरुकुलों में गुरु और शिष्य का सीधा सम्पर्क रहता था, इसलिए गुरु-शि
दोनों ही एक दूसरे से पूर्णतः परिचित रहते थे। इस स्थिति में गुरु को बाल
की शक्तियों और मस्तिष्क के अध्ययन का भी पर्याप्त अवसर रहता था। गु
भी अपनी शक्ति के अनुसार शिष्य को विद्यादान देकर समाज में अपनी प्रतिष्
बनाये रखता था।

संक्षेप में यदि कहा जाय कि वैदिक शिक्षा पद्धति युगानुरूप पूर्ण एवं महत्
थी, सर्वाङ्गीण विकास में सक्षम थी तो अनुपयुक्त न होगा।